प्राक्कथन

●

डा० गुलाबराय एम० ए०

लिखित साहित्य के स्रोतों में निरीक्षण और मनन के साथ लोकवार्ता का प्रमुख स्थान है। लोकवार्ता-साहित्य अलिखित रहकर जन जीवन में अधिक व्याप्त रहता है। कवि भी, जन-जीवन का अंग होने के कारण लोकवार्ता से अनुप्राणित होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'नानापुराण निगमागम' के साथ 'क्वचिदन्यतोऽपि को भी स्थान दिया है। 'क्वचिन्यतोऽपि' का अधिकांश भाग जनश्रुति और लोकवार्ता ही होगा!

श्री चन्द्रभान ने अपनी इस 'रामचरित मानस में लोकवार्ता' शीर्षक पुस्तक में जो कि उन्होंने एम० ए० परीक्षा के लिए 'प्रबन्ध' (Thesis) के रूप में लिखी थी, लोकवार्ता के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक महत्व पर प्रकाश डालने के साथ यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि रामचरित मानस में शास्त्रीय तत्व की अपेक्षा लोकतत्व की प्रधानता है। यह बात 'मानस' की लोकप्रियता का एक कारण अवश्य है कि उसमें लोकतत्वों का प्राचुर्य होने से जन हृदय का साधारणीकरण सहज में हो जाता है किन्तु तुलसी के निगमागम का शास्त्रीय आधार भी उतने ही महत्व का है। इसीलिए वह पंडितवर्ग और जन साधारण को समान रूप से प्रभावित करता है।

तुलसी के शास्त्रीय पक्ष का तो प्रचुर मात्रा में विवेचन हुआ है। किन्तु उसका उतना ही महत्वपूर्ण लोकवार्ता तत्व अब तक उपेक्षित ही रहा है। श्री चन्द्रभान ने इस अंग का गम्भीर विवेचन कर एक बड़ी कमी की पूर्ति की है। मेरा विश्वास है कि चन्द्रभान जी के इस प्रयास से 'मानस' के अध्ययन को एक नई दिशा मिलेगी और लोकवार्ता का भी महत्व बढ़ेगा।

मुझे आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी जगत में समुचित आदर प्राप्त करेगी।

कार्तिक पूर्णिमा, सं० २०१२

—गुलाबराय

आभार : निवेदन

यह मेरी प्रथम पुस्तक है। इसके सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना।

इसकी रूपरेखा डा० सत्येन्द्र ने बनाई। इसके लिए तो मैं उनका आभारी हूँ। पर मुझे लगता है कि पुस्तक-योजना में दृष्टि की जो ऊँचाई थी वह पुस्तक विस्तार में नहीं आ पाई है। यह मेरा दोष है। इसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी भी हूँ।

डा० भगीरथ मिश्र [रीडर, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्व विद्यालय] ने पुस्तक-लेखन में पथ प्रदर्शन दिया : त्रुटि निर्देश किया और समय-समय पर मूल्यवान सुझाव देकर कठिनाइयों से पार होने में मुझे सहयोग दिया। मैं उनके सुझावों को पूर्णतः पालन कर पाया हूँ, इसमें सन्देह है। मैं कृतज्ञ हूँ क्षमा प्रार्थी हूँ।

डा० दीनदयालु गुप्त [अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय] का मेरे ऊपर वरद् हस्त रहा : उनसे सुझाव भी मिलते रहे और आशीर्वाद भी। मैंने विद्यार्थी के रूप में उनसे बहुत कुछ सीखा। उनका मैं ऋणी हूँ। बाबूजी [बा० गुलाबराय] ने प्राक्कथन लिखा। उनकी विशेष कृपा मुझ पर रहती रही है। मैं कृतज्ञ हूँ। मेरे मित्र, रामकुमार खंडेलवाल [प्राध्यापक, उस्मानियाँ विश्वविद्यालय, हैदराबाद] मुझे बढ़ावा देते रहे . पुस्तक के अंशों को सुनते रहे, कुछ कहते भी रहे . वह बताते रहे जो मेरे काम का था। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन तो एक प्रदर्शन ही समझा जायगा, पर उनके प्रेम से मुझे बल मिला है, यह मैं स्वीकार करता हूँ।

इसके अतिरिक्त अनेक विद्वान् लेखकों के अध्ययन और सिद्धान्तों का उपयोग भी कहीं-कहीं हुआ है। मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

इन शब्दों के साथ, पुस्तक पाठकों की सेवा में समर्पित है।

राधाष्टमी, २०१२ —लेखक

समर्पण—

गुरुदेव
डा० सत्येन्द्र को
जिन्होंने मेरे जीवन की दिशा बदली :
जिनसे मुझे लोकवार्ता की दृष्टि मिली।

—चन्द्रभान

अनुक्रमणिका

स्वरूप-दर्शन (Subjectivity) पर अधिक केन्द्रित रही। कृतियों के ध्यास अध्यात्म और रहस्य का एक तानाबाना पूर कर, मनोवैज्ञानिक आधार ानवीय कुंठा और दुर्दमनीय ऐषणाओं को कलात्मक स्फूर्ति के मूल में ठ मान कर विचार किया गया। मनोवैज्ञानिक अध्ययन हिन्दी में परिपक्व हो पाया है। फ्रायड और एडलर की खोजों का कच्चा और दोषपूर्ण उपयोग इसमें अधिक मिलता है।

इस प्रकार के आधुनिक ढंग के अध्ययन के तत्वों के प्रति एक शिकायत धारणतः सुनी जाती है कि प्राचीन साहित्य तथा कला का अध्ययन इन सूत्रों सहारे करना उनके साथ अन्याय है। एक ओर वह अध्येता वर्ग है जो चीन साहित्य और कलासम्बन्धी मान्यताओं और सिद्धान्तों के प्रति असहिष्णु उठा है। इस प्रकार प्राचीन और नवीन कला अलग-अलग कठघरों में बन्द जाती है। प्राचीन साहित्य जैसे अब उन्हीं की वस्तु रह गया है जिन्हें चीन साहित्य में धार्मिक आस्था है। एक ओर प्राचीनता की ओर हमें यह लिगामी दृष्टिकोण दीखता है। वस्तुतः यथार्थ सत्य 'नवीन' और 'प्राचीन' ी इस प्रतियोगिता में नहीं है। वह इन दोनों के सम्बन्ध को समझने में है। यही कारण है कि दूसरी ओर हमें कुछ मनीषी ऐसा कहते दीखते हैं "नवीन और प्राचीन में एक नैरन्तर्य एक शृङ्खला, एक परम्परा बनी रहती है।" ×

इस दृष्टिकोण में ऐतिहासिक वस्तु-विकास के तत्व प्रमुख हो उठते हैं। इसी शैली को हम ऐतिहासिक विकास मूलक अध्ययन शैली कहते हैं। 'शोध' का रूप इसी शैली में निखरता और पुष्ट होता है।

विकास गर्भित अध्ययन शैली:—

प्रत्येक समाज और संस्कृति की एक ऐतिहासिक परम्परा होती है। नैरन्तर्य का अर्थ यह है कि प्रत्येक विदा होता हुआ युग आगे की युग-चेतना का बीज लोक के उर्वर अन्तःक्षेत्र में बो जाता है। अनुकूल परिस्थितियों में वह पल्लवित होता है। प्राचीन प्रतीक, गाथाएँ, अवदान, अंधविश्वास आदि अपना

× आचार्य नरेन्द्र देव, "प्रगतिशील" साहित्य, जनवाणी, अक्टूबर १९४८।

दूसरे प्रकार के समन्वयवादी पुरातथ-स्रोतोन्मुख समन्वयवादी होते हैं। वे प्राचीनता का आरोप यह कह कर करते हैं कि आज के युग की समस्त स्फूर्ति तथा उन्मेष हमें प्राचीनों में मिल जाता है। वे आधुनिक युग की समस्याओं और प्रश्नों को सीधे रूप में नहीं लेते। पहले उनको प्राचीन युगों में खोजते हैं, फिर उन युगों की 'वाणी' की आधुनिक प्रकाश में व्याख्या करते हैं। इस पुरातथस्रोतोन्मुख प्रवृत्ति को समाजवादी प्रगतिशील विचार-प्रतिक्रिया विवर्त समझेगा। उसकी दृष्टि में यह युग की आवश्यकताओं से पला करके युग युग के मूल्यों के स्वर्णिम आवरण में मुँह छिपाने के अतिरि कुछ नहीं! मय परिवर्तन जन्य जटिलताओं के ऊपर एक ही अपरिवर्तनीय सत् का आरोप है।

मानव जीवन प्रगतिशील है तब उसके मूल्यों के सम्बन्ध में परिवर्तन की अमान्यता क्यों? एक विचारक* के शब्द इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं.—"हिन्दी में एक दल ऐसे समन्वयवादियों और सामञ्जस्य के हिमायतियों का है जो साहित्य के मूल उद्देश्य और कर्म के साथ ही समझौता करना चाहता है।

जहाँ तक साहित्य के भिन्न भिन्न गौण अंगों का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो यह समन्वय और सन्तुलन की बात समझ में आती है, परन्तु साहित्य के मूल हेतु या समस्त विरोधाभासों से परे प्रत्यक्ष ज्वलन्त और युग-युग व्यापी लोक स्वीकृत आदर्शों के साथ ही जब समझौता किया जाता है तो स्पष्ट ही मानवता की वैषम्य और वैपरीत्य से भरी हुई जटिल समस्याओं से मुख मोड़ भागने की चेष्टा नज़र आती है।

यह दृष्टिकोण एक प्रगतिवादी का है। समन्वय और समझौता में उ विश्वास नहीं। उसके समक्ष मानव के आर्थिक और भौतिक संघर्षों की कटुता है। इस दृष्टि में समष्टि का भौतिक-स्थूल पक्ष प्रबल है। फलत, प्रगतिशील की दृष्टि में आर्थिक मूल्य मान्यता प्राप्त करते हैं।

आधुनिक युग में इन्हीं सत्यों को लेकर आलोचक कला-कृतियों की समीक्षा करता है। छायावादी युग में आलोचक और रचयिता की

* शुक्ल, साहित्य में प्रगतिवाद, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० ६६

र समाज विज्ञानी सांस्कृतिक विकास की लुप्त कड़ियों की खोज में चल
य पड़ा है। यही तो मूल्य की संक्रान्ति का परिणाम है—यह विज्ञान ने
ा है।

भाज के मनीषी और समीक्षक के सम्मुख विज्ञान* ने अनेक शक्तियाँ खड़ी
दी हैं। साहित्य समीक्षक सोचता है कि इन नई शक्तियों के मूल में अन्तर्हित
यों को अपनाकर अपनी कसौटी का निर्माण करे अथवा 'प्राचीन' में बिखरे
ों को बटोरे, या कि प्राचीन नवीन का समन्वय कर दे। आधुनिक दृष्टिकोण
तिक है, प्राचीन दृष्टिकोण आध्यात्मिकता पर अधिक केन्द्रित है। इस
यह संघर्ष के दो छोरों के बीच में समन्वयवादी की एक प्रणाली है। इसका
र कुछ ऐसा होता है "प्राचीन के गर्भ से ही नवीन का सृजन करने वाली
क्तियाँ जन्म लेती हैं। समाज को अतीत और भविष्य की ओर ले जाने वाली
क्तियों में संघर्ष होता है। प्राचीन के गर्भ से निकाल कर नवीन भविष्य का
र्माण करने वाली शक्तियाँ प्रबलतर होती हैं। प्रगतिशील का समन्वय कुछ
स प्रकार का होगा, "प्रगतिशील साहित्यिक एक ऐतिहासिक सत्य को हृदयंगम
रते हुए अतीत का सर्वथा परित्याग नहीं करता; साधक तत्वों को वह चुन
ेता है, बाधक तत्वों का परित्याग करता है"......"भारत जैसे प्राचीन देश में
में नवीन संस्कृति के निर्माण की दृष्टि से अतीत के साधक एवं समर्थक तत्वों
का उपयोग करना ही चाहिये।" ×

यह एक प्रगतिशील समाजवादी का दृष्टिकोण है जिसने अतीत की शोध-
परख को आवश्यक बताकर उसमें से चुनाव करना अभिप्रेत समझा है।
इस दृष्टि का मध्य-बिन्दु मानव है। यह इतिहास प्रबुद्ध समन्वय है। इस
समन्वय के साथ सामाजिक जीवन और उसकी परम्परा के समस्त मूल्य पदमूल
रहते हैं।

---

* विज्ञान से यहाँ तात्पर्य समाज-विज्ञान से है।

*आचार्य नरेन्द्रदेव, 'प्रगतिशील साहित्य' जनवाणी, अक्टूबर १९४८

× आचार्य नरेन्द्रदेव, जनवाणी, अक्टूबर १९४८, में 'प्रगतिशील
साहित्य'।

के ऊपर जो शक्ति का अमर सहस्त्र दल विकसित है। वह मर्यादा पुरुषोत्तम की पवित्र पदरेणु से परिपूर्ण है। मानस इतिहास में महाकाव्य और महाकाव्य में इतिहास है।"*

सनातन धर्म नहीं, जन धर्म ही इसमें निहित है। केवल आर्य सभ्यता नहीं भारतीय संस्कृति का समग्र रूप इसमें झलकता है।

रामचरित मानस का अध्ययन विभिन्न प्रकार से हुआ है। सभी की उपयोगिता भी है। किन्तु मानस के काव्य को दर्शन से, दर्शन को जीवन से, जीवन को लोक से पृथक करना उचित नहीं। मानस जिस रूप में है उसकी समग्रता का विकास देखना ही उपयुक्त होगा। इसी प्रकार उसका सर्वांशतःपूर्ण अध्ययन सम्भव हो सकता है। पर ऐसे अध्ययन के लिये जितनी अध्ययन प्रणालियाँ आज प्रचलित हैं सभी का सहयोग वांछित है। पहले इन्हीं अध्ययन प्रणालियों को संक्षेप में समझ लेना चाहिये।

काव्य तथा कला की आधुनिक अध्ययन प्रणालियाँ:—

आज का युग विज्ञान का और उसके फलस्वरूप संक्रांति का है। संक्रांति मूल्यों की है। विज्ञान ने प्राचीन को धराशायी कर दिया है, नवीन को उत्तेजना दी है। "प्राचीन पर मन जमाना कठिन है, नवीन के प्रति आस्था खो सी गई है, पूर्व सोया हुआ है, पश्चिम विकसित हो गया है। ऐसी अवस्था में आज का जागरूक बुद्धिजीवी मूल्यों का परीक्षण करते हुए पूरी शक्ति से उनकी व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करे इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।"×

पर विज्ञान दृढ़ता पूर्वक आगे बढ़ता जा रहा है। इसी कारण नवीन के प्रति चाहे आस्था भले ही न हो पायी हो, आकर्षण बढ़ गया है, अध्ययन और शोध के नए वातायन खुलने लगे हैं, मानव-जीवन के बाह्यान्तर को वैज्ञानिक प्रकाश में शोधा परखा जाने लगा है। प्राचीन पर मन चाहे न जम पा रहा

---

* पल्लव की भूमिका

×डा०ःसर सीताराम का भाषण हिन्दी साहित्य परिषद मेरठ का तृतीय अधिवेशन।

हो पर समाज विज्ञानी सांस्कृतिक विकास की लुप्त कड़ियों की खोज में चल अवश्य पड़ा है। यही तो मूल्य की संक्रान्ति का परिणाम है—यह विज्ञान ने किया है।

आज के मनीषी और समीक्षक के सम्मुख विज्ञान* ने अनेक शक्तियाँ खड़ी कर दी हैं। साहित्य समीक्षक सोचता है कि इन नई शक्तियों के मूल में अन्तर्हित मूल्यों को अपनाकर अपनी कसौटी का निर्माण करे अथवा 'प्राचीन' में बिखरे स्वर्ण को बटोरे, या कि प्राचीन नवीन का समन्वय कर दे। आधुनिक दृष्टिकोण भौतिक है, प्राचीन दृष्टिकोण आध्यात्मिकता पर अधिक केन्द्रित है। इस विग्रह संघर्ष के दो छोरों के बीच में समन्वयवादी की एक प्रणाली है। उसका स्वर कुछ ऐसा होता है "प्राचीन के गर्भ से ही नवीन का सृजन करने वाली शक्तियाँ जन्म लेती हैं। समाज को अतीत और भविष्य की ओर ले जाने वाली शक्तियों में संघर्ष होता है। प्राचीन के गर्भ से निकाल कर नवीन भविष्य का निर्माण करने वाली शक्तियाँ प्रबलतर होती हैं। प्रगतिशील का समन्वय कुछ इस प्रकार का होगा, "प्रगतिशील साहित्यिक एक ऐतिहासिक सत्य को हृदयंगम करते हुए अतीत का सर्वथा परित्याग नहीं करता; साधक तत्वों को वह चुन लेता है, बाधक तत्वों का परित्याग करता है ... भारत जैसे प्राचीन देश में हमें नवीन संस्कृति के निर्माण की दृष्टि से अतीत के साधक एवं समर्थक तत्वों का उपयोग करना ही चाहिये।" ×

यह एक प्रगतिशील समाजवादी का दृष्टिकोण है जिसने अतीत की शोध-परख को आवश्यक बताकर उसमें से चुनाव करना अभिप्रेत समझा है। इस दृष्टि का मध्य-बिन्दु मानव है। यह इतिहास प्रबुद्ध समन्वय है। इस समन्वय के साथ सामाजिक जीवन और उसकी परम्परा के समस्त मूल्य बद्धमूल रहते हैं।

---

* विज्ञान से यहाँ तात्पर्य समाज-विज्ञान से है।

*आचार्य नरेन्द्रदेव, 'प्रगतिशील साहित्य' जनवाणी, अक्टूबर १६४८

×आचार्य नरेन्द्रदेव, जनवाणी, अक्टूबर १६४८, में 'प्रगतिशील साहित्य'।

दूसरे प्रकार के समन्वयवादी पुरातथ-स्रोतोन्मुख समन्वयवादी होते हैं। ये प्राचीनता का आरोप यह कह कर करते हैं कि आज के युग की समस्त स्फूर्ति तथा उन्मेष हमें प्राचीनों में मिल जाता है। ये आधुनिक युग की समस्याओं और प्रश्नों को सीधे रूप में नहीं लेते। पहले उनको प्राचीन युगों में खोजते हैं, फिर उन युगों की 'वाणी' की आधुनिक प्रकाश में व्याख्या करते हैं। इस पुरातथस्रोतोन्मुख प्रवृत्ति को समाजवादी प्रगतिशील विचार-प्रतिक्रिया का विवर्त समझेगा। उसकी दृष्टि में यह युग की आवश्यकताओं से पलायन करके युग युग के मूल्यों के स्वर्णिम आवरण में मुँह छिपाने के अतिरिक्त कुछ नहीं! सब परिवर्तन जन्य जटिलताओं के ऊपर एक ही अपरिवर्तनीय सत्य का आरोप है।

मानव जीवन प्रगतिशील है तब उसके मूल्यों के सम्बन्ध में परिवर्तन की अमान्यता क्यों? एक विचारक* के शब्द इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं:—"हिन्दी में एक दल ऐसे समन्वयवादियों और सामंजस्य के हिमायतियों का है जो साहित्य के मूल उद्देश्य और कर्म के साथ ही समझौता करना चाहता है।

जहाँ तक साहित्य के भिन्न-भिन्न गौण अंगों का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो यह समन्वय और सन्तुलन की बात समझ में आती है, परन्तु साहित्य के मूल हेतु या समस्त विरोधाभासों से परे प्रत्यक्ष ज्वलंत और युग-युग व्यापी लोक स्वीकृत आदर्शों के साथ ही जब समझौता किया जाता है तो स्पष्ट ही मानवता की वैषम्य और वैपरीत्य से भरी हुई जटिल समस्याओं से मुख मोड़ भागने की चेष्टा नजर आती है।

यह दृष्टिकोण एक प्रगतिवादी का है। समन्वय और समझौता में उसे विश्वास नहीं। उसके समक्ष मानव के आर्थिक और भौतिक संघर्षों की कटुता है। इस दृष्टि में समष्टि का भौतिक स्थूल पक्ष प्रबल है। फलतः प्रगतिशील की दृष्टि में आर्थिक मूल्य मान्यता प्राप्त करते हैं।

आधुनिक युग में इन्हीं सत्यों को लेकर आलोचक कला-कृतियों की समीक्षा करता है। छायावादी युग में आलोचक और रचयिता की

* अंचल, साहित्य में प्रगतिवाद, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० ६६

दृष्टि स्वरूप-दर्शन (Subjectivity) पर अधिक केन्द्रित रही। कृतियों के आस-पास अध्यात्म और रहस्य का एक तानाबाना पूर कर, मनोवैज्ञानिक आधार से मानवीय कुंठा और दुर्दमनीय ऐषणाओं को कलात्मक स्फूर्ति के मूल में स्थित मान कर विचार किया गया। मनोवैज्ञानिक अध्ययन हिन्दी में परिपक्व नहीं हो पाया है। फ्रायड और एडलर की खोजों का कच्चा और दोषपूर्ण उपयोग ही इनमें अधिक मिलता है।

इस प्रकार के आधुनिक ढंग के अध्ययन के तत्वों के प्रति एक शिकायत साधारणतः सुनी जाती है कि प्राचीन साहित्य तथा कला का अध्ययन इन सूत्रों के सहारे करना उनके साथ अन्याय है। एक ओर वह अध्येता वर्ग है जो प्राचीन साहित्य और कलासम्बन्धी मान्यताओं और सिद्धान्तों के प्रति असहिष्णु हो उठा है। इस प्रकार प्राचीन और नवीन कला अलग अलग कठघरों में बन्द हो जाती है। प्राचीन साहित्य जैसे अब उन्हीं की वस्तु रह गया है जिन्हें प्राचीन साहित्य में धार्मिक आस्था है। एक ओर प्राचीनता की ओर हमें यह प्रतिगामी दृष्टिकोण दीखता है। वस्तुतः यथार्थ सत्य 'नवीन' और 'प्राचीन' की इस प्रतियोगिता में नहीं है। वह इन दोनों के सम्बन्ध को समझने में है। यही कारण है कि दूसरी ओर हमें कुछ मनीषी ऐसा कहते दीखते हैं "नवीन और प्राचीन में एक नैरन्तर्य एक श्रृङ्खला, एक परम्परा बनी रहती है।" ×

इस दृष्टिकोण में ऐतिहासिक वस्तु-विकास के तत्व प्रमुख हो उठते हैं। इसी शैली को हम ऐतिहासिक विकास मूलक अध्ययन शैली कहते हैं। 'शोध' का रूप इसी शैली में निखरता और पुष्ट होता है।

विकास गर्भित अध्ययन शैली:—

प्रत्येक समाज और संस्कृति की एक ऐतिहासिक परम्परा होती है। नैरन्तर्य का अर्थ यह है कि प्रत्येक विदा होता हुआ युग आगे की युग-चेतना का बीज लोक के उर्वर अन्तःक्षेत्र में बो जाता है। अनुकूल परिस्थितियों में वह पल्लवित होता है। प्राचीन प्रतीक, गाथाएँ, अवदान, अंधविश्वास आदि अपना

× आचार्य नरेन्द्र देव, "प्रगतिशील" साहित्य, जनवाणी, अक्टूबर १९४८।

अस्पष्ट सा अस्तित्व लिए रहते हैं जो लैन्तर्म का अध्ययन करने के सूत्र बन जाते हैं। अत संस्कृति के विकास-क्रम के समझने में विकास-वर्गित ऐतिहासिक अध्ययन प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है इस प्रणाली से डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अहल्या की कथा का विकास इतिहास देखा।* कामायनी की उपनायिका 'इड़ा' का विकास श्री शिवनाथ ने इसी प्रकार दिखाया। ×

इस अध्ययन प्रणाली से केवल कथा के इतिहास विकास का ही ज्ञान नहीं होता, अपितु-कथा के कौन से तत्व एक देशीय परिधि में आवद्ध न होकर किस प्रकार मानव के सर्वदेशीय इतिहास के अंग बनते हैं, किस युग की किस प्रेरणा से उसके विभिन्न अंगों का श्रृंगार सत्कार हुआ, उसमें निहित जीवन तथा कला के मूल्य मानव विकास की किस स्थिति का आभास देते हैं—आदि समस्त जिज्ञासाएँ इस प्रणाली के अध्ययन से सन्तुष्ट होती हैं। रामकथा को ही लें तो उसका विकास कई समानान्तर धाराओं में मिलेगा।

(१) रामकथा का रूपकात्मक विकास।

(२) रामकथा का साहित्यिक विकास—वाल्मीकि→अध्यात्म तथा उत्तर रामचरित।

(३) लौकिक विकास—कथा सरित्सागर, बौद्ध रामकथा→जैन रामकथा→लोक कथा के रूप में।

इस प्रकार के कठिन विकास क्रम को इसी प्रणाली से सुलझाया जा सकता है। इसीलिये विद्वानों ने इसी प्रणाली को अपनाने को कहा है। +

१९ वीं शती में इसी प्रणाली का उपयोग जाति विज्ञान, भूविज्ञान, लोक-वार्त्ता आदि की शोध में किया गया है। उस समय जिन विविध प्रणालियों का आविष्कार हुआ वे एक दूसरे की पूरक थीं। उस समय दो प्रसिद्ध विद्वान मानव विज्ञान की दो शाखाओं में दो भिन्न प्रणालियों से कार्य कर रहे थे—

* विचारधारा, पृ० ३६

× प्रतीक ७ ग्रीष्म १९४८ 'इड़ा' लेख

+ अमेरिकन जर्नल ऑव सोशियोलॉजी जिल्द XXIX, ४ १६२-१६३।

टाइलर और गॉम्मे। गॉम्मे की अध्ययन प्रणाली ऐतिहासिक अधिक थी और टाइलर की मनोवैज्ञानिक।* इस अध्ययन में संस्कृति तथा कला की परम्परा के तत्त्वों का संग्रह और उनके काल-क्रम के अनुसार तुलनात्मक विश्लेषण की दृष्टि प्रमुख रहती है। मनोविज्ञानी उन तत्त्वों का विश्लेषण करके मानव तथा समाज की मनःस्थिति के आधार पर उनके साथ प्रवृत्तियों, ऐषणाओं तथा भावावेशों का सम्बन्ध जोड़ता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक अध्ययन इस अध्ययन प्रणाली का पूरक है। ऐसे ऐतिहासिक अध्ययन को केवल पार्थिव मूर्त प्रमाणों और साक्षियों से ही सिद्ध और पुष्ट नहीं किया जा सकता। समग्र विकास के लिये मानव की संस्कृति के पार्थिव-अपार्थिव; शिष्ट-अशिष्ट, आचार तथा अभिव्यक्ति को भी समझना आज आवश्यक हो गया है। अतः मानव-विज्ञान की एक प्रणाली लोकवार्त्ता, विज्ञान का सहयोग ऐसी विकास समीक्षा के लिए अनिवार्य हो गया है।

लोकवार्त्ता के दृष्टिकोण से काव्य, कला का अध्ययन—

लोकवार्त्ता तो मानव के साथ उसके जन्म से ही संलग्न है। पर लोकवार्त्ता-विज्ञान का प्रारम्भ १६ वीं शती से माना जायगा। सन् १८४६ में डब्ल्यू० जे० थाम्स ने 'फोकलोर' शब्द का आविष्कार किया।× इसी समय 'फोकलोर सोसाइटी' की स्थापना हुई। इस संस्था की प्रथम बैठक में ऐन्ड्रयूलैंग ने भाषण देते हुए लोकवार्त्ता को 'संस्कृति के अवशिष्टों का अध्ययन' बताया।+ संस्कृति के अवशिष्टों से तात्पर्य उन विश्वास आदि सांस्कृतिक तत्त्वों से है जो आदिम-सभ्यता के चिह्न स्वरूप आज की शिष्ट सभ्यता से चिपके रह गये हैं। अथवा वे तत्त्व जो आज भी आदिम, अविकसित जातियों में सजीव रूप से विद्यमान हैं। आगे लैंग साहब ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए बताया कि यह वह संस्कृति है जिसको 'जन' ने अपने निजी अनुभव और व्यवहार से गढ़ा है। गॉम्मे ने इस

*सोशियोलॉजी ऑव फोकलोर, मैरिट, पृ० ४-५

× जे० विन ग्रिफिथ्म, 'मैन' मई-जून १६४५ में द स्टडीज़ ऑफ 'फोकलिक', व इट्सलेचर, स्कोप, एन्ड मैथड।

+ प्रिफेस टू फोकलोर रेकार्ड, ii, vii

संस्था के प्रथम विवरण पत्र में अपनी नीति इस प्रकार घोषित की थी। लोकवार्ता के अन्तर्गत वह समस्त संस्कृति आ जाती है जो 'जन' से सम्बन्ध रखती है और जो शास्त्रीय धर्म तथा इतिहास में परिणित नहीं हो गई है और जो सदा अपने आप बढ़ती रही है। सभ्य समाज में इस संस्कृति का प्रतिनिधित्व परम्परा से चले आते हुए *अपरिमार्जित विश्वास* तथा प्रथाएं करती हैं। असभ्यों में यह संस्कृति उनके जीवन का अंग बनी होती है। इन्हीं की शोध और इन्हीं का संग्रह लोकवार्ता में होता है। टेलर ने भी इसी अवशिष्ट के अध्ययन पर जोर दिया। उनके अनुसार अवशिष्ट उन तथ्यों के समूह का नाम है जो प्रगति, प्रथा और सम्मति से बने हों और जो अपने उत्पत्ति स्थान [असभ्य अवस्था] से चल कर समाज में प्रविष्ट हो गये हैं।* अत संक्षेप में लोकवार्ता के अन्तर्गत, "पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत, समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत के सम्बन्ध में मानव स्वभाव तथा मनुष्य-कृत पदार्थों के सम्बन्ध में, भूत-प्रेतों की दुनियाँ, तथा वशीकरण, ताबीज, भाग्य शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास" आते हैं— "धर्म गाथाएँ, अवदान (legelnads), लोक-कहानियाँ, साके (ballads) गीत, किम्वदन्तियाँ, पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं।" ×

लोकवार्ता जन जीवन और संस्कृति के स्वाभाविक प्रवाह से सम्बन्धित है। वृहद्‌जन की वास्तविक अभिव्यक्ति और उसका स्वरूप लोकवार्ता में प्रतिष्ठित है। ऐसी अवस्था में क्या यह सम्भव हो सकता है कि लोकवार्ता का प्रभाव साहित्य और कला पर न पड़े? यह प्रभाव स्वाभाविक है। इस प्रभाव को हृदयंगम करने के लिये ऐसे कुछ उदाहरण 'रामचरित मानस' से दे देना होगा, जो इन तत्वों की उपस्थिति के प्रमाण हैं। रामचन्द्रजी की बरात जा रही है, तुलसी लोक संस्कृति की योजना में लगे हैं—

---

* प्रिमिटिव कल्चर, प्रथम संस्करण, (१८७१) पृ० ५-१५।

× डा० सत्येन्द्र, 'व्रज लोक साहित्य का अध्ययन', पृ० ४। और दे० 'बर्न' की 'हैण्डबुक' ऑफ फोकलोर।

चारा चापु बामदिसि लेई, मनहुँ सकल मंगल कहि देई।
दाहिन काग सुखेत सुहावा, नकुल दरस सब काहू पावा।
सानुकूल बह त्रिविध बयारी, सघट सबाल आव बरनारी।
लोवा फिरि-फिरि दरसु दिखावा, सुरमी सनमुख सिसुहि पिआवा।
मृगमाला फिर दाहिनि आई, मंगल गन जनु दीन्हि दिखाई।+

इस प्रकार के पशु और पक्षियों की मंगल सूचक स्थिति तथा शकुनों की जैसा रामचरित मानस जैसे काव्य में भी आदिम संस्कृति के अवशेष ही हैं। इन्हीं विश्वासों को अवशिष्ट कहते हैं। इन अवशिष्टों ने मानव के आदिम मानस -आनन्दोपकरणों को प्रतीक रूप में प्रस्तुत कर दिया है। साथ ही शुभ, अवसरानुकूल सुभगता के लिये प्रकृति के चर-अचर यों उपस्थित होकर मानो अपनी शुभाकांक्षाएँ भेंट कर रहे हैं और उल्लास के साथ उत्साह का भाव उत्पन्न कर रहे हैं। यदि लोकवार्ता में इन पशु-पक्षियों की विशेष स्थिति न होती तो क्या कवि ऐसा वातावरण वर्तमान और भावी के सामंजस्य के साथ दे सकता था।

कला तथा काव्य के सम्बन्ध में विचार करते समय देखना यह होता है कि इन सभी लोकवार्ता तत्वों ने अभिव्यक्ति और प्रभाव में कितना—कुछ योग दिया है। काव्य के सांस्कृतिक पक्ष का अध्ययन करते समय देखना होगा कि कवि सांस्कृतिक चित्र में किन तत्वों का उपयोग करता है। इस अध्ययन को लोकवार्ता सूचक अध्ययन कहा जायगा।

इस प्रणाली से अभी कला और साहित्य का अध्ययन हिन्दी में आरम्भ नहीं हुआ। वैसे छुट-पुट प्रयत्न हुए हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी जी ने लोक-साहित्य पर बहुत कार्य किया है। कई पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं।* उन्होंने कुछ लेखों में कुछ कला-नायकों का लोक रूप दिखाने की चेष्टा की है।× डा० सत्येन्द्र का

+ बालकांड : ३०२-३०३ दोहे के बीच (गीता प्रेस का गुटका)

* 'धरती गाती है', 'चट्टान से पूछ लो' आदि।

× ना० प्र० पत्रिका, भाग ५५ (स० १९९१) पृ० ३२५ पर 'उड़िया ग्राम साहित्य में राम-चरित्र'।

बल देते हैं। इसी स्वायत्त की पूर्ति का एक मार्ग कला है। इस प्रकार इन दोनों विद्वानों के मत से कला मनुष्य की बौद्धिक पूर्णता का प्रतिनिधित्व करती है।

आधुनिक विचारक मूल-वृत्तियों को किसी न किसी रूप में कला के मूल में देखते हैं। इस विचार-पद्धति का प्रवर्तन एक प्रकार से मैकडूगल ने किया। उसके अनुसार मूल वृत्तियाँ सामूहिक रूप से कार्य करती हैं। इनमें तर्क का स्थान गौण रहता है। कुछ वृत्तियाँ चेतन के अग्रभाग में तथा कुछ पृष्ठ भाग में रहती हैं। पृष्ठ भाग में रहने वाली वृत्तियाँ कामवृत्ति, समूहवृत्ति (Gregariousuess) आत्म प्रदर्शन और स्वायत्त हैं। अग्रभाग में रहने वाली वृत्तियाँ क्रीड़ा (Play) और सृजन (coustructiveness) हैं। आगे रहने वाली वृत्तियों के मूल में पृष्ठभूमि से आने वाली प्रेरणा की रूपकात्मक अभिव्यक्ति के रहस्य छिपे हैं। अभिव्यक्ति से सम्बन्धित अग्रभागीय दोनों वृत्तियाँ मानस के स्फूर्त कोनों से जीवन, प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त करती हैं।

बचपन से ही अचेतन मस्तिष्क में प्रेम और विनाश की वृत्तियाँ बीज रूप में रहती हैं। यौन जीवन के विकास के साथ इनमें प्रौढ़ता और तीव्रता आती है। मनुष्य और पशुओं का अन्तर यहीं से आरम्भ होता है। ये प्रक्रियाएँ पशु-जीवन में नहीं पाई जातीं ये शरीर-विज्ञान की दृष्टि से उनके लिये आवश्यक नहीं हैं। यह विरोधात्मक द्वित्व प्रेम घृणा आदि कवि की कल्पना को झकझोर देते हैं। अन्ततोगत्वा ये अनेक परिवर्तनों और प्रभावों से होकर कलाकृति का रूप धारण करते हैं। जब कला के माध्यम से व्यक्तिगत भावनाओं को समाज तक प्रेषित होने की योजना खड़ी हो जाती है तब बाह्य प्रभावों पर दृष्टि जाने से अनेक कुंठाओं और दमनों का सूत्रपात होता है। अतः बहुत से भाव-तत्व इसलिए अनभिव्यक्त रह जाते हैं कि वे समाज की मर्यादा के प्रतिकूल हैं।

कुंठा से अचेतन जटिल से जटिलतर होता जाता है। पर कुण्ठित इच्छाएँ भी प्रतीकात्मक छद्मवेश धारण करके पूर्ण नहीं तो अंशतः अपनी [illegible] करती हैं। इस प्रकार कलाकृति में चेतन और अचेतन का भव्य मिश्रण [illegible] जाता है। यह एक समग्रता की दृष्टि उत्पन्न करती है। कला में यही समग्रता दृष्टि सर्वत्र दीखती है। यही दृष्टि कलात्मक आनन्द और सौन्दर्य की कुंज

है। विषमताएँ भी समन्वित होती रहती हैं। मनोविज्ञान में इस समग्रतावादी सिद्धान्त को 'फील्डथ्योरी' कहा जाता है। इसके अनुसार समस्त वातावरण के तत्व सतह के तत्व हैं। उनके अन्तर में एक धागा है जो समस्त तत्वों को एक कर रहा है - ऊपरी सतह के तत्वों का अटूट सम्बन्ध किन्हीं मौलिक तत्वों से है ×

'फील्ड थ्यारी' को 'क्लास थ्योरी' का एक विकास माना गया है। 'क्लास थ्यारी' सतह पर मिलने वाले तत्वों का वर्गीकरण करके उनमें पाए जाने वाले समान चिन्हों को लेकर, मौलिक अथवा अन्तर्मग्राहित सामान्यता तक पहुँचती थी, प्रायः सभी विज्ञानों में यह प्रणाली पहले थी। इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात अरस्तू से माना जाता है। इन दोनों में प्रधान अन्तर यह है कि 'क्लास थ्योरी' में हमें तत्वों की हलचल का निश्चय उस वर्ग के समस्त तत्वों के अध्ययन के द्वारा करते हैं। फ़ील्ड थ्योरी में उस तत्व की हलचल का अध्ययन उस समस्त वातावरण के द्वारा किया जाता है जिसका वह एक भाग है। फील्ड थ्योरी मे वातावरण के ढाँचे पर बल दिया जाता है। इस ढाँचे का अध्ययन उस ढाँचे की विशेषताओं से सम्बन्धित नियमों के द्वारा किया जाता है।

कला पर विचार करने के समय यह प्रश्न उठता है कि कृति के मूल तत्व का अध्ययन करने के पश्चात् अंग प्रत्यगों की गति का अध्ययन होना चाहिए अथवा अंग-प्रत्यगों की गति का अध्ययन करके हम कला की आत्मा तक पहुँचें, अथवा समग्रता की दृष्टि से काव्य-कृति के ढाँचे का अध्ययन किया जाय जिसमें उसकी आत्मा भी सम्मिलित है। फिर उसकी गति विधि का निरूपण किया जाय। यही समग्रता का दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त लगता है। यह समग्रता का दृष्टिकोण अनेक शताब्दियों में प्राप्त हुआ। अग्नि पुराण के "संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ

× As we have repeatedly pointed out, symptoms are surface phenomana which are related to underlying dynamic factors [Brown, Psychodynamic of Abnormal Behaviour, पृ० १३६]

उद्योग इस दिशा में अत्यन्त वैज्ञानिक और विशद् है।+ इस प्रकार का उद्योग हिन्दी साहित्य में प्रथम है। किन्तु इसमें ब्रज के ग्राम-साहित्य का ही वैज्ञानिक अध्ययन है। इतने से ही काम नहीं चल सकता। इस दृष्टि से साहित्य का भी व्यवस्थित अध्ययन होना आवश्यक है। न जाने कितनी गुत्थियाँ इस प्रकार के अध्ययन से सुलझ जायेंगी। न जाने कितनी लुप्त परम्पराएँ प्रकाश में आ जायँगी।

पर यह अध्ययन अपने आप में पूर्ण नहीं है। इसके साथ ही मनोविज्ञान तथा समाज शास्त्र के द्वारा खोजे हुए सत्यों का भी उपयोग साहित्य विवेचन में होना चाहिए। समाज शास्त्र के द्वारा वह सामाजिक प्रवृत्ति उद्घाटित हो सकती है जो किसी विशिष्ट कथा, गाथा, मान्यता तथा विश्वास को जन्म देती है। मनोविज्ञान की सहायता से तत्कालीन मानव की मन स्थिति, का विश्लेषण हो सकेगा।

कला-अध्ययन में मनोविज्ञान का योग—

मनोवैज्ञानिक शोधों ने आज संसार को चकित कर दिया है। संसार में चलने वाली प्रायः सभी विचारधाराओं और अध्ययन प्रणालियों में इसका उपयोग होता है। समाज शास्त्री समाज के मनोविश्लेषण में तथा प्रचलित मूल्यों के विवेचन में मनोविज्ञान की उपयोगिता स्वीकार करता है। व्यक्तिगत आन्तरिक हलचल का भी विधिवत् विश्लेषण मनोविज्ञान करता है।

मनोविज्ञान नाम आते ही दो विद्वानों के नाम सामने आ जाते हैं। सिग्मंड फ्रायड और डा० कार्लज़ुंग। इनमें से प्रथम मनोविश्लेषण के जन्मदाता कहे जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में फ्रायड का एक विशेष मत चला। यह बीसवीं शती का 'सर-रीअलिज़्म' अथवा अति यथार्थवाद है। इस मत का रूप यह है। सामान्य संसार की अपेक्षा विशेष सत्ता रखने वाला एक और संसार है और यह अचेतन मन में है। इस जगत में ही कलात्मक प्रेरणा का मूल कहा गया है।

+ ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन,

स मत से साहित्य का प्रत्येक अंग-उपन्यास, नाटक, कविता, आलोचना प्रभावित हुआ।

कार्लयुंग की मुख्य खोज यह है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख (इन्ट्रोवर्ट और एक्स्ट्रोवर्ट) इनमें भी मन की प्रक्रिया के रूप के अनुसार अन्तर्दर्शनयुक्त (Intuitive type) तथा विचारशील (Thinking type) भावनाशील (feeling type) और मूल प्रवृत्ति प्रधान (Instinctive type) व्यक्ति होते हैं। अचेतन के सम्बन्ध में भी जुंग ने एक गूढ़ खोज की। इन्होंने अचेतन के दो स्तर माने। पहला, वैयक्तिक अचेतन है जिसमें हमारी बाल्यकालोन कुंठाएँ हलचलित रहती हैं। दूसरा 'सामूहिक अचेतन', जिसमें वे पुरातन अनुभूतियाँ अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने सचेष्ट दीखती हैं जो सभ्यता के प्रति संस्कृत होने से पूर्व उदय हुई थीं। इस पुरातन प्रतीक-समूह को नवीन प्रतीकों ने चेतना के धरातल से नीचे दबो दिया। इन्हीं प्रतीकों को साहित्य-जगत में खोजा जा सकता है। पाश्चात्य देशों में होमर, दान्ते, गेटे की कृतियाँ, और मिल्टन और ब्लेक की कविताएँ इन्हीं कुंठित प्रतीकों से सर्जित और पोषित हैं। भारत में वेद, पुराण, महाकाव्य, तन्त्र, आगम, कथा, जातक, गाथाएँ प्रतीक पूर्ण रचनाएँ हैं। लोकवार्ता का समस्त परम्परित रूप इसी सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्ति है अथवा उस पर निर्भर है।

मनोवैज्ञानिक समालोचना की मान्यता है कि कला की प्रत्येक कृति के मूल में कुछ इच्छाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ मूलबद्ध रहती हैं। विद्वानों ने अलग-अलग मनोवृत्तियों पर बल दिया है। नीत्शे आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति को मुख्य मानता था। नीत्शे के अनुसार "कला एक मादकता, उदात्तीकृत शक्तियों की एक अनुभूति तथा एक आन्तरिक अनुरोध है जो प्रत्येक वस्तु को एक दर्पण बना देने के लिये बाध्य करती है, जिसमें कलाकार अपनी समग्रता तथा सम्पूर्णता देख सके।"* हैवलॉक ऐलिस स्वायत्त (Possession) पर अधिक

* राधाकमल मुकर्जी, सोशल फंक्शन ऑफ आर्ट, पृ० ४२ पर उद्धृत।

उद्योग इस दिशा में अत्यन्त वैज्ञानिक और विशद् है।+ इस प्रकार का उद्योग हिन्दी साहित्य में प्रथम है। किन्तु इसमें ब्रज के ग्राम-साहित्य का ही वैज्ञानिक अध्ययन है। इतने से ही काम नहीं चल सकता। इस दृष्टि से साहित्य का भी व्यवस्थित अध्ययन होना आवश्यक है। न जाने कितनी गुत्थियाँ इस प्रकार के अध्ययन से सुलझ जायेंगी। न जाने कितनी लुप्त परम्पराएँ प्रकाश में आ जायेंगी।

पर यह अध्ययन अपने आप में पूर्ण नहीं है। इसके साथ ही मनोविज्ञान तथा समाज शास्त्र के द्वारा खोजे हुए सत्यों का भी उपयोग साहित्य-विवेचन में होना चाहिए। समाज शास्त्र के द्वारा वह सामाजिक प्रवृत्ति उद्घाटित हो सकती है जो किसी विशिष्ट कथा, गाथा, मान्यता तथा विश्वास को जन्म देती है। मनोविज्ञान की सहायता से तात्कालीन मानव की मनःस्थिति, का विश्लेषण हो सकेगा।

कला-अध्ययन में मनोविज्ञान का योग—

मनोवैज्ञानिक शोधों ने आज संसार को चकित कर दिया है। संसार में चलने वाली प्रायः सभी विचारधाराओं और अध्ययन प्रणालियों में इसका उपयोग होता है। समाज शास्त्री समाज के मनोविश्लेषण में तथा प्रचलित मूल्यों के विवेचन में मनोविज्ञान की उपयोगिता स्वीकार करता है। व्यक्तिगत आन्तरिक हलचल का भी विधिवत् विश्लेषण मनोविज्ञान करता है।

मनोविज्ञान नाम आते ही दो विद्वानों के नाम सामने आ जाते हैं। सिग्मंड फ्रायड और डा० कार्लयुंग। इनमें से प्रथम मनोविश्लेषण के जन्मदाता कहे जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में फ्रायड का एक विशेष मत चला। यह बीसवीं शती का 'सर-रीयलिज़्म' अथवा अति यथार्थवाद है। इस मत का रूप यह है। सामान्य संसार की अपेक्षा विशेष सत्ता रखने वाला एक और ससार है और वह अचेतन मन में है। इस जगत में ही कलात्मक प्रेरणा का मूल कहा गया है।

+ ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन,

। विषमताएँ भी समन्वित होती रहती हैं। मनोविज्ञान में इस समग्रतावादी सिद्धान्त को 'फील्डथ्योरी' कहा जाता है। इसके अनुसार समस्त वातावरण ऊपरी सतह के तत्व हैं। उनके अन्तर में एक धागा है जो समस्त तत्वों को एक कर रहा है - ऊपरी सतह के तत्वों का अटूट सम्बन्ध किन्हीं मौलिक तत्वों से है ×

'फील्ड थ्यारी' को 'क्लास थ्योरी' का एक विकास माना गया है। 'क्लास थ्यारी' सतह पर मिलने वाले तत्वों का वर्गीकरण करके उनमें पाए जाने वाले समान चिन्हों को लेकर, मौलिक अथवा अन्तर्प्रवाहित सामान्यता तक पहुँचती थी, प्रायः सभी विज्ञानों में यह प्रणाली पहले थी। इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात अरस्तू से माना जाता है। इन दोनों में प्रधान अन्तर यह है कि 'क्लास थ्योरी' में हमें तत्वों की हलचल का निश्चय उस वर्ग के समस्त तत्वों के अध्ययन के द्वारा करते हैं। फ़ील्ड थ्योरी में उस तत्व की हलचल का अध्ययन उस समस्त वातावरण के द्वारा किया जाता है जिसका वह एक भाग है। फील्ड थ्योरी में वातावरण के ढाँचे पर बल दिया जाता है। इस ढाँचे का अध्ययन उस ढाँचे की विशेषताओं से सम्बन्धित नियमों के द्वारा किया जाता है।

कला पर विचार करने के समय यह प्रश्न उठता है कि कृति के मूल तत्व का अध्ययन करने के पश्चात् अंग-प्रत्यगों की गति का अध्ययन होना चाहिए अथवा अंग-प्रत्यगों की गति का अध्ययन करके हम कला की आत्मा तक पहुँचें, अथवा समग्रता की दृष्टि से काव्य-कृति के ढाँचे का अध्ययन किया जाय जिसमें उसकी आत्मा भी सम्मिलित है। फिर उसकी गति विधि का निरूपण किया जाय। यही समग्रता का दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त लगता है। यह समग्रता का दृष्टिकोण अनेक शताब्दियों में प्राप्त हुआ। अग्नि पुराण के "संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ

× As we have repeatedly pointed out, symptoms are surface phenomana which are related to underlying dynamic factors [Brown, Psychodynamic of Abnormal Behaviour, पृ० १३६]

चल देते हैं। इसी इच्छा की पूर्ति का एक मार्ग कला है। इस प्रकार इन दोनों विद्वानों के मत से कला मनुष्य की यौद्धिक पूर्णता का प्रतिनिधित्व करती है।

आधुनिक विचारक मूल-वृत्तियों को किसी न किसी रूप में कला के मूल में देखते हैं। इस विचार-पद्धति का प्रवर्तन एक प्रकार से मैकडूगल ने किया। उसके अनुसार मूल वृत्तियाँ सामूहिक रूप से कार्य करती हैं। इनमें तर्क का स्थान गौण रहता है। कुछ वृत्तियाँ चेतन के अग्रभाग में तथा कुछ पृष्ठ भाग में रहती हैं। पृष्ठ भाग में रहने वाली वृत्तियाँ कामवृत्ति, समूहवृत्ति (Gregariousuess) आत्म-प्रदर्शन और स्वायत्त हैं। अग्रभाग में रहने वाली वृत्तियाँ क्रीड़ा (Play) और सृजन (coustructiveness) हैं। आगे रहने वाली वृत्तियों के मूल में पृष्ठभूमि से आने वाली प्रेरणा की रूपात्मक अभिव्यक्ति के रहस्य छिपे हैं। अभिव्यक्ति से सम्बन्धित अग्रभागीय दोनों वृत्तियाँ मानस के स्फूर्त कोनों से जीवन, प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त करती हैं।

बचपन से ही अचेतन मस्तिष्क में प्रेम और विनाश की वृत्तियाँ बीज रूप में रहती हैं। यौन जीवन के विकास के साथ इनमें प्रौढ़ता और तीव्रता आती है। मनुष्य और पशुओं का अन्तर यहीं से आरम्भ होता है। ये प्रक्रियाएँ पशु-जीवन में नहीं पाई जातीं ये शरीर-विज्ञान की दृष्टि से उनके लिये आवश्यक नहीं हैं। यह विरोधात्मक द्वित्व प्रेम घृणा आदि कवि की कल्पना को झकझोर देते हैं। अन्ततोगत्वा ये अनेक परिवर्तनों और प्रभावों से होकर कलाकृति का रूप धारण करते हैं। जब कला के माध्यम से व्यक्तिगत भावनाओं को समाज तक प्रेषित होने की योजना खड़ी हो जाती है तब बाह्य प्रभावों पर दृष्टि जाने से अनेक कुंठाओं और दमनों का सूत्रपात होता है। अतः बहुत से भाव-तत्व इसलिए अनभिव्यक्त रह जाते हैं कि वे समाज की मर्यादा के प्रतिकूल हैं।

कुंठा से अचेतन जटिल से जटिलतर होता जाता है। पर कुण्ठित इच्छाएँ भी प्रतीकात्मक छद्मवेश धारण करके पूर्ण नहीं तो अंशतः अपनी अभिव्यक्ति करती हैं। इस प्रकार कलाकृति में चेतन और अचेतन का भव्य मिश्रण हो जाता है। यह एक समग्रता की दृष्टि उत्पन्न करती है। कला में यही समग्रता-दृष्टि सर्वत्र दीखती है। यही दृष्टि कलात्मक आनन्द और सौन्दर्य की कुंजी

। विषमताएँ भी समन्वित होती रहती हैं। मनोविज्ञान में इस समग्रतावादी सिद्धान्त को 'फील्डथ्योरी' कहा जाता है। इसके अनुसार समस्त वातावरण के तत्व सतह के तत्व हैं। उनके अन्तर में एक धागा है जो समस्त तत्वों को एक कर रहा है - ऊपरी सतह के तत्वों का अटूट सम्बन्ध किन्हीं मौलिक तत्त्वों से है ×

'फील्ड थ्यारी' को 'क्लास थ्योरी' का एक विकास माना गया है। 'क्लास थ्यारी' सतह पर मिलने वाले तत्वों का वर्गीकरण करके उनमें पाए जाने वाले समान चिन्हों को लेकर, मौलिक अथवा अन्तर्प्रवाहित सामान्यता तक पहुँचती थी, प्रायः सभी विज्ञानों में यह प्रणाली पहले थी। इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात अरस्तू से माना जाता है। इन दोनों में प्रधान अन्तर यह है कि 'क्लास थ्योरी' में हमें तत्वों की हलचल का निश्चय उस वर्ग के समस्त तत्वों के अध्ययन के द्वारा करते हैं। फ़ील्ड थ्योरी में उस तत्व की हलचल का अध्ययन उस समस्त वातावरण के द्वारा किया जाता है जिसका वह एक भाग है। फील्ड थ्योरी में वातावरण के ढाँचे पर बल दिया जाता है। इस ढाँचे का अध्ययन उस ढाँचे की विशेषताओं से सम्बन्धित नियमों के द्वारा किया जाता है।

कला पर विचार करने के समय यह प्रश्न उठता है कि कृति के मूल तत्व का अध्ययन करने के पश्चात् अंग-प्रत्यगों की गति का अध्ययन होना चाहिए अथवा अंग-प्रत्यगों की गति का अध्ययन करके हम कला की आत्मा तक पहुँचें, अथवा समग्रता की दृष्टि से काव्य-कृति के ढाँचे का अध्ययन किया जाय जिसमें उसकी आत्मा भी सम्मिलित है। फिर उसकी गति विधि का निरूपण किया जाय। यही समग्रता का दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त लगता है। यह समग्रता का दृष्टिकोण अनेक शताब्दियों में प्राप्त हुआ। अग्नि पुराण के "संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ

× As we have repeatedly pointed out, symptoms are surface phenomana which are related to underlying dynamic factors [Brown, Psychodynamic of Abnormal Behaviour, पृ० १३६]

और साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन आरम्भ हुआ। इतिहासवाद का जन्म हुआ। इस परम्परा के प्रधान आचार्य विको (Vico) हर्डर, तथा टेन (Taine) माने जाते हैं। अन्त में यह ऐतिहासिक प्रणाली कानून, अर्थशास्त्र तथा धर्म तक ही सीमित रह गई।

फिर विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में अर्नस्ट ग्रोसे (Ernst Grosse) का नाम आता है। इन्होंने कला का विकास आर्थिक स्थितियों के विकास के साथ-साथ देखा। आगे चल कर यही अध्ययन समाज वैज्ञानिक अध्ययन हो गया। यह अध्ययन अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। किन्तु बिल्कुल वर्तमान-काल तक यह उपेक्षित रहा। कला समाज से ही जीवन-रस लेती है और वहीं यह फली फूली है।

कला और समाज के सम्बन्ध को जोड़ने के लिये समाज वैज्ञानिक अध्येता कला की शिराओं में संचरित मूल्यों की शोध और व्याख्या करता है। कलाकृति में व्याप्त उन मूल्यों के अध्ययन से समाज की गति विधि का विकास हम देख सकते हैं तथा समाज के मूल्यों द्वारा कलाकृति का मूल्यांकन हो सकता है। राधाकमल मुकर्जी का कथन है, कला मानवीय अनुभूति और प्रेरणा की अभिव्यक्ति है। अतः सामाजिक जीवन और संस्कृति के मूल्यों तथा सर्व साधारण आदर्श रूपों से उसका ताना-बाना बुना है। * समाज-विज्ञानी कला को इस रूप में देखता है.—

(१) जो मूल्य किसी समाज की नाड़ियों में रक्त की भाँति संचरित है, उन मूल्यों को कलाकार कलात्मक बना कर समाज के सम्मुख रखता है। अतः कला उस सभ्यता-संस्कृति विशेष का प्रतिनिधित्व करती है जो जनव्यापी है, मात्र वर्गव्यापी नहीं। जब कला ऐसी जीवन गति से दूर पड़ जाती है तभी साहित्यिक क्रांति होती है।

(२) कला इन कलापुष्ट मूल्यों को समाज के प्रत्येक घर तक पहुँचाने में वाहक का काम करता है। ये वे मूल्य हैं जिनसे उस समाज में निवसित

* सोशल फ़क्शन आफ आर्ट, पृ० ३६

मनुष्यों का जीवन और नियति सम्बन्धित हैं। यही कला की प्रेषणीयता का सामाजिक महत्त्व है।

(३) कला किसी संस्कृति विशेष प्रगति की लेखा-जोखा है। इससे उस सभ्यता के जीवन और लक्ष्य का ज्ञान होता है।

इस दृष्टि से रामचरित मानस लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के मूल्यों का समन्वयकारी महाकाव्य है। इन्हीं दोनों मूल्यों में भारतीय जीवन प्रतिष्ठित है। इन्हीं का प्रतिनिधित्व 'मानस' करता है। इसीलिये जहाँ तुलसी की यह घोषणा है—

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।

वहाँ लोक तथा वेद के मूल्यों को प्रेम के आधार पर समान माना है—

लोकहुँ वेद सुसाहिब रीती
विनय सुनत पहँचानत प्रीती।*

जहाँ तक प्रेषणीयता का प्रश्न है, निस्सन्देह 'मानस' ने जन जन तक उन मूल्यों को पहुँचा दिया। याज्ञवल्क्य तथा भरद्वाज आदि ऋषि तो 'श्रोतावकता ज्ञाननिधि' थे वे राम की निगूढ़ कथा को समझ सके किन्तु 'कलिमल ग्रसित विमूढ़', साधारण जनता उस कथा को कैसे समझे। अतः उन मूल्यों को सर्व साधारण के बोध स्तर के अनुसार भाषा में बाँधा—

'भाषा बद्ध करबि मैं सोई।'

साथ ही 'मानस' में उन तक आती हुई परम्परित संस्कृति के दर्शन पा लेना कोई कठिन बात नहीं।

कला के समाज वैज्ञानिक अध्ययन में हमें कला की पृष्ठ भूमि का विश्लेषण करना होता है। पृष्ठ भूमि के वैज्ञानिक-अध्ययन में प्रायः समस्त समाजशास्त्रों की सहायता अपेक्षित होती है। हिन्दी में पृष्ठभूमि का वैज्ञानिक अध्ययन कम ही हुआ है। इस क्षेत्र में हजारीप्रसादजी द्विवेदी मुख्य हैं। द्विवेदीजी ने भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सामग्री का उपयोग किया है। भारतीय

---

* बालकांड, मंगलाचरण।

व्यवच्छिन्ना पदावली" तथा भामह के "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं" से साहित्यदर्पणकार के "वाक्य रसात्मकं काव्यं" तथा पंडितराज के "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्" तक आने में शताब्दियाँ लगी हैं। 'सहितौ' से अग्निपुराण के 'संक्षिप्त वाक्य' वाली प्रगति में समग्रता की प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ दीखता। फिर 'आत्मा' रस को मान कर समग्र रूप को काव्य कहना उचित समझा गया। आधुनिक युग में उसके मूल में निहित जीवन तत्व तक पहुँच गया है।

साहित्य में अभी इस सिद्धान्त का उपयोग कम हुआ है। संक्षेप में यही मनोवैज्ञानिक अध्ययन की रूपरेखा है। यह अध्ययन हमारे प्रस्तुत अध्ययन में सहायक होगा। रामचरित मानस के समग्र अध्ययन के लिये इसके समग्र रूप के अर्थ को समझना आवश्यक है। 'हरि अनंत हरि कथा अनंता' में राम की कथा के अनेक प्रचलित संस्कारों की ओर संकेत है। यह रामचरित स्वभावतः लोकवार्ता की वस्तु है। इसमें युग-युगीन मानव का सामूहिक अचेतन पद-पद पर अपना प्रभाव डालता गया है और संशोधन करता गया है। यह समस्त अध्ययन मानव विज्ञान की दृष्टि से प्राप्त अध्ययन प्रणाली से ही सम्भव है। इसकी योजना कुछ इस प्रकार बनती है, समाज-विज्ञान की दृष्टि से रामचरित मानस के सभी तत्वों की व्याख्या करके उसके सांस्कृतिक रूप की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा इस सबमें व्याप्त जीवन आदर्शों को प्रकाश में लाना। यह प्रणाली कुछ नवीन है। अतः समाज विज्ञान की दृष्टि से किए जाने वाले अध्ययन की रूपरेखा स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

काव्य-कला के समाज-वैज्ञानिक अध्ययन का रूपः—

प्राचीन देशों में कला का अध्ययन दार्शनिक दृष्टि से होता रहा। यूनान में अरस्तू से आज तक यह परम्परा चली आती है। भारत में दार्शनिक दृष्टि प्रधान ही और फलतः कला का अध्ययन अत्यन्त जटिल हो गया। काव्य तथा दर्शन कोई मौलिक भेद नहीं माना गया, दोनों का स्रोत एक रहा, दोनों का रूप समान रहा। एक विशेष बात यह है कि कला अथवा काव्य की व्याख्या [illegible]

एक मंत्र देखिए:—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां अविवेश।*

इस एक मंत्र की चार प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं—(१) यास्क के अनुसार यज्ञपरक (२) दूसरे मत से सूर्य परक (३) पतंजलि के मत से शब्द परक और (४) राजशेखर के अनुसार काव्य पुरुष-स्तुति परक। इस प्रकार भारत में एक ही स्रोत से दर्शन, काव्य तथा धर्म का विकास होता रहा है। भरतमुनि का यह कथन इसका उदाहरण है:—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गतिमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।×

नाटकों के तत्व चारों वेदों से आये। इसी प्रकार काव्य के अन्तर्गत आने वाले रूपकों और प्रतीकों की दार्शनिक व्याख्या होती रही है। इनकी व्याख्या नैयायिक, वैयाकरण, अलंकारवादी—सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से करते रहे। पर अन्त में सभी का दृष्टिकोण समन्वित रूप में एक हो जाता है। 'रस' तक कला समीक्षक भी पहुँचा और दार्शनिक भी, दोनों ने अन्त में एक स्वर से 'रसोवैसः' की घोषणा की। रस की उपलब्धि काव्य तथा कला का लक्ष्य है।+ यही तत्वज्ञ और साधकों का लक्ष्य है। काव्य में तथा दर्शन में 'रस' को ऐन्द्रिक सुखों से ऊपर माना गया है।

असीम सुख इन्द्रियों से परे है, फलतः बुद्धिगम्य है, इसी बुद्धिगम्य सुख की अभिव्यक्ति का साधन कला है। यह दार्शनिक कला व्याख्या किसी न किसी रूप में आज तक चली आती है। यह आदर्शवादी परम्परा है।

पाश्चात्य जगत में भी आदर्शवादी दार्शनिकों की परम्परा आज तक किसी न किसी रूप में मिलती है। कैण्ट, हेगेल, फिख्टे, शेलिंग, शॉपेनहार, बोजांके और जान ड्यूई के नाम इस परम्परा से सम्बन्धित हैं। इनके पश्चात् संस्कृति

* ऋक ४।५८।३

× नाट्य शास्त्र १।१७

+ रायकृष्णदास, कला की भारतीय परिभाषा, आधुनिक साहित्य, भाग २ पृ० १

और साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन आरम्भ हुआ। इतिहासवाद का जन्म हुआ। इस परम्परा के प्रधान आचार्य विको (Vico) हर्डर, तथा टेन (Taine) माने जाते हैं। अन्त में यह ऐतिहासिक प्रणाली कानून, अर्थशास्त्र तथा धर्म तक ही सीमित रह गई।

फिर विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में अर्न्स्ट ग्रोसे (Ernst Grosse) का नाम आता है। इन्होंने कला का विकास आर्थिक स्थितियों के विकास के साथ-साथ देखा। आगे चल कर यही अध्ययन समाज वैज्ञानिक अध्ययन हो गया। यह अध्ययन अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। किन्तु बिलकुल वर्तमान-काल तक यह उपेक्षित रहा। कला समाज से ही जीवन-रस लेती है और वहीं वह फली फूली है।

कला और समाज के सम्बन्ध को जोड़ने के लिये समाज वैज्ञानिक अध्येता कला की शिराओं में संचरित मूल्यों की शोध और व्याख्या करता है। कलाकृति में व्याप्त उन मूल्यों के अध्ययन से समाज की गति विधि का विकास हम देख सकते हैं तथा समाज के मूल्यों द्वारा कलाकृति का मूल्यांकन हो सकता है। राधाकमल मुकर्जी का कथन है, कला मानवीय अनुभूति और प्रेरणा की अभिव्यक्ति है। अतः सामाजिक जीवन और संस्कृति के मूल्यों तथा सर्व साधारण आदर्श रूपों से उसका ताना-बाना बुना है। * समाज-विज्ञानी कला को इस रूप में देखता है:—

(१) जो मूल्य किसी समाज की नाड़ियों में रक्त की भाँति संचरित है, उन मूल्यों को कलाकार कलात्मक बना कर समाज के सम्मुख रखता है। अतः कला उस-सभ्यता संस्कृति विशेष का प्रतिनिधित्व करती है जो जनव्यापी है, मात्र वर्गव्यापी नहीं। जब कला ऐसी जीवन गति से दूर पड़ जाती है तभी साहित्यिक क्रांति होती है।

(२) कला इन कलापुष्ट मूल्यों को समाज के प्रत्येक घर तक पहुँचाने में वाहक का काम करता है। ये वे मूल्य हैं जिनसे उस समाज में निवसित

* सोशल फक्शन आफ आर्ट, पृ० ३६

मनुष्यों का जीवन और नियति सम्बन्धित हैं। यही कला की प्रेषणीयता का सामाजिक महत्व है।

(३) कला किसी संस्कृति विशेष प्रगति की लेखा-जोखा है। इससे उस सभ्यता के जीवन और लक्ष्य का ज्ञान होता है।

इस दृष्टि से रामचरित मानस लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के मूल्यों का समन्वयकारी महाकाव्य है। इन्हीं दोनों मूल्यों में भारतीय जीवन प्रतिष्ठित है। इन्हीं का प्रतिनिधित्व 'मानस' करता है। इसीलिये जहाँ तुलसी की यह घोषणा है—

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।

वहाँ लोक तथा वेद के मूल्यों को प्रेम के आधार पर समान माना है—

लोकहुँ वेद सुसाहिब रीती
विनय सुनत पहँचानत प्रीती।*

जहाँ तक प्रेषणीयता का प्रश्न है, निस्सन्देह 'मानस' ने जन-जन तक उन मूल्यों को पहुँचा दिया। याज्ञवल्क्य तथा भरद्वाज आदि ऋषि तो 'श्रोतावकता ज्ञाननिधि' थे वे राम की निगूढ़ कथा को समझ सके किन्तु 'कलिमल ग्रसित विमूढ़', साधारण जनता उस कथा को कैसे समझे। अतः उन मूल्यों को सर्व साधारण के बोध स्तर के अनुसार भाषा में बाँधा—

'भाषा बद्ध करवि मैं सोई।'

साथ ही 'मानस' में उन तक आती हुई परम्परित संस्कृति के दर्शन पा लेना कोई कठिन बात नहीं।

कला के समाज वैज्ञानिक अध्ययन में हमें कला की पृष्ठ भूमि का विश्लेषण करना होता है। पृष्ठ भूमि के वैज्ञानिक-अध्ययन में प्रायः समस्त समाजशास्त्रों की सहायता अपेक्षित होती है। हिन्दी में पृष्ठभूमि का वैज्ञानिक अध्ययन कम ही हुआ है। इस क्षेत्र में हजारीप्रसादजी द्विवेदी मुख्य हैं। द्विवेदीजी ने भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सामग्री का उपयोग किया है। भारतीय

* बालकांड, मंगलाचरण।

कला-विकास में अनेक जातियों का सहयोग भी रहा है। अतः उन सभी जातिगत भावनाओं की व्याख्या भी आवश्यक रहती है। द्विवेदीजी ने इस प्रकार के विश्लेषण का भी उपयोग किया है। उनकी दृष्टि से ऐहिकता परक शृंगार-रचना तथा राधा का सम्बन्ध हूणों के साथ आई एक आभीर जाति से जोड़ा जा सकता है।× फिर भी द्विवेदीजी की पद्धति में मानव-विज्ञान, जाति विज्ञान तथा मनोविज्ञान की अधुनातम खोजों का उपयोग नहीं है।

सौन्दर्य बोध और समाज विज्ञान—

सौन्दर्य बोध से कला का घनिष्ट सम्बन्ध है। मनोविज्ञान और समाज-शास्त्रों के मिलित सहयोग से सौन्दर्य बोध की व्याख्या हो सकती है। इस प्रकार के प्रयत्न मिलते तो हैं, पर कम। ट्रेन (Traine) हर्बर्ट स्पेंसर तथा ग्रोसे आदि ने अपने अध्ययन में यह दृष्टि रखी है। भारत में कुमारस्वामी का कला-अध्ययन इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। इन विद्वानों की शैली तुलनात्मक और विकासात्मक रही है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पर जितना कार्य हुआ है, उतना तुलनात्मक कला-अध्ययन पर नहीं। इस प्रकार के अध्ययन का अभी बचपन ही है। इस अध्ययन में आदि-मानव की कलावृत्ति की एक रूपरेखा खड़ी करनी होगी जिस प्रकार भाषा विज्ञानी ने भारोपीय आर्यभाषाओं की जननी आदि भाषा का काल्पनिक रूप खड़ा कर लिया है। फिर विकसित युगों की कलावृत्तियों को समझा जायगा। आदिम कलावृत्तियों और विकसित कला-वृत्तियों के बीच की कड़ियों को टटोल कर एक अविच्छिन्न विकासक्रम स्थिर करना होगा। तब कहीं सौन्दर्य-वृत्ति और शास्त्र के विकास का अध्ययन हो सकता है इसमें मनोविज्ञान, सांस्कृतिक विज्ञान तथा इतिहास से पूर्ण सहयोग लेना पड़ेगा।

यह दायित्व एक देश की कला तक ही सीमित नहीं है। अध्येता का दायित्व है कि वह एक काल विशेष में रची हुई संसार के अन्य देशों की कलाओं के साथ तुलना करे। इस अध्ययन को ज्वलंत करने के लिये सूक्ष्मग्राह, अध्य-

× हिन्दी साहित्य की भूमिका, 'रीतिकाव्य' अध्याय।

विश्वास, प्रतीक, लोकोक्ति तथा लोककलाओं को भी दृष्टि में रख कर सौन्दर्य बोध का रहस्य खोजना आवश्यक है।

सौन्दर्य वृत्ति की काम चलाऊ रूपरेखा इस प्रकार खड़ी की जा सकती है। मानव में विनाशात्मक तथा सृजनात्मक वृत्तियों का अस्तित्व है। कला वह क्षेत्र है जहाँ मन का यह विभाजन टूट जाता है मानसिक समग्रता स्थापित हो जाती है। इन दोनों को जोड़ने वाली एक मनोवैज्ञानिक कड़ी है। यह कड़ी विनाशात्मक प्रवृत्तियों से उत्पन्न कष्ट वेदना तथा भव्य प्रवृत्तियों के प्रभाव से उत्पन्न शिवता का मिलित रूप है। एक कारण है, दूसरा कार्य सिद्धि। जिन वस्तुओं से हमारा राग होता है उनके रक्षण और वृद्धि की इच्छा हमें रहती है। इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध एक राग ग्रन्थि (लिबिडो) से है। इसी राग केन्द्र से उन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है जो कि विनाशात्मक वृत्तियों से उत्पन्न हुए अभावों को पूरा करने की ओर तत्पर रहती हैं। यही अभाव पूर्ति की वृत्ति और अनिवार्यता कला की जननी है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक रिकमैन का यह मत है। कुरूप वस्तु से मानव मस्तिष्क में एक भय उत्पन्न होता है। तब कुरूप को किसी अन्य अभिराम रूप में बदलने की इच्छा होती है। यही इच्छा कला सृजन की प्रेरणा है।* अभाव पूर्ति (compensatory instinct) की इच्छा की जब कला सृजन में परिणति हो जाती है तो मन विनाशात्मक वृत्ति जनित चिन्ताभार से मुक्त हो जाता है। सत्य, शिव तथा सुन्दरम् की स्थापना इसी मन स्थिति में सम्भव है। कला इन महान् आदर्शों के प्रकाश में जीवन की अविकलता की पुनर्स्थापना करती है। इसी समग्रता और इसी की प्रतिच्छाया सुन्दरता के शस्त्र से मानव 'कुरूपता' पर विजय प्राप्त करता है।

कला कुरूपता की हार और सुन्दरता की विजय का स्मारक है। यह सुन्दरम् का धागा समस्त विरोधी तत्वों को मैत्री में बाँध देता है। इस प्रकार मनुष्य के मन को अविभाज्य रखने का कार्य कला करती है। अविभाजन में ही उसकी शक्ति और शान्ति है। "यदि मनुष्य का मानसिक जीवन दो भागों में

---

* 'नेचर आफ अगलीनेस एन्ड क्रिएटिव इम्पल्सेज़'—द इन्टरनेशनल जर्नल आफ साइको एनलाइसिस, जिल्द २१, २६४

(सृजनात्मक तथा विनाशात्मक) बटा हुआ नहीं होता और उस विभाजन से उसके मन में अशान्ति न भर गई होती, तो सम्भवतः वह कला का सृजन नहीं करता, क्योंकि कला ही उसके जीवन को अविभाज्य बना सकती है।* मनोविज्ञान की दृष्टि में यही सुन्दरता और कला का सम्बन्ध है। यही सौन्दर्यैषणा है।

'उषा-सूक्त' के पीछे यही ताना-बाना है। अन्धकार पर उषा की विजय देखकर तथा और बलवान सूर्य के दर्शन करके मंत्र द्रष्टा कह उठा था—

'सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां'
मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।×

सूर्य देवी उषा के पीछे इस प्रकार जाता है जैसे कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के पीछे जाता है। प्रकृति के इन दो सुखद, सुन्दर द्युतिमान स्वरूपों को देखने के पश्चात् उस कवि ने अन्धकार से संसार को आच्छन्न होते देखा। उसको यह अनुभूति हुई कि यह अन्धकार वर्षों और सुन्दर प्रभातों का भक्षण कर जाता है। इन्द्र (सूर्य) उन्हें इससे फिर मुक्त करता है।+

इस प्रकार कला ने अन्धकार का नाश कर लिया। तज्जनित भय का मोचन हो गया; 'इन्द्र की विजय' में उल्लास का जयघोष हुआ। फिर देवत्व और असुरत्व की रूपरेखा खड़ी हुई। यह प्राकृतिक व्यापार अब कथा बनने लगा। उषा सरमा हुई। अन्धकार की अधिष्ठात्री 'पणिस' का रूपधारण करके आई जो सरमा को फुसला लेना चाहती थी। सूर्य इन्द्र बना। उसने वृत्र नाम के 'अहि' (सर्पों कैसे आकार वाले बादलों) को नष्ट किया। सृष्टि को जल मिला। वृत्र के मरणोपरान्त सरमा प्रत्यक्ष हुई।ऽ इन्द्र का साथ देने से अग्नि भी देवता बना। पणिसि भी इन्द्र के बाण से मारी गई। अग्नि के सम्बन्ध में कल्पना हुई यह कभी सोता नहीं, वह सब की कठिनाइयों से बचा कर ले जाता है। —

* राधाकमल मुकर्जी, सोशल फंक्शन आफ आर्ट, पृ० ४४-४५
× ऋग्वेद १।११५
+ ऋ० ४।२।६
ऽ ऋ० ५।२।६

(सृजनात्मक तथा विनाशात्मक) बटा हुआ नहीं होता और उस विभाजन उसके मन में अशान्ति न भर गई होती, तो सम्भवतः वह कला का सृजन करता, क्योंकि कला ही उसके जीवन को अविभाज्य बना सकती है।* म विज्ञान की दृष्टि में यही सुन्दरता और कला का सम्बन्ध है। यही सौन्द पाया है।

'उषा-सूक्त' के पीछे यही ताना-बाना है। अन्धकार पर उषा की वि देखकर तथा और बलवान सूर्य के दर्शन करके मंत्र द्रष्टा कह उठा था—

'सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां'
मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।×

सूर्य देवी उषा के पीछे इस प्रकार जाता है जैसे कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के पीछे जाता है। प्रकृति के इन दो सुखद, सुन्दर व विलास स्वरूपों को देखने के पश्चात् उस कवि ने अन्धकार से संसार को आच्छन्न होते देखा। उसको यह अनुभूति हुई कि यह अन्धकार वर्षों और सुन्दर प्रभातों का भक्षण कर जाता है। इन्द्र (सूर्य) उन्हें इससे फिर मुक्त करता है।+

इस प्रकार कला ने अन्धकार का नाश कर लिया। तज्जनित भय का मोचन हो गया; 'इन्द्र की विजय' में उल्लास का जयघोष हुआ। फिर देवत्व और असुरत्व की रूपरेखा खड़ी हुई। यह प्राकृतिक व्यापार अब कथा बनने लगा। उषा सरमा हुई। अन्धकार की अधिष्ठात्री 'पणिस' का रूपधारण करके आई जो सरमा को फुसला लेना चाहती थी। सूर्य इन्द्र बना। उसने वृत्र नाम के 'अहि' (सर्पों कैसे आकार वाले बादलों) को नष्ट किया। सृष्टि को जल मिला। वृत्र के मरणोपरान्त सरमा प्रत्यक्ष हुई।⟮S⟯ इन्द्र का साथ देने से अग्नि भी देवता बना। पणिसि भी इन्द्र के वाण से मारी गई। अग्नि के सम्बन्ध में कल्पना हुई वह कभी सोता नहीं, वह सब की कठिनाइयों से बचा कर ले जाता है।

* राधाकमल मुकर्जी, सोशल फंक्शन आफ आर्ट, पृ० ४४-४५
× ऋग्वेद १।११५
+ ऋ० ४।२।६
S ऋ० ५।२।६

उपकरणों के जुटाने की प्रवृत्ति का मूल ढूँढा जा सकता है। इस प्रव
बाह्य रूपात्मक सौन्दर्य से ऐन्द्रिक तुष्टि तथा जीवन के किसी सत्य व
दृश्यात्मक भाषा द्वारा अभिव्यक्त होते देखकर मानसिक आनन्द प्राप्त होता
इनके आविष्कार के लिये प्रयत्न लाघव तथा अभिव्यक्ति की दुर्दमनीय आ
उत्तरदायी हैं।

आगे की स्थिति में उक्त दृश्यात्मक आनुष्ठानिक प्रतीक श्रव्य होने लगे।
रूप से बसी हुई जाति दृश्यात्मक प्रतीकों की संयोजना करती थी,
प्रतीक घुमंतुओं की निधि थी। इस प्रकार के भारतीय श्रव्य प्रतीक 'वेद
हैं तथा दृश्य प्रतीक 'यंत्र-तंत्र'। ये केवल मूर्त ही नहीं होते थे, किन्हीं
के आनुष्ठानिक समूह भी प्रतीक थे। 'मंत्र'-प्रतीक श्रव्य होते हुए भी
ऋषि के अतर्चक्षुओं के सम्मुख प्रत्यक्ष थे। अतः ऋषि 'मंत्र द्रष्टा' था। मं
उच्चारण के साथ कुछ शारीरिक क्रियाएँ भी सम्मिलित थीं। ये शा
क्रियाएँ एक लयात्मक रूप गृहण करती हैं, अंग विन्यास एक नियम के
होता है। इन शारीरिक क्रियाओं का ध्येय प्रतीक के अन्तर में निहित अ
सुस्पष्ट कर देना होता था।

बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के साथ उन प्रतीकों की व
तथा रूप-विश्लेषण अनेक दृष्टियों से होने लगा। इस व्याख
फलस्वरूप कला और प्रतीक अलग-अलग हो जाते हैं। कला अ
से स्वतन्त्र भी सत्ता प्राप्त करती है। कला उन नृत्य, संगीत
आदि के रूप में प्रतिष्ठित होने लगती है जो कभी आनुष्ठानिक सं
अंग थे। बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म तथा प्रोटेस्टेन्ट ईसाई धर्म का प्रभाव
ऐसा ही पड़ा। इन धर्मों ने प्रतीक रूप में चले आते हुए अनुष्ठानों को
विश्वास बताया। जीवन में कला के महत्व को तिरस्कृत किया गया।
कला अलग ही मार्ग प्रशस्त करने लगी। मनुष्य के परिपक्व मस्तिष्क में
और धर्म पृथक् हो गये। कला ने धर्म से विच्छिन्न होकर मूर्तियों, चित्र
गाथाओं से सम्बन्ध जोड़ा।

किन्तु कला को एक अन्त" के

तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों से जीवन के सूक्ष्म तंतु ग्रहण करने लगी। की अभिव्यक्ति के लिये मूर्ति, मन्दिर तथा पारिवारिक वेदियाँ बनीं। कला रहस्य के क्षेत्र में सूक्ष्म को स्थूल रूप में व्यक्त करने वाले अधिक समर्थ प्रतीक दिए। इस रहस्य क्षेत्र में व्याप्त होकर कला ने मनुष्य के समग्र जीवन सम्बन्ध स्थापित किया। इन नवीन आविष्कृत प्रतीकों में अपनी भावनाओं प्राण भर कर 'देवस्तुति' में उनका प्रयोग करने लगा। मंत्र द्रष्टा ने सूर्य के प्रति कृतज्ञता इस प्रकार प्रकट की:—

'दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मे वाधुस्तमो' ॥*

सूर्य की बलवती तथा प्रकम्पित किरणों ने अंधकार को पानी में धकेल दिया जैसे कोई चमड़े का टुकड़ा फेंक दिया जाय। आदि युग में कविता या तो किसी देव विशेष की प्रशंसा में लिखी जाती थी अथवा कृतज्ञता ज्ञापन में। ऐसी काव्य कृतियों का धार्मिक अथवा आनुष्ठानिक महत्व होता है।

उक्त दृश्य प्रतीकों से मूर्ति, चित्र आदि दृश्य-कला-रूपों का विकास होता है। श्रव्य प्रतीकों से भाषा बद्ध कलाओं का जन्म होता है। साथ ही अनुष्ठान तथा व्रतों के साथ एक विशेष प्रकार की अंगभंगियों का सम्बन्ध रहता था। अंग चालन भावों का संगी होता है। इस अंग-चालन से नृत्य, नाटक, रास आदि का विकास हुआ। आज की अन्वेषित सभी असभ्य जातियों में उत्सव के समय नाचने-थिरकने की क्रिया पाई जाती है। इन अंगचालनों के सम्बन्ध में प्राचीनों के बड़े विचित्र विश्वास थे—"नृत्य से वर्षा होती है, लयात्मक हस्त संचालन तथा हस्त मुद्राओं से मानवेतर शक्ति अपने भक्त की सहायता के लिये बुलाई जा सकती है।"+

---

* ऋक्. ४।१३।४

+ "Just as dancing foot compel rainfall, rhythmical movements and gestures of the hands are powerful to bring supernatural forces in the aid of the devotee or worshipper." R. K. Mukerjee, Social Function of Art, P. 262.

व्यक्तिगत नृत्य से भी अधिक सामूहिक नृत्य का महत्व था। करताल के साथ समाज के सभी जन इस नृत्य में भाग लेते थे। विश्वास था कि इस प्रकार के नृत्यों से स्वान्तर तथा देवता में भी भावावेश जगाया जा सकता है इन नृत्यों में दैनिक रूढ़ गति कुछ काल के लिये रुक जाती थी और एक भावावेश सबके मन में तरंगित होकर जीवन, समग्रता के धरातल पर स्थित हो जाता था। वस्तुत जीवन के ऐसे ही क्षण कला के जन्म के होते हैं। आनन्द की सृष्टि और उपलब्धि इन्हीं क्षणों में होती है। यहीं कला और जीवन पर्याय होते दीखते हैं।

कला-मूल्यों का विकास—

कुछ ऐसी रूपरेखा कला विकास की बनती है, जब हम समाजशास्त्र की दृष्टि से उसका अध्ययन करते हैं। किन्तु समाज का निर्माण, विधान तथा उसकी शक्ति, कला में कुछ मूल्यों की स्थापना करते हैं। कुछ मूल्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में ही रहते हैं, कुछ का विकसित रूप सामने आता है। समाज के मूल्य भी बनते बिगड़ते रहते हैं। पर सभी मूल्य मनुष्य की कठोर और कोमल भावग्रन्थियों पर केन्द्रित रहते हैं। नीत्शे का मत था कि ईसाई धर्म की नम्रता, कोमलता, अहिंसा, आदि गुण 'दास-गुण' हैं। यह मूल्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में न रह कर कृत्रिम हो गये हैं अथवा इनको यत्नपूर्वक ऐसा बनाया गया है। प्रकृति ने मानव को उसके शरीर की रक्षा और स्थिति के लिए कुछ आन्तरिक क्रियाएँ प्रदान की थीं। इन क्रियाओं ने प्रकृति को धोखा दिया और भाग निकलीं। इन्हीं क्रियाओं का आदर्शमय रूप नम्रता और कोमलता है। +

इस प्रकार की मान्यताओं ने अध्येताओं को प्रेरणा दी कि वे आदि मानव की मूल प्रवृत्तियों के विरूपों की खोज करें। प्रजातन्त्र की जननी "कोमल भावनाओं का तिरस्कार एक बहुत बड़ी झकझोर थी। कला के रागात्मक आधार को एक बड़ी ठेस लगी। आदिम जातियों की खोज हुई। ऐस्कीमो जाति आज भी पाषाण-युग का प्रतिनिधित्व करती है। स्टीफेंसन ने उनके साथ कुछ समय

+ Personal Idealism में पृष्ठ २६२ पर "Origin and Validity of Ethics" लेख।

रहकर निष्कर्ष निकाला, "वे हमारी जाति के सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों के ही समान हैं—सत्कार में, दयालुता में, तथा अन्य महत्वपूर्ण गुणों में।" + इससे कठोरता वादी सिद्धान्त तिलमिला उठा।

इन कठोर भावनाओं पर आधारित जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में एक और बात कही जाती है। मनुष्य बलवान होने की इच्छा रखता है। यह बल दूसरों (दुर्बलों) पर राज्य करने में उपयोगी होता है। अत मनुष्य म प्राकृतिक रूप से कठोर भावनाएँ मूलबद्ध हैं। इस तर्क के खण्डन के लिए भी खोज आरम्भ हुई। मैडागास्कर में जब कोई राजा गद्दी पर बैठता था तब वह तीन बार यह घोषणा करता था—"क्या मुझ में शक्ति है?" इसका एकत्रित प्रजा उत्तर देती थी, "आप में शक्ति है" × वहाँ हैसीना (Hasina) शब्द का प्रयोग होता था जिसका अर्थ था 'आत्मिक शक्ति।' अत आदि मानव का बलवान होने की इच्छा का यह अर्थ नहीं कि बल का उपयोग केवल दूसरों पर आधिपत्य करना था। वह बल आत्मानुशासन और सेवा-कार्य में भी लगाया जा सकता है। दानवीय शक्तियों के दमन में भी उसका उपयोग है। नीत्शे का विचार एकांगी था। वस्तुत मनुष्य में कोमल भावनाओं पर आधारित मूल्य भी उतने ही बलवान होते हैं जितने कठोर भावनाओं पर आधारित मूल्य। कला समन्वय क्षेत्र है। यहाँ कठोरता भी द्रवित होकर कोमल बन सकती है। कोमलता भी समय पर वज्र कठोर हो सकती है। मानव जीवन में दोनों का महत्व है।

कला और जीवन के मूल्यों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। समाज की प्रगति के अनुसार मूल्यों का रूप परिवर्तन होता रहता है। रूप-परिवर्तन दो प्रकार का होता है—

+ They are the equals of the best of our own race in good breeding, Kindness and substantial virtues [My life with the Eskimo, p 188.]

× A Van Gennep, Tabou at Jotemisme a' Madages car (1904) p. 82

१—प्राचीन समय का कोई विश्वास हो। उसमें कोई गम्भीर मूल्य अन्त-
हित हो। कालान्तर में वह हलका तथा हँसी की वस्तु मात्र रह जाय। अथवा
कोई अधोगति में पड़ा हुआ विश्वास उन्नत हो जाय।

२—अर्थ परिवर्तन, किसी विश्वास या मान्यता की व्याख्या इस प्रकार कर
दी जाय कि उसका मौलिक अर्थ ही बदल जाय।

इस प्रकार के मूल्य-परिवर्तनों से हमारे प्रस्तुत अध्ययन का अधिक सम्बन्ध
है। उनके विकास के लिए कुछ विशेष सामाजिक कारण उत्तरदायी होते हैं।
इन्हीं मूल्य-परिवर्तनों की दिशा पर किसी भी मनुष्य-जाति का भाग्य-निर्णय
होता है। कला विकास में इन्हीं परिवर्तनों का विशेष हाथ रहता है। इन्हीं पर
संस्कृति का विकास निर्भर है। ऊपर की समस्त अध्ययन प्रणालियाँ इसी
विकास-इतिहास के अध्ययन के लिए हैं। संस्कृति की कुछ कड़ियों के लुप्त हो
जाने पर इतिहास विशृंखल हो जाता है। समय पर ऐसे महापुरुष उत्पन्न होते
हैं जो लुप्त कड़ियों को खोज कर समाज तथा राष्ट्र को स्वस्थ, संगठित जीवन
देते हैं।

लोक-संस्कृति; इसका स्वरूप; इसके तत्त्व—

अब लोक-संस्कृति पर कुछ विचार होना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्ययन इस
मान्यता के आधार पर है कि 'मानस' लोक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।
'लोक' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाने से हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा। पौरा-
णिक साहित्य में स्वर्ग लोक, मर्त्यलोक, पाताल लोक कहे गये हैं। इनके 'लोक'
का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। रामचन्द्र शुक्ल आदि मानस के अध्येताओं ने
'लोक मंगल की भावना', 'लोक संग्रह' आदि शब्दों का प्रयोग किया है।
यहाँ समाज और संस्कृति को ध्यान में रक्खा गया है। किन्तु आज लोक शब्द
पारिभाषिक हो गया है।

आज 'फ़ोक' के अर्थ में 'लोक' का प्रयोग होता है। एंसाइक्लोपीडिया
ब्रिटेनिका में 'फ़ोक' शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी है। आदिम युगों में उन
सभी आदमियों को फ़ोक कहते थे जो एक समुदाय बनाते थे। इस शब्द का
व्यापकतम अर्थ सभ्य राष्ट्र की समस्त जन संख्या हो सकता है ' किन्तु

इसका अर्थ अब संकुचित कर दिया गया है। इस संकुचित अर्थ में, इसके अन्तर्गत वे मनुष्य-समुदाय आते हैं जो नागरिक संस्कृति के प्रभाव से अछूते हैं, शिक्षा से दूर हैं, निरक्षर हैं अथवा गाँवों में निवास करते हैं। × इसी शैली पर हिन्दी में 'लोक' शब्द के अर्थ का समायोजन किया गया है।

श्री कृष्णानन्द गुप्त ने 'लोकवार्त्ता' पत्र के निवेदन में लिखा, "लोकवार्ता को अंग्रेज़ी में फ़ोक्लोर कहते हैं अथवा कहिए कि फ़ोक्लोर के लिए हमने लोकवार्ता शब्द का प्रयोग किया है।.........फ़ोक्लोर का प्रचलित अर्थ है जनता का साहित्य, ग्रामीण कहानी आदि।" + डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी लोक शब्द का यही अर्थ स्वीकार किया प्रतीत होता है।* डा० अग्रवाल लिखते हैं "लोकवार्ता की सामग्री का संचय करने के लिए प्रत्येक गाँव को एक खुली हुई पुस्तक समझना चाहिए।" डा० सत्येन्द्र ने भी ग्राम-साहित्य के लिए 'लोक-साहित्य' शब्द का प्रयोग किया है। निष्कर्ष यह कि, 'फ़ोक' और 'लोक' में एक दृष्टि प्रधान है। लोक उस जनसमुदाय का नाम है जो आधुनिक सभ्यता और शिक्षा की लहरों से पूर्णतः या अंशतः वंचित है और अपने में अनेक प्राचीन विश्वास अनुष्ठान तथा कथा-गाथाओं को सुरक्षित किए हैं। नगरों में भी असंस्कृत वर्ग रहता है। उस वर्ग की मान्यताओं को भी 'लोक' शब्द की व्याख्या में स्थान मिलना चाहिए।

लोकवार्ता की सामग्री सभ्य, शिक्षित तथा संस्कृत जन समुदाय से भी प्राप्त हो सकती है। सभ्य समाज में भी कितनी ही कौटुम्बिक प्रथाएँ हैं जो बौद्धिक आवर्तों को झेलती हुई शिलावत अचल खड़ी हैं। वह लोकवार्ता की ही सामग्री हैं।

पेंड्यूलैंग 'फोक्लोर' के विषयों का निरूपण करते हुए कहते हैं "यह वह

× ऐंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनका, फोकलारिंग निबन्ध।

+ सत्येन्द्र जी द्वारा लिखित 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' पुस्तक के पृ० ३ पर उद्धृत।

* 'पृथिवी पुत्र', 'लोक वार्ताशास्त्र' लेख, पृ० ८५

संस्कृति है जिसे जन अपने निजी स्रोतों से निर्माण करता है।" × इसमें प्रयुक्त संस्कृति शब्द को गॉम्मे महोदय ने स्पष्ट करते हुए लिखा है—"यह वह संस्कृति है जिसका विधान और रूप शास्त्रीय नहीं हो गया है। जिसका प्रसार स्वयं ही हुआ है। + यह भौतिक दृष्टिकोण है। उक्त विद्वानों के अनुसार संस्कृति दो प्रकार की हुई—शास्त्रीय तथा अशास्त्रीय। शास्त्रीय संस्कृति आदर्श संस्कृति होती है। उसमें मनुष्य के भौतिक जीवन से ऊँचे उठे हुए तत्त्व आते हैं। ऐन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में संस्कृति की इसी दृष्टि से परिभाषा की गई है। उसमें धर्म, आन्तरिक जीवन और बुद्धिवादिता पर अधिक बल दिया गया है।※ इसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड कहते हैं कि संस्कृति एक आभ्यन्तरिक प्रक्रिया है। S आगे लेखक मानव की पूर्णता पर जोर देता है। पूर्णता का अर्थ है मानव जीवन की प्रत्येक दिशा और प्रत्येक रूप की उन्नति। इस वैयक्तिक 'पूर्णता' से फिर लेखक सामाजिक पूर्णता तक पहुँचता है।† यह संस्कृति-रूप उच्चवर्गीय संस्कृति ही है। इसमें भौतिक जीवन गौण है।

प्रस्तुत अध्ययन में भौतिक संस्कृति पर विशेष दृष्टि रखी गयी है। भौतिक शब्द का यहाँ संकुचित अर्थ नहीं है। इसके अन्तर्गत मानव के सभी भौतिक प्रयास, इच्छाएँ, क्रियाकलाप, उत्सव, त्यौहार, अनुष्ठान आ जाते हैं। सभ्य मनुष्य ने अपनी भौतिक इच्छाओं का एक दर्शन गढ़ लिया है। आदि मानव का 'दर्शन' भ्रमित, स्तम्भित साथा। कार्य कारण का सम्यक् ज्ञान उसे नहीं था। इस भ्रमित दर्शन के कारण वह अनेक संस्थाओं का रूप खड़ा करता था। वह परा-प्रकृति (Supervaral) में विश्वास करता था। उस शक्ति के

× Follklore Recoid, I, 99

+ First Annual Report of the Folklore Society, P. 4

※ एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स, पृ० ३५८

S "And un Culture we recommend is, above all an inward operation" Culture and Anarchy.

सम्बन्ध में उसकी अपनी मान्यताएँ थीं। उसको प्रसन्न करने के लिए बलि दी जाती थी, नाटक खेले जाते थे, नृत्य होते थे, गीत गाये जाते थे। किन्तु इस पराप्रकृति शक्ति का वह रूप नहीं जो सभ्यों के ईश्वर या ब्रह्म का हो गया है। उस शक्ति का सम्बन्ध इस आदि मानव के भौतिक जीवन से अधिक था। आपदाओं से बचना वह चाहता था, इसमें उस शक्ति का सहारा लेता था।

यही विश्वास आगे चल कर धर्म बनने लगे। वह धर्म उनके व्यावहारिक जीवन से अविच्छिन्न था। पराप्रकृति शक्ति ईश्वर का रूप ग्रहण करती गई। 'टोना' का जन्म धर्म के साथ ही या उससे कुछ पूर्व हुआ। टोने का लक्ष्य पराप्रकृति को प्रसन्न करना नहीं, वरन् उन पर अधिकार करना था। लोक संस्कृति में ईश्वर, धर्म, टोना आदि पर भी विचार किया जाता है, यद्यपि व्याख्या भौतिक अधिक रहती है।

कभी-कभी ऐसे महापुरुष उत्पन्न होते हैं जो इस आदिम, पर प्रगतिशील लोक संस्कृति के माध्यम से जन-जीवन में प्रवेश सूत्र पाते हैं और उसी में लुके-छिपे सत्यों और मूल्यों का परिमार्जन करके जन जीवन को स्पृहणीय बनाने का यत्न करते हैं। इन महापुरुषों में भगवान-बुद्ध तथा गो० तुलसीदास को लिया जा सकता है। इन्होंने लोक-संस्कृति निधि की उन सभी बोलियों का उपयोग किया जिनमें कोई उच्च मूल्य निहित था, पर उसका रूप पंकिल था। निर्जीव रूढ़ियों को दूर किया। वेद उपनिषद के मर्म को जनता सीधे समझ नहीं सकती थी। तुलसी ने उनका निचोड़ लोक कथाओं, गाथाओं तथा अनुष्ठानों पर छिड़का जिससे वे अमर हो उठे। इस प्रकार लोक सांस्कृतिक ढाँचे में नवीन-विकसित मूल्य सचरित हो गये। इस जीवन्त, नवीन रूप को सामान्य जन ने ही सिर झुका कर स्वीकार नहीं किया, सभ्य तथा उच्च स्तरीय नागरिकों ने भी उसका 'आदर' किया। इस प्रकार क्षेत्र में विस्तार हुआ। 'मानस' के लोक सांस्कृतिक अध्ययन का यही अर्थ है। यहाँ वर्ग भेद नीचे रह जाता है और लोक संस्कृति की उज्ज्वल धारा उन पर प्रवाहित हो उठती है—

श्रोता त्रिविध समाज, पुर, ग्राम नगर दुहुँ कूल।
सन्त सभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल।

लोक-संस्कृति और धर्म—

बिलकुल आदिम युग में मनुष्यों ने देवरूपों को प्रतिष्ठित नहीं किया। उसका जीवन अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए प्रकृति के विरुद्ध सतत युद्ध का क्षेत्र था। प्रकृति के व्यापार उसके सम्मुख रहस्य बन कर खड़े थे। उन व्यापारों को समझने के लिए उनके पास कोई निश्चित कसौटी थी नहीं। एक वह था। उसके समक्ष विशाल प्रकृति, अन्धकार तथा प्रकाश का युद्ध, ऋतुएँ और उनकी प्रतिक्रियाएँ। प्रवृत्ति के रहस्य को समझाने का यदि उसके पास कोई माध्यम था तो केवल अपना रूप और जीवन। सूक्ष्म भेद बुद्धि उसके पास थी नहीं कि प्राणों के स्वरूप को समझ सके।

अपना रूप भी उस मनुष्य को पूर्णत: ज्ञात नहीं था। उसके लिए आत्म-चेतना और व्यक्तित्व में कोई भेद नहीं था। किन्तु उसमें जीवन था। यही जीवन सबको समझने की कसौटी बन सकता था उसकी दृष्टि में अन्य सभी पदार्थों में जीवन होना चाहिए। जीवन का आरोप ही मनुष्य की प्रकृति के प्रति प्रथम प्रतिक्रिया कही जा सकती है। यही आगे चल कर धर्म बनने लगती है। एक ही पदार्थ के प्रति उसकी भिन्न परिस्थितियों में भिन्न धारणाएँ बनी होंगी।* प्रकृति और पराप्रकृति में अन्तर करने वाली बुद्धि का विकास नहीं हुआ था। उसे ऐसा प्रतीत होता था कि सृष्टि का सञ्चालन उसी जैसी शक्तियों से होता है, जिनमें उसी जैसे मनोवेग हैं, जो उनकी पुकार सुनते हैं तथा द्रवित भी होते हैं, उनमें भी उसी की सी आशा आशकाएँ हैं।* वैदिक साहित्य में इस प्रकार की उद्भावनाएँ मिलती हैं। 'सविता' के प्रति ऋषि की अनुभूतियाँ इस प्रकार फूटीं—

"जैसे योद्धा अपने घोड़े की ओर जाता है, गायें गाँवों की ओर जाती हैं, गाय अपने बच्चे को दूध पिलाने जाती है, जैसे प्रियतम अपनी प्रेयसि की ओर जाता है, इसी प्रकार सवितर् जो आकाश को धारण करता है, हमारे समीप आवे।× इस मन्त्र में सवितर् में किन्हीं भावनाओं का आरोप नहीं है। किन्तु जिन उपमानों से उसकी तुलना की गई है, उन उपमानों के भावों से ही सवि-

* कॉक्स, माइथॉलॉजी आव दि आर्यन नेशन्स, पृ० २२

तर को अभिहित किया गया है। यह मात्र आलंकारिक वर्णन नहीं है। फिर ऋषि कल्पना करता है कि ये प्राकृतिक शक्तियाँ उसी की भेंटों से वल ग्रहण करती हैं। उसकी स्तुतियाँ उनकी सेवा तथा सहायता करती हैं—

"हमारे गीत, जो इसकी (इन्द्र की) घोड़ों की भाँति सेवा करते हैं। (इन्द्र को) इस प्रकार (प्यार से) चाहते हैं जैसे गाय अपने बछड़ों को। (वे गीत) इन्द्र की पत्नी के समान हो जाते हैं। +

इसके बदले में ऋषि-कवि इन्द्र आदि शक्तियों से अपने कल्याण की कामना करता है। यही उसके दिव्य सम्बन्ध की भूमिका है। उसने सोचा कि जब समस्त वातावरण की बागडोर इन्हीं शक्तियों के अधिकार में है तो इनको प्रसन्न करने से जीवन सुखद हो सकता है। प्रसन्न करने की योजना में अनुष्ठान, त्यौहार तथा यज्ञों का समावेश हुआ। इस प्रकार धर्म का प्रारम्भिक रूप खड़ा हुआ। "धर्म मानव से श्रेष्ठ तथा उच्चतर उन शक्तियों का सतुष्टीकरण है जिनको वह अपने से ऊँचा मानता है, तथा विश्वास करता है कि मानव-जीवन तथा प्रकृति को ये शक्तियाँ ही परिचालित रखती हैं, तथा इन पर अनुशासन भी रखती हैं। धर्म के दो पक्ष हैं—सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक। पहले में परा-मानव शक्तियों में विश्वास आता है, दूसरे में उनको प्रसन्न करने की योजना। विश्वास पहले होता है। विश्वास यदि व्यवहार में परिणित न हो जाय तो धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।ऽ" प्रस्तुत अध्ययन में धर्म के व्यावहारिक पक्ष का अध्ययन ही आता है।

लोक-संस्कृति और टोना—

टोना धर्म से पहले की स्थिति है। अभी आस्ट्रेलिया में कुछ पिछड़ी जातियों की शोध हुई है। उन जातियों में टोना के चिह्न तो पाये गये हैं, पर धर्म की भावना के चिह्न उनमें नहीं मिलते। 'विश्वास' से पूर्व मानव ने

---

* द गोल्डन बाउ, (Frazer) पृ० ६

× ऋक० १०।१४६।४

+ ऋक० १।१८६।७

ऽ Goldon Bough, Frazer, पृ० २२२-३

प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने तथा उन पर शासन करने का प्रयत्न किया होगा। इसी पर अनेक अन्ध-विश्वास, मूढ़ ग्राह आदि टिके हुए हैं। फ्रेजर टोने को अनुकरणात्मक टोने (Sympathetic magic) का ही समानार्थी मानता है। इसके दो भाग हैं होम्योपैथिक मैजिक तथा 'कन्टेजियस-मैजिक'। इनमें से प्रथम साम्य भावना पर आधारित होता है, दूसरा छूत की भावना पर। इनके मूल में दो भ्रम हैं। पहले के अन्तर्गत मनुष्य यह सोचता है कि जो वस्तुएँ समान हैं, वे एक ही हैं। दूसरे यह भ्रम कार्य करता है कि जो दो वस्तुएँ कभी एक दूसरी के सम्पर्क में आई हैं, उनका यह सम्पर्क सदा बना रहता है।× इसीलिए मृतक के कपड़े घर में रखना निषिद्ध है। क्योंकि उन कपड़ों को मृत-आत्मा से सम्बन्धित माना जाता है।

अनुकरणात्मक टोने में निषेधात्मक तथा विधेयात्मक दोनों प्रकार के तत्व मिले रहते हैं। निषेधात्मक विधान को टैबू कहते हैं।+ सिद्धान्ततः टोने का रूप धर्म के विपरीत है। टोना यह विचार करके चलता है कि प्रकृति के कार्य-कलाप निश्चित हैं, उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। यह प्राकृतिक शक्तियों के व्यक्ति रूप पर विश्वास नहीं करता। इसी कारण धर्म जहाँ उन शक्तियों को प्रसन्न करने का प्रयास करता है, टोना उन पर अधिकार करने का प्रयत्न करता है। धर्म में विश्वास प्रधान है। जो शक्तियाँ प्रसन्न होकर जीवन को सुखद बना सकती हैं, वे ही शक्तियाँ अप्रसन्न होकर जीवन को दुखद भी बना सकती हैं। यहीं उन शक्तियों के प्रति डर, प्रेम तथा कृतज्ञता की भावनाओं का उदय होता है। इसी डर और प्रेम से मानव-व्यवहार संचालित होने लगता है तथा ईश्वर के रूप की भूमिका बनती है।

लोक-संस्कृति और ईश्वर—

सभ्यता की आदिम स्थिति में ईश्वर सम्बन्धी विश्वास की यह रूप-रेखा खड़ी हुई वह परा-मानव और परा-प्राकृतिक सत्ता है। उसका रूप व्यक्तिवत् है, वही इस संसार का शासन करता है यह शासन मंगलमय है। उसकी बौद्धिक

× गोल्डन बाउ, पृ० १११

+ वही, पृ० ५३-४

क्षमता, आचार-भावना, तथा क्रियमाणता स्वरूप में मानव के जैसी हैं। उस रूप में हम उसको समझ सकते हैं। परन्तु ये सब गुण उसमें मनुष्य से उच्चतर तथा उसकी अपेक्षा अधिक हैं और सम्भवतः इतने ऊँचे कि हम उनका निश्चय नहीं कर सकते। ईश्वर इस संसार का नियंता है।* ईश्वर के सम्बन्ध में सामान्य-स्तरीय मनुष्यों की आज भी यही भावना है। दार्शनिक व्याख्या इस सीधे रूप को जटिल बना देती है। प्रस्तुत अध्ययन में हमारा सम्बन्ध ईश्वर के इस सीधे सच्चे रूप से है। ईश्वर के इसी सर्वसाधारण रूप को मानसकार समाज के प्रत्येक कोने में प्रतिष्ठित कर देना चाहता है; यही उसका लोक-संग्रहकार रूप है।

यह लोक-संस्कृति की संक्षिप्त रूपरेखा है। इसी दृष्टि से मानस के अध्ययन की यह योजना है।

रामचरित मानस का ही अध्ययन क्यों ?

'रामचरित मानस' लोक मानस का सच्चा प्रतिनिधि है। उसमें लोक-संस्कृति अपने भव्य रूप में विराजमान है। जब से राम कथा की उत्पत्ति हुई, तब से आज तक इसकी लोकप्रियता बढ़ी ही है। कालिदास के रघुवंश, भोज की 'चम्पूरामायण', भवभूति के उत्तर रामचरित जैसे ग्रन्थ रत्नों में राम कथा है ही। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में भी राम कथा है। जातक कथाओं में 'दशरथ जातक' में राम कथा है। कथासरित्सागर भी इस कथा से खाली नहीं। जैन साहित्य में स्वयंभू का 'पउम चरिय' (रामायण) मिलता ही है।× कबीर ने 'राम नाम' अपनाया। यह तो 'नागरिक' साहित्य की बात हुई।

ग्राम साहित्य में इसका रूप और ही है। लोक प्रतिभा ने रामचरित्र को अपने अनुसार मोड़ लिया है। यहाँ कहीं कहीं राम कृषक भी बने दीखते हैं वे

---

* The Belief in Immortality, I, 9–10 (by Frazer)

× कहा जाता है कि इसका आरम्भ इन प्रसिद्ध 'तिहुयण सयंभु' के पिता 'चउमुह सयंभु' ने किया था। उसको इन्होंने पूर्ण किया [संगम, दीपावली अंक (१९४६) जैन रामायण की परम पावन विद्रोहिणी सीता ले० डा० हेमचन्द्र जोशी।

हल चलाते हैं, खेत में बीज बोते हैं। उड़ीसा के 'हलिया' गीतों में यही व्यंजना है।× इन गीतों में राम-चरित्र ही भरा है। उपमानों के सहारे 'कहियत भिन्न न भिन्न' के रूप को लोक प्रतिभा यों व्यक्त करती है—

राम हेला जल सीता हेला लहुड़ी।
राम हेला मेघ सीता हेला घड़घड़ी।+

[राम जल हैं, सीता जल-लहर, राम बादल बन गये तो सीता बिजली की कड़क] यहीं पर तुलसी की निम्नलिखित उक्ति का बीज मिलता है—

गिरा अर्थ जल-वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दौ सीता राम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न।

इसके अतिरिक्त वैवाहिक गीतों में राम वर बन जाते हैं। तथा सीता वधू। सीता-राम लोक व्यवहार में रूढ़ रूप में प्रतिष्ठित हो गये। राम का विकास लोकोन्मुख रहा। कृष्ण और राधा का रूप रीति ग्रन्थों में नायक-नायिका के लिए रूढ़ हो गये। कृष्ण-लीला का विकास 'शास्त्र' की ओर विशेष हुआ। इसका अर्थ यह नहीं कि कृष्ण-कथा लोक में प्रविष्ट ही नहीं हुई। 'कृष्ण' वहाँ हैं, पर व्यावहारिक रूप में नहीं, कला रूप में। कृष्ण सम्बन्धी लोक-साहित्य में कृष्ण हीला के रसिक हैं, सावन के रँगीले हैं, पर कृषक नहीं हैं। राम सम्बन्धी घटनाएँ भी रूढ़ रूप में गृहीत हैं। राम-भरत के सजल मिलन ने लोक-मानस को प्रभावित किया। आज भी ब्रज की स्त्रियाँ जब कई दिन पश्चात् अपने गाँव की ओर लौटती हैं तो गाँव के समीप आकर यह गीत गाती हैं—

उठि मिलि लेउ राम भरत आए।

इस लोक व्याप्ति पर तुलसी को अत्यन्त भरोसा था। उन्हें विश्वास था कि 'राम-कथा' के माध्यम से ही वे राम कथामय लोक तक अपना सांस्कृतिक संदेश पहुँचा सकेंगे। इसीलिए रामकथा के धागे में अपनी उक्तियों को पिरोकर लोक के समक्ष रखा—

× देवेन्द्र सत्यार्थी, ना० प्र० पत्रिका : भाग १५ [सं० १९९१] पृ० ३१९ "उड़िया ग्राम साहित्य में रामचरित"।

+ वही।

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बरताग।
पहिरहिं सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग।S

काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं में भी रामचरित्र का अंकन मिलता है। साम्प्रदायिक साहित्य में भी रामकथा है। रामकथा में अन्य कथाओं की अपेक्षा भारतीय लोक संस्कृति का सच्चा स्वरूप मिलता है। तुलसी ने इस कथा को एक भव्य सांस्कृतिक रूप दिया।

देश में ही नहीं, रामकथा भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को लिए विदेशों में भी पहुँची। चीन में रामकथा पाई जाती है।• इस रामकथा का आधार जातकों की रामकथा है। ब्रह्मा में भी रामायण के दृश्यों के अवशेष मिलते हैं। वहाँ एक नाट्य रंगमंच है इसका नाम 'प्वौ' (Pwe) है। मन्दिरों में तथा सामाजिक उत्सवों पर अभिनय किए जाते हैं। उक्त रंगमंच पर चमड़े की कटी हुई तस्वीरों की सहायता से छाया नाट्य भी दिखाए जाते हैं। इनके कथानक अधिकांश रामायण से लिए हुए हैं। × यहाँ के कथानकों पर जातकों का प्रभाव है। इसी प्रकार स्याम के 'लक्खों' (Lakhon) नामक रंगमंच पर चहरे पहन कर 'खोन' नामक अभिनय किया जाता है। इसके दृश्य भी रामायण से लिए हुए हैं। + चिहरे पहन कर भारत में आज भी रामलीला का अभिनय किया जाता है। जावा में भी मन्दिरों पर रामायण की कथाएँ खुदी हुई हैं। + इन कथाओं का प्रचलन वहाँ बौद्ध धर्म से स्वतन्त्र होकर हुआ दीखता है। वहाँ मुख्यतः राम के अन्तर्धान होने, सीताहरण, बालि-सुग्रीव युद्ध, राम-सुग्रीव मैत्री,

S बालकाण्ड : मंगलाचरण।

• देखिए, Ramayan in China, by Dr. Raghu Vir and Chikago Yamamoto.

× Anand K. Coomar swamij, History of Indian and Indonesian Art, P. 174.

+ वही, पृ० १८०

+ R. K. Mukerjee, Social Function of Art, पृ० १८६

हनुमान-सीता मिलन, राम रावण युद्ध आदि के दृश्य हैं। कम्बोडिया में अंकोर वाट के मन्दिर में इसी प्रकार के दृश्य हैं।5

इस प्रकार एशिया के अधिकांश भाग में रामकथा का प्रचार है। यहाँ रामायण भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रही है। इसी बहुश्रुत कथा को तुलसी ने अपने सांस्कृतिक सन्देश को लोक तक पहुँचाने के लिए चुना। अतः रामकथा का साधारणतः तथा 'रामचरित मानस' का विशेष अध्ययन यहाँ अभिप्रेत है। इसीसे भारतीय संस्कृति के विकास की रूप-रेखा खड़ी की जा सकेगी।

5 History Indian and Indoveuan Art K. Coomarsmanmany P. 195.

द्वितीय अध्याय

रामकथा का विकास

हरिअनंत हरि-कथा अनंता।
कहहिं सुनहिं बहुविधि श्रुतिसंता।
[मानस, बालकांड,]

गोस्वामी जी को अपने पूर्व से चली आने वाली 'बहुविध' रामकथा से परिचय था। उन तक आते-आते रामकथा एक लम्बा सांस्कृतिक मार्ग तै कर चुकी थी। उसका रूप विविध प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक तत्वों से प्रभावित हुआ। विविध परिस्थितियों में उसके विविध रूप विकसित हुए। उसका बहुविध शृंगार हुआ। लोक ही नहीं सन्त सभा भी उसे बहुविध कहती सुनती थी। फिर हरि की कथा शान्त नहीं हो सकती। वह अनन्त होकर रही। किसी युग के दल-दल में वह विलुप्त नहीं हो सकी।

परम्परागत विचारधारा रामकथा को इतिहास मानती आई है। प्रतिभा जीवियों के क्षेत्र में यह काव्य बनी। आदिकाव्य का ढाँचा इसी की नींव पर खड़ा हुआ। काव्य के क्षेत्र में इतिहास अपनी स्थूल सीमाएँ खो देता है। उसका बहिर्मुख रूप अन्तर्मुख हो जाता है। इतिहास के व्यक्तिगत चरित्र समष्टि की सीमा बन जाते हैं। प्रत्येक घटना एक देशीयता के निर्मोक का मोचन कर स्वर्ग-मर्त्य को एक करने वाली कड़ी हो जाती है। किसी काव्य के साथ लगे हुए ऐतिहासिक तत्व स्थूलतः अस्पष्ट हो जाते हैं और काव्य रूप उभर आता है। यह रूप इतना मिश्रित हो जाता है कि उनको अलग करके देखना प्रायः असम्भव हो जाता है। इसीलिए 'मानस' महाकाव्य में इतिहास और इतिहास में महाकाव्य है।'

प्रत्येक महाकाव्य में ऐतिहासिक तत्त्व तो आवश्यक रूप से रहते हैं। उसमें किसी संस्कृति के इतिहास का सूक्ष्म रूप में रहना उसका जीवन है। उस संस्कृति के सभी अंगों का प्रतिबिम्ब महाकाव्य में रहता है। आध्यात्मिक मूल्य इस सूक्ष्म इतिहास और काव्य के तत्त्वों के सहयोगी बन कर आते हैं। उनके पूरक होते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक, काव्यात्मक तथा आध्यात्मिक तत्त्व कथा-वस्तु के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित हो जाते हैं। इनके बीच एक रागात्मक सामंजस्य स्थापित हो जाता है। यह रागात्मक सामंजस्य किसी प्रतिभा की महान् तपस्या का फल होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न क्षेत्रों तथा वर्गों में बिखरे विविध रूपात्मक कथासूत्रों और मूल्यों को संगृहीत करके उनका सार शब्द में उतार दिया जाय। इन सभी रूपों और मूल्यों को एक ही सन्तुलित चित्र में सजा देना महान् प्रतिभा का ही कार्य है। भारत में इस सार का रूप इस प्रकार का होगा—

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

[मानस, मंगलाचरण]

इस सारभूत रूप के ग्रहण से पूर्व के समस्त रूप प्रायः संस्कृति के विभिन्न अंगों का परिचय देते हैं। इस निचोड़ के पश्चात् जो रूप खड़ा होता है वह संस्कृति के सर्वांग की झाँकी कराता है। विपरीत परिस्थितियों में कथा रूप में आया हुआ संस्कृति का यह समग्र रूप फिर विकल हो जाता है। विच्छिन्न अंग वर्गों में बटते हैं। भिन्न वर्ग उसके बहुविध रूप प्रस्तुत करने लगते हैं। जो वर्ग अपने बट आए कथांश रूप सांस्कृतिक अंग को पुष्ट करता है, वह आगे के युगों के सांस्कृतिक निर्माण में स्वस्त युग-प्रतिमा को योग और बल देता होता है। जिस अंग को नवजीवन नहीं मिलता वह सर्वांग-निर्माण में स्थान नहीं पाता। प्राय. समस्त सांस्कृतिक कथाएँ इसी विकास-चक्र में घूमती रहती हैं।

हमारे सामने रामकथा का उदाहरण है। वाल्मीकि से पूर्व इस कथा के जितने रूप प्रचलित थे, उन सभी को आदि कवि ने अपनाया होगा। उन सब

का समन्वित रूप वाल्मीकि रामायण है।* आदि कवि के पश्चात् कथा या कथांश अनेक वर्गों में भी बरते हैं। काव्य के दृष्टिकोण से रामकथा का एक रूप बनता है, अध्यात्म में दूसरा। बौद्ध उसे कुछ रूप देते हैं, जैन कुछ। उक्त वर्गों से समस्त सजीव तत्व दौड़ कर 'मानस' में फिर समन्वित हो उठते हैं। इस विकास क्रम को कुछ विस्तार से देखने की आवश्यकता है।

वैदिक-साहित्य में रामकथा का बीज

गोस्वामी जी ने अनेक बार वेदों का उल्लेख किया है। जहाँ रामायण निर्माण करने वाले 'मुनि' की वन्दना की है, वहाँ राम-गुण-गान करते हुए न थकने वाले वेदों की भी वदना की है—

> वन्दउँ चारिउ वेद, भव-वारिध बोहित सरिस।
> जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुवर बिसदजस ॥

वैसे पुराणों में वर्णित तथा लोक में प्रचलित अनेक कथा-कहानियों का बीज वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। अतः यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि रामकथा का कोई सूत्र वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है अथवा नहीं! यदि कोई सूत्र है तो उसका क्या रूप है और उसका किस प्रकार विकास हुआ है! इसके लिए पहले वैदिक शास्त्र में प्राप्त सामग्री को देख लेना ही ठीक होगा। +

'दशरथ'.—रामकथा के कुछ पात्रों का नाम वैदिक साहित्य में मिलता है। ऋग्वेद में दशरथ का नाम दानी राजाओं के साथ लिखा गया है। × दशरथ के चालीस भूरे रंग के घोड़ों का एक हजार घोड़ों के नेतृत्व की बात कही गई है। इसमें दशरथ की दानशीलता तथा घोड़ों की श्रेष्ठता का उल्लेख है।

---

* Kaith, History of Sanskrit Literature, P. 6-7

+ इन उल्लेखों के लिए लेखक कामिल बुलके का आभारी है। उनकी रामकथा से वैदिक सामग्री देने में सहायता ली गई है।

× ऋक् १।१२६।४

'राम'.—वैदिक साहित्य में राम नाम धारी अनेक व्यक्तियों का उल्लेख है। तैत्तिरीय आरण्यक में 'राम' शब्द का पुत्र के अर्थ में प्रयोग है।= सायण के अनुसार 'राम' का अर्थ रमणीय पुत्र है। ऋग्वेद में एक राजा 'राम' का उल्लेख है तथा यह उल्लेख अन्य प्रतापी राजाओं के साथ है।— ऐतरेय ब्राह्मण में श्यामपर्ण कुल के जनमेजय के समकालीन 'ब्राह्मण राम का उल्लेख है।'§ शतपथ ब्राह्मण में औपतस्विनि 'राम' की चर्चा मिलती है। ‡ यहाँ यज्ञ के सम्बन्ध में वे विचार प्रकट करते हैं। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में क्रातुजातेय राम नामी दार्शनिक शिक्षा देने वाले आत्रेय के शिष्य का उल्लेख है।†

'जनक'—कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण में जनक देवताओं से मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में चार प्रसगों में जनक का उल्लेख मिलता है।⊖ शतपथ ब्राह्मण का पहला प्रसग जैमिनी ब्राह्मण में है। जनक याज्ञवल्क्य से यज्ञ विषयक प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर पाकर सौ गाँव पुरस्कार में देते है।+ दूसरे प्रसग में मित्रविद यज्ञ का जनक वैदेह के पास जाने का उल्लेख है, यहाँ भी याज्ञवल्क्य को १००० गाँव पुरस्कार में देने की बात है।× तीसरे प्रसग में जनक के ब्राह्मण बनने की कथा है।* जनक अग्निहोत्र विषयक प्रश्न पूछते है याज्ञवल्क्य का भी उत्तर अधूरा है। अत जनक स्वयं उत्तर देते हैं।

= ५।८।१३

— ऋग्वेद १०।९३।१४

§ ऐतरेय ब्रा० ७।२७।३४

‡ शतपथ ४।६।१।७

† जै० उप० ब्रा० ३७. ३२. ४. ६. १ १

⊖ कृ० यजु० तैत्ति० ब्रा० ३।१०।९

+ जैमिनीय १।१९, शतपत-११.३.१.२.४.

× शतपथ ११.४.३.२०

* शतपथ ११ ६ २.१.

इस समय से "जनक ब्राह्मण ही थे।" चौथा प्रसंग + यह बात कहता है कि जनक ने एक यज्ञ की आयोजना की। सबसे अधिक विद्वान् के १००० गाँवों से पुरस्कृत किये जाने की बात थी। शाकल्य याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछे गये। अधिक जिज्ञासा प्रकट करने के कारण मर जाते हैं। वृहदारण्य उपनिषद् § में याज्ञवल्क्य जनक को आध्यात्मिक शिक्षा देते हैं। जनक प्रजा सहित आत्म-समर्पण करते हैं। उपनिषदों में अन्यत्र भी जनक का दार्शनिक व्याख्यानों के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। ¤ जनक का उल्लेख वैदिक साहित्य में विशेष है।

वैदिक साहित्य में सीता—

'सीता' शब्द का अर्थ है हल चलाने से उत्पन्न 'कूँड़' या सिराव इस अर्थ में सीता शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेक बार हुआ है। ‡ यहाँ सीता कृषि-कार्य की प्रक्रिया है। बाद में सीता सावित्री का उपाख्यान मिलता है। † सीता और सावित्री सोम की पुत्रियाँ हैं। सोम की पत्नी बनना दोनों चाहती हैं। 'स्थागर' (एक अंगराग) के लेपन करने का यह प्रभाव दिखाया गया है कि सोम सावित्री को छोड़ सीता से प्रेम करने लगा। वाल्मीकि की 'सीता' भी यही अंगराग लगाती है ‡ (अनुसूया द्वारा प्रदान किया जाता है) किन्तु तुलसी ने इस अंगराग की चर्चा नहीं की है।

अब सीता पर व्यक्तित्व का आरोप हुआ। वह कृषि की एक अधिष्ठात्री देवी बन गई। + यहाँ सीता पर व्यक्तित्व और देवत्व दोनों का आरोप किया गया। ऋग्वेद के इस सूत्र में कृषि सम्बन्धी अनेक देवताओं का उल्लेख भी है। यहाँ

+ शतपथ ११.६.३.१. आदि।

§ वृह० आ० उप० ४.१.१ से ४.४.७. तक

¤ कौषीतकी उपनिषद् ४.१.; शाखायन आरण्यक ६.१.

‡ ऋग्वेद १।१४०।४ अथर्ववेद ११।३।१२

† कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण २।३।१०

‡ रामायण २.११८. (१८,१६,२०)

+ ऋग्वेद ४.५७।२. वही ४।५७.६। १. वही ४.५७।६

सीता के इन्द्र द्वारा गृहण किए जाने की बात कही गई है। सीता के सम्बन्ध में यह प्रार्थना मिलती है—

> अर्वाचीं सुभगे भव सीते वंदामहेत्वा।
> यथा नः सुभगासि यथा सुफलासि ॥२
> इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु।
> सा न पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥३

इन्द्र निश्चित रूप से वृष्टि और विद्युत का देव है। अतः कहा गया कि इन्द्र सीता का ग्रहण करे। इन्द्र से सम्बन्धित हुए बिना सीता धन-धान्य प्रदात्री हो नहीं सकती थी। अतः कहा गया कि वह पानी से अभिसिंचित रहे और हमें धन-धान्य प्रदान करती रहे। पहले मंत्र में इन्द्र-सीता सम्बन्ध को शाश्वत रखने के लिए 'सुभगासि' आवश्यक लगा। सीता सौभाग्यवती रहनी चाहिये।

इसी प्रकार के उल्लेख यजुर्वेद संहिताओं और अथर्ववेद में मिलते हैं। ये उल्लेख 'सीरायुंजंति' मंत्र का एक भाग है।× इसमें पहले ऋग्वेदीय मंत्र लगभग ज्यों का त्यों दिया गया है। =पीछे उसके हितकांक्षिणी होने तथा फलदा होने की कामना की गई है। ÷ फिर कहा गया कि सीता घी और मधु से सिक्त हो; वह विश्व देवताओं और मरतों से रक्षित हो। यह ओजशील तथा धृत सिक्त सजल (दूध के साथ) रूप में हमारे पास रहे। () यजुर्वेद में यही 'सीरायुंजनि' मंत्र हवन के क्षेत्र में 'सीता' खींचते समय गाया जाता है। यहाँ भी सीता को घी और मधु से अभिसिक्त होने, विश्वदेवाओं और मरतों से

× अथर्ववेद ३।१७

= वही ३ १७।४

÷ वही ३।१७।८

() घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सानः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना।
अथर्व० ३।१।७९

रचित होने वाली तथा कामनाओं को पूर्ण करने वाली कहा गया है। > कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक में 'पितृमेध' के अवसर पर उपर्युक्त सामग्री का उपयोग मिलता है। + अन्त्येष्टि के पश्चात् श्मशान पर हल द्वारा कुछ 'सीताएँ' खींची जाती थी। 'सीरा युंजन्ति' का गान किया जाता था। ×

गृह्य सूत्र में सीता के सम्बन्ध में सामग्री विस्तृत मिलती है। कृष्ण यजुर्वेद के अग्निवेश्य = और बौधायन + गृह्य सूत्रों में पितृमेध वाली प्रक्रिया का उल्लेख है। काठक गृह्य सूत्र में एक विशेष बात मिलती है। 'गो-यज्ञ' नई ब्याई गऊ आदि के स्वास्थ्य के लिये किया जाता था। इस अवसर पर दो सीताएँ खींची जाती हैं, 'सीरा युंजन्ति' मंत्र पढ़ा जाता है तथा सीता में घी डाला जाता है। ॰ इस प्रकार कृषि-यज्ञ से गो यज्ञ में सीता का विकास हो है।

इन गृह्य सूत्रों म 'सीता यज्ञ' का उल्लेख है। ∞ इनमें स्थालीपाक तैयार करने की बात है। आहुतियाँ देते समय इन्द्र, सीता तथा उर्वरा से प्रार्थना है। पीछे स्थालीपाक भेंट किया जाता है। सीता के रक्षकों (सीता गोप्तृ) को भी दर्भ की बलि चढ़ाई जाती है। सीता को इन्द्र पत्नी कहा गया है। एक

> तैत्तिरीय स० ४.२.५.५.६ ; काठक स० १६ १२ ; मैत्रायणि सं० २.७.१२ आदि।

+ तैत्तिरीय आरण्यक ६।६। शतपथ ब्राह्मण (१३.८) में इस क्रिया का उल्लेख है पर मन्त्र पढ़े जाने का उल्लेख नहीं -

× आज भी श्मशान में बाँई उँगली से सीताएँ खींची जाती है। बाँए हाथ की उँगली से 'राम' लिखा जाता है।

= ३।८

+ पितृमेध सूत्रम् १.१८

॰ काठक गृह्य सूत्र ७१.१.६.

∞ पारस्कर गृह्यसूत्र २।१७ ; काठक गृ० सू० ७।७१।७ ; गोभिल गृ० सू० ४ ४.२८

विशेष बात यह कही गई है कि सीता में वैदिक और लौकिक कार्यों की विभूति है। π—

"यस्याभावे वैदिक लौकिकानांभूतिर्भवति कर्मणाम्। इन्द्रं पत्नीमुपह्वये सीतां सा मेत्वनपायनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा।"

बीज वपन, ⊖ धान्य के कटने पर, खलयज्ञ, धान्य साफ किये जाने पर, तथा धान्य के घर पहुँचने पर इन्द्र, सीता आदि देवों को बलि चढ़ाई जाती है। ऽ इसी पूजा का विधान त्यौहारों पर भी किया गया है।

कौशिकी सूत्र के तेरहवें अध्याय में सीता की विस्तृत प्रार्थना है। यही प्रसग सामवेद के अद्भुत ब्राह्मण में है। जब दो हल उलझ जाते थे तो पुरोहित पूर्व की ओर एक सीता खींचता था उसमें आग जला कर सीता से प्रार्थना की जाती थी। इस प्रार्थना में सर्वाङ्गशोभिनी, हिरण्मयी माला धारण करने वाली, कालनेत्रा, श्यामा, हिरण्यमयी पर्जन्य पत्नी + सीता का मानवीकरण पूर्ण हुआ है।

इन्द्र द्वारा प्रेरित जल-वृष्टि से 'सीता' को सिंचित होते हुए इस ऋषि कवि ने देखा। अभिसिंचित सीता ने बीज धारण किया। बीजकाल के पश्चात् उसने कृतज्ञ नेत्रों से देखा कि उस सीता से शस्य की उत्पत्ति हो रही है। इस समस्त व्यापार ने ऋषि के कल्पनाशील कवि-मस्तिष्क में 'रूपक' का भाव उत्पन्न किया। फलतः दाम्पत्य के भाव का आरोप इन्द्र और सीता के बीच खड़ा हुआ। वृत्र एक राक्षस है जो बादलों में मेघ के जल को बन्द रखने वाला है। वृत्र द्वारा वर्षा जल के अवरुद्ध हो जाने पर 'सीता' का वन्ध्य हो जाना स्वाभाविक है। उसकी उर्वरा शक्ति तथा बीज धारण करने की शक्ति अपहृत हो जाती है। तब इन्द्र अपनी पत्नी की शक्ति को अपहरण करने वाले वृत्र को

π पारस्कर गृह्यसूत्र २।१७।४

⊖ काठक गृ० सू० ७।७१।८

ऽ गोभिल गृ० सू० ४।४।३०

\+ अथर्ववेद में भी पृथ्वी को पर्जन्य पत्नी कहा गया है (१२.१.४२)

मारता है। अग्नि वृत्र-विनाश में उसका सहायक होता है।× इस रूपक का साहित्य के क्षेत्र में भी प्रचार हुआ। कालिदास ने अपने 'कुमार सम्भव' में इस 'रूपक' को अलंकार रूप से गृहण किया है—

सखीभिरश्रोत्तर मीत्तिताभिमां।
वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्॥ =

पार्वती जी अपने प्रियतम शिवजी से वियुक्त होकर उसी प्रकार खिन्न हैं जिस प्रकार इन्द्र द्वारा वर्षा के अभाव में 'सीता' क्षुब्ध हो जाती है।

अथर्ववेद में सीता के मानवीकरण का रूप सुनिश्चित होता दीखता है। वहाँ देवी के रूप में सीता का आह्वान किया गया है।∝ संक्षेप में यही वैदिक तत्वों का सार है।

वैदिक तत्वों की व्याख्या—

राम-कथा के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के तीन प्रमुख मत सामने आते हैं प्रथम सिद्धांत 'लासेन' का है।+ इस सिद्धांत के अनुसार रामायण की कथा

× ऋग्वेद ५.३१।११

= कुमार सम्भव, पञ्चमसर्ग।

∝ अथर्व ३।१७।४६। इसका अंग्रेजी अनुवाद ग्रिफिथ ने इस प्रकार दिया है:—

"Auspicious Sita, come thou near;
We venerate and worship thee
That thou mayst bless and prosper
Us and bring us fruits abundantly."
"Loved by Visvedevas and the Maruts
Let Sita be bedewed with oil and honey.
Turn thou to us, with wealth of Milk.
O Sita, in vigorous strength, and pouring
streams of fatness

+ ए० मैकडानल, 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर', पृ ३११

एक रूपक है जिसमें आर्यों की दक्षिण-विजय के सफल प्रयत्न का प्रतिबिम्ब है। दूसरा सिद्धांत 'वेबर' का है। इनके अनुसार रामायण की कथा आर्य-सभ्यता के दक्षिण-भारत और लंका में विस्तार का रूपक है। ये सिद्धांत रूपक पर बल देते हैं। इनके आधार से राम-कथा के सभी तत्वों की संतोषजनक व्याख्या नहीं हो पाती। उक्त सिद्धांत अयोध्या के राजवंश से सम्बन्धित कथा-भाग के लिये कोई उत्तर नहीं देते। दूसरे कथा-भाग की व्याख्या मात्र हो करते हैं। दूसरे कथा-भाग में भी जो दिव्य तथा ईश्वरीय तत्व आ गए हैं उनकी भी विशद व्याख्या नहीं हो पाती।

तीसरा सिद्धांत वैज्ञानिक अधिक है। इस सिद्धांत से अन्तर्राष्ट्रीय कथा-गाथाओं की व्याख्या की गई है। इस मत के अनुसार प्रत्येक गाथा भाषा का विकार है। इस विकृत रूप में रूपकवत् अथवा विशेषणवत् जो शब्द होते हैं वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता में स्थित होने लगते हैं। यह भूल जाया जाता है कि ये कवि के दिए नाम हैं, जिन्होंने शनैः शनैः देवत्व प्राप्त किया है। × अतः इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक गाथा प्राकृतिक घटना के रूपक पर बनी है। पर पहले स्थूल मूर्त गाथा का निर्माण हुआ, तत्पश्चात उसे भाषा प्रतीकों में अभिव्यक्ति मिली। = इस सिद्धांत को आधार मानकर राम-कथा की व्याख्या अनेक विद्वानों ने की है। θ इस व्याख्या के अनुसार 'सीता' ऋग्वेदीय इन्द्र की पत्नी हो जाती है, 'इन्द्र' 'राम' में परिवर्तित होता है। 'रावण' 'वृत्र' है (उसका बेटा 'इन्द्रजीत' कहा भी है। 'इन्द्रशत्रु' ऋग्वेद में इन्द्र का विशेषण भी है)। सीता का हरण गायों की चोरी से साम्य रखता है जिन्हें इन्द्र ढूँढ़कर, राक्षसों से संघर्ष करके लाता है। हनुमान मारुति का प्रतीक है, जिसने गायों की खोज में इन्द्र का साथ दिया था। 'सरमा' इन्द्र का सन्देश-वाहक था, जो 'पणि' के समुद्रों को पार करके गायों की खोज करता है; यही वह राक्षसी है जो सीता को धैर्य देती है। इस प्रकार से याकोबी ने राम-कथा की रूपकात्मक व्याख्या की है

× मैक्समूलर, लेक्चर्स ऑन सायंस ऑव लैंग्वेज', पृ० ११

= टेलर, 'प्रिमिटिव कल्चर', जि० १ पृ० २६६

θ याकोबी, 'डास रामायन'।

इसी व्याख्या को आधार मानकर वैदिक साहित्य में राम-कथा के बीज की खं
आरम्भ होती है।

ऋग्वेद काल वह युग है जब मानव की सभ्यता का प्रथम अध्याय लिखा
रहा था। उस समय ऋग्वेदकालीन आर्य ने पहली बार अपनी आकृति के अ
रूप देवताओं की अभिसृष्टि आरम्भ की। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिर
है× 'मानव मस्तिष्क में जो देव-सर्जन का कार्य आरम्भ हुआ, उसका जैस
स्पष्ट और भव्य रूप ऋग्वेद में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं।' उ
युग के मंत्रद्रष्टा ने अपनी नित्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उन नव
निर्मित देवताओं का स्तवन किया। इन स्तवनों में दैनिक जीवन की आवश्यक
ताओं की पूर्ति की दृष्टि प्रमुख है। आर्य जाति के सम्मुख भारत की विस्तृत
समतल, उर्वरा भूमि थी, पयस्विनी नदियों से भूमि अभिसिंचित थी। उसने
कृषि-जीवन में स्पृहणीयता भर गई। भूमि के गर्भ से राशि-राशि धान्य उत्पन्न
होता था। भूमि में मातृत्व की स्थापना इसी सूत्र के आधार से हुई होगी।
भूमि में मातृत्व के आरोप का प्रौढ़ तथा विकसित रूप अथर्ववेद में प्राप्त होता
है। ऋषि गा उठता है—

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।≠

किन्तु अथर्ववेदीय 'पृथिवी-सूक्त' से पूर्व ही, प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में
भूमि को देवत्व प्राप्त हो गया था। प्रत्येक नदी, जलाशय, पर्वत को उसने देवत्व
प्रदान किया। किन्तु आर्यों का सीधा सम्बन्ध कृषि-भूमि से था। उसी को
उन्होंने अपने हल से चीरा था। वहीं से उन्हें राशि-राशि शस्य प्राप्त हुआ था।
पृथ्वी के प्रति उस आर्य जाति की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हुए अनेक
स्तवन मिलते हैं। पृथ्वी का स्तवन दो रूपों में बहुधा मिलता है—एक तो
स्वतन्त्र रूप से समस्त भूमि का स्तवन; दूसरा कुछ अन्य देवताओं—क्षेत्र और
सीता—के नाम से है।

× 'इण्डियन फिलासफी', खंड १, पृ० ७१

≠ अथर्ववेद, १२।१।१२

मैक्समूलर ने धर्म-गाथा का विकास शब्द-विकार से माना है। उसके मतानुसार आदि मानव ने प्रकृति के विभिन्न व्यापारों को देखकर उन्हें किसी शब्द का अर्थ माना, अथवा उस व्यापार को शब्द में अभिव्यक्ति दी। समय पाकर शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हुआ। फलतः प्रकृति-व्यापारवाची शब्द दिव्यता अथवा देवत्व के द्योतक हो गए। पहले शब्द रूपकालंकार के रूप में प्रयुक्त हुए। आगे चल [illegible]र रूपक का भाव लुप्त हो गया। इसी प्रकार 'सीता' शब्द का विकास हुआ। [illegible]हले 'सीता' मात्र एक कृषि-प्रक्रिया का परिणाम थी। अब 'सीता' पर व्यक्तित्व [illegible]ा आरोप किया गया, वह देवी बन गई। इस रूप में आने पर 'सीता' को [illegible]न्द्र-पत्नी के रूप में देखना स्वाभाविक था।

अथर्ववेद में 'सीता' के व्यक्तित्व की रूप-रेखा और निश्चित रूप से उभर आती है। वहाँ देवी रूप में 'सीता' का आह्वान किया गया है। इस स्थान पर विश्वेदेवा को उनका पति बताया गया है। उक्त वर्णन में मरुत् का भी सम्बन्ध सीता से बताया गया है। इन्द्र ने मरुत की सहायता से ही वृत्र को मारा था। मरुत ने युद्ध भी किया था। इसलिये मरुत का उल्लेख 'सीता' के साथ हुआ है। इसी मरुत के सम्बन्ध से हनुमान की कल्पना की जा सकती है। हनुमान को रामायणकार ने मरुत का पुत्र कहा है। इन्द्र और सीता को साथ-साथ भेंट देने की बात 'पारस्कर गृह्यसूत्र' में मिलती है। इस प्रकार सीता, इन्द्र, मरुत, अग्नि और वृत्र आदि वैदिक पात्रों द्वारा एक कहानी खड़ी होती है। इसी कहानी को रामकथा के उत्तरार्द्ध (सीताहरण से रावण-वध तक) का मूल कुछ विद्वानों ने माना है।

'सीता-कथा' के इस वैदिक रूप की पुष्टि में आदिकवि द्वारा दी हुई सीता की उत्पत्ति कथा ली जा सकती है। वहाँ यह कथा आई है कि मेनका को जनक ने आकाश में देखा। उसे देखकर जनक के मन में कामना हुई कि मेनका से कोई संतान उत्पन्न हो। आकाशवाणी हुई—'ऐसा ही होगा।' खेत के कूँड़ में जनक को सीता मिलती है। वह जनक की मानस-पुत्री घोषित की जाती है। इस प्रकार वाल्मीकीय सीता का जन्म भी पृथ्वी से ही होता है।+

+ वाल्मीकि रामायण, बंगाल, ३।४।१०; निर्णयसागर, १।६६।१४

वैदिक साहित्य में राम-कथा का बीज यही 'सीता' शब्द के 'रूपक' के रूप में विकसित होने से बननेवाली कथा कही जा सकती है। इसी रूपक के साथ कुछ ऐतिहासिक तत्त्व आकर मिल गए, जिससे यह गाथा शुद्ध प्राकृतिक गाथा ही नहीं रह गई। वस्तुतः आगे के वैदिक साहित्य में विष्णु की महत्ता इन्द्र से बढ़ गई। विष्णु के इन्द्र-पद पर प्रतिष्ठित होते ही विष्णु और सीता का सम्बन्ध सम्पन्न हुआ और फिर वह स्थान विष्णु के अवतार 'राम' ने ले लिया होगा। इस वैदिक कथा के आसपास फिर अन्य वैदिक देवगण सहायक रूप में इकट्ठे होते हैं। इसका निर्देश आदिकवि ने इस प्रकार किया है—'अवतरित होने से पूर्व विष्णु ने देवताओं से अपने सहायक रूप में जन्म लेने के लिये कहा। इस पर सभी देवता किसी न किसी रूप में अवतरित हुए और राम को रावण-वध मे सहायता दी।× आगे नामावली भी गिनाई गई है—सुग्रीव सूर्य का, तार बृहस्पति का, नल विश्वकर्मा का, नील अग्नि का, द्विविद और मयंद अश्विनों के, सुषेण वरुण का, शरभ पर्जन्य का तथा हनुमान वायु के अवतार थे।= ' उक्त सभी देवता प्रसिद्ध वैदिक देवता ही हैं। इन सभी देवताओं ने व्यक्त-अव्यक्त रूप में इन्द्र-वृत्र कथा में भाग लिया था। इस प्रकार 'राम' के प्रायः सभी प्रमुख सहायकों का मूल हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाता है। इन सभी देवताओं को मिलाकर वेदों ने जो इन्द्र-वृत्र-कथा खड़ी की, उसी की प्रतिकृति आगे प्रचलित होनेवाली कथाएँ कही जा सकती हैं। आगे के युगों में अनेक लोक-तत्त्व भी आकर राम-कथा के वैदिक तत्त्वों में मिल गए। इस प्रकार लोक-वेद-समन्वित रामकथा अमर हो गई। ब्रह्मा के रूप म आदिकवि के ब्रह्मा ने इस अमरता का आभास पहले ही पा लिया था और घोषणा की थी—

× क्षिप्त रामायण, १।८६; निर्णय० १।१७

= वही, १।६३; निर्णय० १।१७ तुलसीदासजी ने भी इस प्रकार की सूचना दी है—

बनचर देह धरी छिति माहीं
अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं।
[बा० कां० दोहा १८७-१८८ के बीच]

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

वैदिक तत्वों की लोकवार्ता मूलक व्याख्या—

इन सभी देवताओं को मिलाकर वेदों ने जो इन्द्र वृत्र-कथा खड़ी की उसी की प्रतिकृति आगे प्रचलित होने वाली कथाएँ कही जा सकती हैं किन्तु आगे के युगों में खड़ी की गई राम कथा में अन्य अनेक तत्त्व सम्मिलित ते गए। इस प्रकार के तत्त्वों को जोड़ना लोक की प्रमुख प्रवृत्ति है। पूर्व प्रचलित थाओं में दो प्रकार के तत्त्व मिलाए जाते हैं। एक तो वे तत्व होते हैं जिन्हें माज का बौद्धिक-वर्ग किसी विशेष उद्देश्य से मिलाता है और दूसरे लोक के रा मिलाए गये तत्व जिनमें कोई विशेष अथवा महान् उद्देश्य नहीं दीखता, स प्रकार के निरुद्देश्य तत्त्वों को मिलाने में लोक-कल्पना तथा जन-प्रतिभा का हयोग रहता है। इस प्रकार दो मार्गों में किसी कथा विशेष का विकास समाज में होने लगता है।

वेद किसी एक मनुष्य की कृति नहीं है, वरन् अनेक मन्त्र द्रष्टाओं की अभिसृष्टि है। वेद साहित्य-विकास मनुष्य के जीवन के विकास के साथ ही हुआ है। अतः वेद में जहाँ आदिम स्थिति के मनुष्य के मानसिक चित्र मिलते हैं, वहाँ आगे की स्थिति में परिपक्वता भी दृष्टिगत होती है। आदिम स्थिति में मनुष्य की कल्पना शक्ति उसकी विवेक शक्ति से अधिक तीव्र और महत्वपूर्ण थी + इस दृष्टि से अनेक आधुनिक कवि और उपन्यासकार आदिम मानव कहे जा सकते हैं। वैदिक ऋषि भी आरम्भ में कल्पना-रूपों को विशेष महत्त्व प्रदान करता दीखता है। अतः वेदों में मिलने वाले प्राकृतिक तत्त्वों का प्रथम अध्ययन कल्पना प्रगति की दृष्टि से ही करना उपयोगी होगा। इसके लिए हमें देखना

+ 'Primitive man has been defined as one for whom sensuous data and images surpass in importance rational concepts. From this standpoint many contemporary poets, novelists and artists would be primitive' [Ribot, Creating Imagination p. 118.

होगा कि उस आदिम ऋषि का अन्तर्जगत किस प्रकार का था जिसने इस प्रकार की कल्पना कृतियों को जन्म दिया। पहले कुछ विद्वानों का मत था कि इस प्रकार की कृतियों में भी कुछ आदर्श तथा दर्शन अन्तर्हित रहते हैं किन्तु यह समक्ष रखना आवश्यक है कि आदर्श तथा दर्शन तत्त्व पीछे के विकास के द्योतक हैं। सर्व प्रथम तो कल्पना का ही राज्य था। उस आरम्भिक मस्तिष्क ने जो कल्पनात्मक सृजन किए हैं, वे आज अस्वाभाविक तथा अकारण दीखते हैं। उस समय वे स्वाभाविक थे। जब वैदिक ऋषि ने आरम्भ में प्रकृति के तत्त्व तथा उसके व्यापारों का निरीक्षण किया तब उसके कौतूहल और जिज्ञासा को कल्पना ने सहारा दिया होगा। यही गति समस्त देशों की दीखती है। उन सभी प्राकृतिक तत्त्वों में जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, उसने प्राण प्रतिष्ठा की। उस प्राण प्रतिष्ठा के बाद की स्थिति मानवीकरण है। इस प्रकार की प्राण प्रतिष्ठा रूपक तथा तुलना पर आधारित रहती हैं। उसकी कल्पना उसके मस्तिष्क में किसी प्राकृतिक वस्तु में मानव के समान कुछ तत्त्वों को उद्‌घाटित करती है। यही कल्पना उस प्रकृति तत्त्व में मनुष्य का आरोप करती है। =

कल्पना के द्वारा किया गया यह आरोप केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं रहता : पशुओं, पक्षियों तक का आरोप भी होता है, इस आरोप के कारण जो रूप बनते हैं उनमें बहुत से तत्त्व अकारण दीखने लगते हैं। इसलिये न समझ में आने वाले अकारण तत्त्व ही प्राकृतिक विश्वासों की विशेषता हो जाती है। + इस प्रकार के अबोधगम्य तत्त्वों में गणेश जी के हाथी के सिर, प्रजापति के बकरे के सिर, अग्नि के तीन पैर, सात हाथ, हनुमान की पूँछ आदि को रख सकते हैं। जुते हुए खेत से सीता का कैसे जन्म हो गया, वह व्यक्तित्व युक्त कैसे हो उठी? इन सभी तत्त्वों का ठीक प्रकार से निरूपण होना कठिन है। पर इस प्रकार का बोध गम्य और अबोध-गम्य के रूप में प्रकृति-विश्वासों

= Primitive culture : Vol. 1, p. 2 व 6 (Tylor)

+ 'What makes mythology mythological is what is utterly unintelligible, absurd strange, or miraculous'—Max Muller.

का विभाजन ठीक नहीं प्रतीत होता। आज की दृष्टि से जो बोधगम्य तत्व लगता है, वह अपनी निर्माण अवस्था में पूर्ण रूपेण बोध-गम्य रहा होगा। यदि हम आज भी अपने मस्तिष्क को उसी अवस्था में रख सकें तो वे सभी तत्व स्पष्ट रूप धारण कर लेंगे। इन तत्वों के समझने में बुद्धि और तर्क उतने सहायक नहीं होंगे, जितनी कवि सुलभ कल्पना शक्ति।

जब हम उस आदि मानव की मानसिक स्थिति पर विचार करते हैं तो दीखता है कि उसके मानसिक विकास का चरम उसकी कल्पना शक्ति है।× उसके इस काल्पनिक, जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण के पीछे एक भाव भी छिपा रहते थे। उसके इस भाव में रुचि (Interest) और हलका सा भय मिले रहता था। इस भाव का कुछ आभास हम अपने मस्तिष्क में आज भी बिजली कड़कने तथा ग्रहण पड़ने के समय पा सकते हैं। यह भावदशा आदिम मानव में प्रचुरता से थी। प्रकृति के प्रत्येक उपकरण को वह स्थूल और ठोस समझता था। इस भावदशा में विचारधारा सदैव ही सोद्देश्य नहीं होती थी। कभी कभी वह केवल एक तत्व का दूसरे तत्व से सम्बन्ध जोड़ने का ही कार्य करती थी। इस सम्बन्ध की कड़ियाँ साम्य अथवा समीपत्व के भाव से आती थीं ये सम्बन्ध सदैव ही जान बूझकर नहीं जोड़े जाते थे, कभी-कभी अज्ञान में ही ये निरूपित हो जाते थे। साम्य पर आदिम मानव की दृष्टि अधिक रहती थी, विभिन्नता पर कम। विभिन्नता की दृष्टि तर्क के साथ आती है। उसको पशु-जीवन और मनुष्य जीवन में समानता दीखती थी। अतः सरलता से वह पशु और मानव का योग करके एक नवीन रूप सामने रख देता था। आदमी के धड़ पर हाथी का सिर रख देना, कछुए तथा मछली के धड़ पर आदमी का सिर जमा देना, सिंह का सिर आदमी के धड़ पर सजा देना उस आदिम स्थिति में मनुष्य की स्वाभाविक तथा सरलतम प्रक्रियाएँ थीं आज

× "Man prior to civilization, is a purely imaginative being, that is, the imagination marks the summit of his intellectual development. [Ribot, Creative Imagination p. 118]

हमें वे व्यर्थ तथा हास्यास्पद लगती हों, किन्तु उस स्थिति में उनका अपना मूल्य था। आज हम 'नर-पशु', 'नर-सिंह' आदि शब्दों का अर्थ करने में तर्क शक्ति की प्रधानता के कारण मनुष्य मे पशु अथवा सिंह के गुण की धारणा कर सकते हैं किन्तु उस समय इस प्रकार की सूक्ष्म तर्क बुद्धि का विकास नहीं हुआ था। अतः स्थूल रूप में ही इन भावो को व्यक्त किया जा सकता था। इस दृष्टि से केवल पशुओं तथा मनुष्यों का ही समीकरण नहीं किया गया, जड़ प्रकृति में भी मनुष्य का रूप जोड़ा गया। वृक्ष को, फूलों को जीवन प्रदान किया गया। हमारे यहाँ तुलसी के बिरवा को देवी कहा गया। शालिग्राम की बटिया को मनुष्य रूप दिया गया। कल्पना यहाँ ही नहीं रुकी, शालिग्राम और तुलसी का विवाह भी सम्पन्न किया गया। पीपल को देवत्व प्रदान हुआ। इसी प्रकार न जाने केला, आम, आँवला आदि कितने वृक्षों में मानव की कल्पना की गई, किन्तु ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से सब में एक साम्य मनुष्य अथवा देवता से मिलता था, जिसके कारण विविध रूप विकसित हुए, प्रत्येक खेत, प्रत्येक चौराहा, प्रत्येक घर के साथ इस प्रकार उस आदिम मनुष्य ने जीवन-शक्ति का आरोप किया। इन पर मनुष्य के गुण का ही आरोप करके उस मानव को तुष्टि नहीं मिली, उन सभी को उसने मनुष्य समझा और माना। इसी भावना के कारण उनमें संबन्ध स्थापित हुए। जैसे शालिग्राम और तुलसी का विवाह। इस प्रकार समस्त प्रकृति को मनुष्य रूप में ही उस मानव ने देखा।)

प्रकृति ने अन्य उपकरणों, जो अपेक्षाकृत सूक्ष्म थे, को भी मानव ने इस दृष्टि से देखा जैसे सूर्य, चन्द्रमा, बादल, आकाश, पृथ्वी आदि उस। आदि मानव का जीवन इन सभी उपकरणों के घनिष्ट सम्पर्क में रहता था। आज की भाँति उसके सुव्यवस्थित घर आदि नहीं थे। अतः प्रकृति की कृपा पर ही उसका जीवन था। इस दृष्टि से वैदिक सीता पर विचार किया जाना चाहिये।

अब उस मानव ने खेती आरम्भ कर दी थी। वह खेत जोत कर उसमें बीज बोता था। बीज पनप कर फसल बनता था, वर्षा से फसल पुष्ट होती थी, सूर्य का फसल को पकाने में हाथ था वायु का सहयोग भी अज्ञात नहीं था।

इस समस्त व्यापार को वह आदि मानव काल्पनिक रूप दिए बिना रह नहीं सकता था। अब रूप खड़ा हुआ, अब 'सीता' मात्र हल से जुती हुई भूमि (हराइ) नहीं रह गई, उसमें मनुष्य जीवन का आरोप हुआ। उसकी प्रकृति तथा माता की प्रकृति में समानता थी। बीज धारण करने तथा फसल उत्पन्न करने की प्रक्रिया में प्रजनन की क्रिया स्पष्ट थी। माता की भाँति वह अन्न देती थी। + माता की ही भाँति वह दूध भी प्रदान करती थी। इस प्रकार उस जुती हुई भूमि में मातृ रूप की कल्पना सम्पन्न होती है। आगे के विकास में ऋग्वेदिक गृह तथा कुटुम्ब का रूप है। कुटुम्ब में विवाह से प्राप्त पत्नी और नारी का स्थान गौरवशील हो चुका था। ऋग्वेद का 'जायेदस्त' × —जाया घर है—इस बात का प्रमाण है कि गार्हस्थ्य जीवन या केन्द्र नारी थी। अतः ऋग्वेद का ऋषि 'सीता' को इस गौरव से अभिहित करना चाहता था। इसके अतिरिक्त मातृत्व के गुणों से संयुक्त होते हुए, स्वभावतः वह पत्नी का आचरण भी करती है। अतः 'सीता' किसी पति की पत्नी भी होनी चाहिये। 'सीता' का पोषण इन्द्र करता है। इन्द्र वर्षा तथा विद्युत का पति है। उसी वर्षा से 'सीता' बीज धारण करती है तथा शस्य उत्पन्न करती है। अतः इन्द्र उसका पति हो गया। इन्द्र को 'उर्वरा पति' कहा गया है। = किन्तु यह विवाह सम्पन्न भी मानवीय ढग से होगा। लोक कथाओं में मिलता है कि किसी कठिन कार्य को करने की शर्त रहती है। विवाह से पहले उस कार्य के सम्पादन करने पर ही विवाह सम्भव है, इस कठिन कार्य के करने का आभास हमें अर्जुन के मत्स्यभेद, राम के धनुर्भंग आदि में मिलता है। इस प्रकार की कथाएँ समस्त योरुप और एशिया में पाई जाती हैं। बर्न ने अपनी 'हैंड बुक ऑव फोकलोर' + पुस्तक में कुछ भारतीय कहानियों के रूप दिए हैं उनमें कुछ रूप ऐसे मिलते हैं जिनसे कथाओं में विवाह सम्पन्न होते हैं। कुछ रूप दिए जाते है —

+ यथानः सुभगाससि यथा नः सुफलासति [ऋग्वेद · ४।५७।६]

× ऋग्वेद ३।५३।४

= ऋग्वेद : ८।२१।३

+ Handbook of Folklore : (Appendix C)

१ दाँव पर रखकर दुलहिन पाना

(Bride wager Type)

दुलहिन (कभी कभी पति) को प्राप्त किया जाता है—

१. बुझौअलों का उत्तर देने पर
२. विविध कार्य सपादन करने पर
३. दत्य से युद्ध करके
४. उसे हँसा दन पर
५ किसी रहस्य का उद्‌घाटन कर देने पर ।

यह रूप भारोपीय देशों में मिलता है दैत्य से युद्ध करके दुलहिन प्राप्त करने की बात सर्वत्र मिलती ह । इन्द्र का उषा को प्राप्त करना इसी रूप म है। 'अन्धकार (वृत्र) उनको प्रभातों तथा वर्षों को निगल गया था, इन्द्र ने उसे मार दिया और उनको मुक्त किया । +

इस प्रकार वृत्र के विनाश के पश्चात ही इन्द्र और उषा का विवाह सम्पन्न होता है। इसी वृत्र का बध करके इन्द्र वर्षा करता है। अत 'सीता' से विव ह सम्पन्न करने के लिए भी दैत्य से युद्ध करना आवश्यक हो गया। किन्तु इन्द्र अकेला युद्ध नहीं कर सकता था, उसका साथ अग्नि ने दिया 'सीता' का अपहरण वृत्र ने किया था। उसको पुन प्राप्त करना है। इस प्रकार की कहानी का भी भारोपीय रूप बर्न ने दिया है—

गुड्रन टाइप (Gudrun Type)

१. दुलहिन किसी राक्षस अथवा नायक के द्वारा अपहृत होती है।

२. वह दुबारा प्राप्त की जाती है अथवा वह उस राक्षस के विनाश का कारण होती है।

इसी प्रकार 'सीता' का वृत्र के द्वारा हरण ही इन्द्र द्वारा वृत्र विनाश का कारण बनता है। पुन प्राप्ति म उसकी सहायता अग्नि, मरुत आदि ने की थी। अन्धकार रूप वृत्र क विनाश म सूर्य की सहायता भी निर्विवाद है। अतः इन्द्र

+ RV. IV 29 (Wilson)

और अग्नि की साथ-साथ स्तुति की गई है। × इस प्रकार के सहायकों संबंधी भी एक टाइप बर्न ने दिया है—

फेथफुल जौन टाइप (Faithful John Type)

१. एक राजकुमार का स्वामिभक्त सेवक उसे संकटों से बचाता है।

२. राजकुमार को उसके कार्यों पर सन्देह होता है। दंड स्वरूप, वह पत्थर हो जाता है।

३. राजकुमार और उसकी दुलहिन के आँसुओं से सम्मोहन नष्ट हो जाता है। सेवक मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार के सहायक भी हमें अग्नि, वायु, सूय के रूप मे मिल जाते है जिस प्रकार इस कथा में सेवक पर सदेह हुआ है, इसका तो स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किन्तु पत्थर होने का सकेत महाभारत मे मिलता है। अग्नि का पत्थर हो जाना उसकी दाहकता ही समाप्त हो जाना है। महाभारत में उसकी शक्ति समाप्त हो गई थी। अग्नि ने यह चेष्टा की थी कि समस्त खाडव-वन को खाकर अपनी शक्ति फिर प्राप्त करे। + अत. पुनः शक्ति प्राप्त करने का उद्योग यहाँ मिलता है। इन्द्र से कुछ मन मुटाव का भी सकेत वहाँ पर मिलता है।

इस प्रकार हमने देखा कि भारोपीय लोक कथाओं में विवाह के जो रूप मिलते है, वही रूप सीता तथा इन्द्र के विवाह का है। इससे यह तात्पर्य नहीं कि लोक कथाओं के तत्व लेकर वैदिक-रूपक खड़ा हुआ। इस विवेचन से हम

× वही V. 6 11

+ "In the Mahabharat, Agni is represented as having exhausted his vigour by devouring too many oblations, and desiring to consume the whole Khandava forest as a means of recruiting his strength. He was (at first) prevented from doing this by Indra; but having obtained the assistance of Krishna and Arjuna, he baffled Indra, and accomplished his object" [Dowson Dictionary of Hindu Mythology]

इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राकृतिक-रूपकों को ही कालान्तर में लोक-गाथाओं, पुराण-गाथाओं तथा अवदानों का रूप मिला। इन्द्र और अग्नि की कथा, लोक में आकर दो-मित्रों की कहानी रह गई। इसी प्रकार पुराण-गाथाओं में नाम-परिवर्तन के साथ समस्त रूपक विद्यमान रहे। रामायण की प्रमुख कथा 'सीता' पर विशेष केन्द्रित है। अतः सीता का विवेचन करना विशेष आवश्यक था। अन्य सहायकों के वैदिक रूप पर विचार संक्षेप में किया गया है उन पर विस्तृत विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं दीख पड़ती।

वेदों में प्रयुक्त 'राम' के ऊपर अवश्य कुछ कहना है 'राम' का नाम व्यक्ति वाचक संज्ञा के रूप में आया है। इस नाम के साथ वेन, पृथवेन, दुहिसम नाम और आए हैं। वेन और पृथवेन प्रसिद्ध राजा कहे गए हैं। पुराणों में भी इनका वर्णन मिलता है। इस प्रकार 'राम' भी इसी प्रकार के किसी राजा का नाम रहा हो सकता है। राम का रमणीय पुत्र होना आदर्श रूप में गृहण होता रहा है। रामायण में राम, पुत्र का आदर्श प्रस्तुत करते हैं राम का अस्तित्व ऐतिहासिक है या नहीं, इस पर यहाँ विचार नहीं करना है। यहाँ तो वस इतना देखना है कि इन्द्र के स्थान पर राम की स्थापना किस प्रकार हुई। इन्द्र का नाम हट कर विष्णु का विकास हुआ होगा। विष्णु का अवतार राम को माना गया। और राम इन्द्र से ऊँचे सिद्ध किए जाकर सीता से सम्बन्धित हो गये होंगे अब विष्णु का विकास भी वेदों में देखना आवश्यक है जो इन्द्र को अपने स्थान से च्युत करके स्वयं सर्वमान्य हो गये तथा मानव के रूप में अवतार लेना स्वीकार किया।

राम और विष्णु

किस प्रकार प्राकृति के व्यापारों और रूपों को देवत्व प्रदान किया गया, यह देखा जा चुका है। देवता समय पर आर्यों की प्रार्थना सुनते थे और नियमित व्यापार से उनके जीवन को सम्पन्न करते थे। आदिम विचारधारा में भी प्रधानतः दो तत्व थे। मस्तिष्क और प्रकृति, दोनों की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होती थी। आदिकाल में प्रकृति की मस्तिष्क पर प्रतिक्रिया कम थी। मस्तिष्क की कल्पना शक्ति अधिक क्रियाशील थी। इसके फलस्वरूप अनेक देवों की अभि-

सृष्टि हुई किन्तु समय पाकर प्रकृति की प्रतिक्रिया बलवती हुई उस प्रकृति के प्रतीक रूप देवों के गुण और विशेषताओं की ओर तर्क-बुद्धि चली देवताओं के तीन स्थान थे तथा स्थान के अनुसार देवता तीन भागों में विभक्त किए गए। पृथ्वी स्थान का सबसे महत्वपूर्ण देवता अग्नि है। अन्तरिक्ष स्थान के देवताओं में इन्द्र का तथा आकाश स्थान देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं का महत्व पूर्ण स्थान है। यहाँ पर 'विष्णु' शब्द सन्तत क्रियाशील सूर्य का प्रतीक है। विष्णु ने तीन डगों में इस विश्व को माप डाला है।* यही कारण है कि वे उरु गाय और उरुक्रम कहलाते हैं। विष्णु के सम्बन्ध में कल्पना यहाँ ही नहीं रुकी, ऋषि उसके भौतिकता से परे रूप की कल्पना करता है। इस प्रकार उसका भौतिक रूप एक हुआ। इस रूप में 'विष्णु' पार्थिव लोकों का निर्माण करते हैं, अन्तरिक्ष को स्थिर करते हैं, तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप देते हैं। कल्पना आगे बढ़ती है—जहाँ विष्णु का तृतीय पाद-विन्यास गया है, वहाँ मधु का कूप है। अमृत का स्रोत है। उस मधु लोक में भूरिशृंग गायें इधर-उधर जाया आया करती हैं।+ यहाँ गायों से तात्पर्य किरणों से है। किन्तु इस लोक को पा लेना हर एक की सामर्थ्य से परे है। उसे विवेकशील विप्रजन ही प्राप्त कर सकते हैं।× इसी लोक की और कल्पना से वैष्णवों का गोलोक खड़ा हुआ इस प्रकार विष्णु के सूक्ष्म तथा स्थूल विविध रूपों का उल्लेख ऋग्वेद में हमें मिलता है। ऋग्वेद में विष्णु अत्यन्त महत्वशील देवता नहीं है। यहाँ विष्णु इन्द्र के साथी तथा सहायक के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। किन्तु इस देवता के उज्ज्वल भविष्य की सूचना मिलने लगती है। विष्णु का लोक जाने अनजाने ऋषि कवि ने साध्य लोक के रूप में चित्रित कर दिया। साधक ही उस लोक को प्राप्त कर सकते हैं। तीन डगों में समस्त ब्रह्माण्ड को नाप लेने की बात भी आकर्षक है। वैसे ऋग्वेद में 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' के रूप में

---

* ऋग्वेद १।१५४।१

+ 'यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः' [ऋग्वेद १।१५४।६]

× 'तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते
विष्णोर्यत् परमं पदम् [ऋग्वेद १।२२।२१]

उसकी व्याख्या मिलती है। इन्द्र का सूचन रूप उपलब्ध नहीं होता। इन्द्र वीर योद्धाओं को संग्राम में विजय प्रदान कर सकता था, वज्र धारण करके वृत्रादि अनेक दानवों को नष्ट कर सकता है, शत्रुओं के नगरों को छिन्न भिन्न कर सकता है (पुरन्दर) वैसे इसी के सहारे आर्यों ने काले दस्युओं को पहाड़ियों में खदेड़ दिया था किन्तु फिर भी आगे के आध्यात्मिक तथा भावात्मक विकास में इस प्रकार के देवता का. स्थान बनना कठिन था। किन्तु विष्णु का विकास सम्भव था और हुआ।

यजुर्वेद के समय में आकर विष्णु का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। इस समय आर्यों के धर्म का रूप स्थिर हो चुका था। यज्ञ का महत्व बढ़ा 'यज्ञ' सम्बन्धी विश्वास में एक महान परिवर्तन इस समय में हो गया अब तक यज्ञ साधन रूप में प्रतिष्ठित था। यजुर्वेद में यज्ञ को सर्वशक्तिमान कहा गया। सूर्य के सम्बन्ध में यजुर्वेद में कहा गया : हे स्वयं सत्तावान, आप अति प्रशसनीय प्रकाशमय तेज देने वाले हो। + विष्णु, पूषन, मित्र आदि सूर्य के पर्यायवाची हैं अग्नि और सूर्य में भी कोई अन्तर नहीं—

ज्योतिः सूर्यो सूर्यो ज्योतिः स्वाहा
ज्योतिर्ग्निः अग्निर्ज्योतिः स्वाहा

अग्नि यज्ञ है, सूर्य यज्ञ है, किन्तु अग्नि सब देवों तक हव्य ले जाने वाली संस्था है। अतः सर्वशक्तिमान नहीं कही जा सकती। सूर्य 'स्वः' तक सीमित है सूर्य का एक विष्णु नाम ही ऐसा है जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश (भूः, भुवः, स्वः) सर्वत्र व्याप्त है। अतः विष्णु की ओर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। अतः विष्णु 'यज्ञ' कहा जाने लगा। 'यज्ञ' का पर्याय होने पर यजुर्वेद काल में विष्णु का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा।

"यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें खण्ड के आरम्भ में एक कथा लिखी हुई है। देवताओं में झगड़ा उठ खड़ा हुआ, उसमें विष्णु विजयी रहे और तब से वे सभी देवताओं में श्रेष्ठ कहे जाने लगे। उनका नाम ही श्रेष्ठ पड़ गया।

+ स्वयं भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽसि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते [यजु० द्वितीय अध्याय, २६]

यह कथा भी यही प्रकट करती है कि तब ऋग्वेद के सभी देवताओं में विष्णु की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गई।"* इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विष्णु का प्रथम उत्थान पुरोहितों द्वारा उसके यज्ञ माने जाने के कारण हुआ। यजुर्वेद काल में यज्ञ सर्वमान्य था। इस कारण से विष्णु भी सर्वमान्य हुए।

अब प्रश्न यह होता है कि विष्णु में ब्रह्मत्व किस प्रकार मिला। विष्णु परब्रह्म रूप में कब और कैसे प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार का विकास देखने से हम उपनिषदों के युग तक आ पहुँचेंगे। किन्तु उपनिषदों का सूक्ष्म ब्रह्म ज्ञान एक दम नहीं फूट निकलना होगा। उसका भी विकास हुआ है।

उपनिषद् और विष्णु—

उपनिषद् काल वस्तुतः वैदिक भौतिक कर्मकांड के प्रति क्रांति का काल था। यज्ञ प्रक्रिया में बलि की जो नृशंसता तथा विगर्हणता आ गई थी, समाज में उसके प्रति जो प्रतिक्रिया हुई उसको वाणी उपनिषद् ने दी। बहिर्दृष्टि अन्तर्मुखी हुई। सब देवताओं के पीछे एकत्व ढूँढ़ा जाने लगा। यज्ञ-बलि के प्रति क्रान्ति हुई, किन्तु इस क्रान्ति के कुछ बीज ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं। ऋग्वेद में शुनःशेफ की कथा आई है। इस कथा का संक्षेप में रूप यह है। हरिश्चन्द्र का वरुण से इस शर्त पर पुत्र माँगना कि वह उसे बलि देगा। पुत्र हुआ, बलि माँगी गई, बड़ा होने पर रोहित जंगल में भाग गया। वह ऋषि अजीगर्त के आश्रम पर पहुँचा। ऋषि का कुटुम्ब भूखा मर रहा था। उसके तीन लड़के थे—एक शुनःशेफ। रोहित ने १०० गायें देकर शुनःशेफ को माँगा। बलि की तैयारी हुई। शुनःशेफ ने सोचा कि क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ? फिर मुझे बलि क्यों चढ़ाया जाता है। उसने वैदिक देवताओं की प्रार्थना की। उषा की प्रार्थना करने पर हरिश्चन्द्र का वरुण के शापस्वरूप उत्पन्न होने वाला रोग दूर हुआ। शुनःशेफ मुक्त हुआ इस प्रकार क्रूर कर्मकांड के प्रति शुनःशेफ को क्रांति दीखती है। इसके साथ ही ऋग्वेद में कुछ लोग कहते दीखते हैं। "कौन है इन्द्र? क्या किसी ने उसे कभी देखा है? इन्द्र

---

* 'साहित्य की झाँकी': डा० सत्येन्द्र: पृ० १७

का कोई अस्तित्व नहीं है। + ऋषि लोग इन व्यक्तियों के सम्मुख इन्द्र की ओर उसके कार्यों की सत्यता सिद्ध करना चाहते हैं। × किन्तु सम्भवतः उनकी भ्रान्तिमय शंका को मिटा नहीं पाते। यही क्रान्ति के बीज उपनिषद् काल में पनर उठते हैं तथा बल ग्रहण करके भौतिक कर्मकांड के स्थान पर आध्यात्मिक 'यज्ञ' की स्थापना करते हैं। इस प्रकार के क्रान्तिकारी ऋषि वेदों में मिलने वाले अस्पष्ट आध्यात्मिक सूत्रों को संगठित करके, एक सूक्ष्म-ज्ञान, आध्यात्मिक विचारों की स्थापना करते हैं। जहाँ ऋग्वेद आदि में बहुत से देवों की कल्पना मिलती है, वहाँ इन कार्य रूप देव प्रतीकों के कारण रूप मूल की ओर बौद्धिक विकास होता दीखता है। इस बहु देवत्व के मूल की एकता के दर्शन हमें ऋग्वेद के नासदीय सूक्त* में होते हैं। इस सूक्त में अनेक साधारण-असाधारण समस्याएँ उठाई गई हैं। उनका समुचित उत्तर भी दिया गया है। इस विश्व की उत्पत्ति की विषम पहेली भी सामने आती है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद् रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः ? कुह कस्य शर्मन् ?
अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥

सृष्टि के आदि में न अस्तित्व था न अनस्तित्व, न आकाश था न स्वर्ग; किसने ढका था ? कहाँ था ? क्या उस समय गम्भीर जल ही था ? उस समय न मृत्यु थी न अमरत्व, न दिन था न रात्रि; उस समय बस एक ही था जो वायु

+ ऋग्वेद २।१२।५
× ऋग्वेद २।१५।१
* ऋ० वे० १०।१२९

के अभाव में भी अपनी शक्ति से श्वास ले रहा था। इस प्रकार से देवों के मूल में एक सत्ता का निर्देशन हमें मिलता है, अन्य कई उदाहरण भी हैं जिनसे इस प्रकार की वैदिक अद्वैतता का आभास मिलता है। ऋग्वेद में देवताओं को 'असुर' कहा गया है एक पूरे सूक्त में यही प्रतिपादित किया गया है कि सब 'असुरों' का असुरत्व एक ही है = प्रजापति की कल्पना × में भी इसी एकत्व की ओर विकास दीखता है। प्रजापति सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ। वही समस्त विश्व का निर्माण करता है, वही जीवन दाता है। उसकी आज्ञा समस्त देवता पालन करते हैं। उसकी छाया मृत्यु और अमरत्व है + इस प्रकार प्रजापति में सृजन, शासन, तथा रक्षक इन तीन गुणों की स्थापना दीखती हैं। इस कल्पना में देव-कल्पना की विशदता के दर्शन होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस देवता का स्थान बहुत ऊँचा हो गया। शतपथ ब्राह्मण में इसे ३३ देवताओं के ऊपर ३४ वाँ देवता माना गया है * उस आदि देव की सर्व व्यापकता का आभास पुरुष सूक्त ⊖ में मिलता है। वह हजार मस्तक हजार आँख हजार पैर वाला 'पुरुष' चारों ओर पृथ्वी को घेर कर भी दश अंगुल बड़ा ठहरता है। भूत, भविष्य, वर्तमान सब पुरुष ही हैं—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्

ऋग्वेदीय 'ऋत' की कल्पना से भी सत्य ब्रह्म का आभास मिलता है वही सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ। सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं। नदियाँ ऋत का ही वहन करती हैं § इस ऋग्वेदीय अध्यात्म भावना के आगे के विकास की

= ऋ० वे० तृतीय मण्डल; ५५ वाँ सूक्त

× ऋ० वे० १०।१२१

+ हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम [ऋ० १०।१२१।१]

* श० ब्रा० ५।१।२।१०

⊖ ऋ० १०।६०

§ ऋतमर्पन्ति सिन्धवः (१।१०५।१५)

ॠ १० का १; ७ वाँ तथा ८ वाँ सूक्त

स्थिति अथर्व वेद के स्कम्भ सूक्त π तथा 'उच्छिष्ट' सूक्त () में स्पष्ट हो जात है। स्कम्भ की परिभाषा मिलती है। स्कम्भ वह है जिसमें भूमि, अन्तरि आकाश समाहित है, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु जिसमें अर्पित रहते हैं + वा भूत, भविष्य, वर्तमान का अधीश है। = स्कम्भ को ज्येष्ठ ब्रह्म भी कहा गय है। 'उच्छिष्ट' नाम द्वारा भी ब्रह्म रूप का प्रतिपादन है।

इस विश्व की मूल सत्ता की एकता, व्यापकता, नियामकता के वैदिक सिद्धान्तों को लेकर उपनिषद् के ऋषियों ने अपनी भौतिक कर्मकाण्ड के प्रति हुई क्रान्ति को आगे बढ़ाया। ब्राह्मण तथा आरण्यक वह कड़ी है जो संहिता काल को उपनिषद् काल से जोड़ती है। इस बीच के काल में समाज का नव-निर्माण तथा नव-विधान हो गया था। चारों वर्णों तथा आश्रमों का विकास हो गया था।× ब्राह्मणों में यज्ञ विस्तार के साथ विश्व की यज्ञ रूप में कल्पना भी मिलती है। इन समस्त दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक विधान से प्रेरणा और स्फूर्ति लेकर एक नए युग का जन्म होता है। इस युग में विष्णु का विकास और अधिक होता है।

उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा, जीव, जगत, माया आदि पर दार्शनिक दृष्टि से विशद तथा गम्भीर विचार हुआ। चिन्तन का स्तर उच्च से उच्चतर होता गया। हमारे देश की चिन्तन परम्परा का रूप यह रहा है कि पहले किसी युग विशेष में किन्हीं महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना होती है। आगे की शताब्दियों में उसकी व्याख्या विवेचना मिलती है। वेदों की व्याख्या ब्राह्मणों के रूप में उपलब्ध होती है। उपनिषद् भी आगे के भारतीय तत्व ज्ञान के स्रोत बन जाते हैं। इसके साथ ही एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती रही है, जो विरोधी तत्वों का समन्वय करती रही है। बादरायण व्यास ने ब्रह्म सूत्र में आपातत विरोधी

π काण्ड १० : सूक्त ७, ८

() ११।६

\+ अथर्ववेद १०।७।१२

= अ० वे० १०।८।१

× तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।३

उपनिषद् वाक्यों का समन्वय किया है। इससे पूर्व अथवा इसके बाद में भी चलते रहे, अथर्वोपनिषदों को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैः पहले वे उपनिषद् जो सीधे सीधे आत्मा परमात्मा का तत्व चिंतन करते हैं, दूसरे वे जिनमें योग-विषय पर प्रकाश डाला गया है। तीसरी कोटि में आत्मा के स्थान पर शिव और विष्णु इन प्रधान देवताओं के विविध रूपों में से किसी एक रूप को रख दिया गया है। अथर्ववेद के उपनिषदों की चर्चा हमने इसलिए की कि अथर्ववेद वेद युग की अन्तिम कड़ी थी। प्रथम कोटि के उपनिषदों में 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा और सब देवों का अध पतन का निर्देश मिलता है। देवासुर संग्राम में 'ब्रह्म' की कृपा से विजय मिली। सभी देव अपनी प्रशंसा करने लगे। ब्रह्म ऐसे मिथ्याभिमान को दूर करने के लिये विचित्र परन्तु पूजनीय रूप में उत्पन्न हुआ। + 'अग्नि' उसका परिचय प्राप्त करने को गया। 'ब्रह्म' के पूछने पर अग्नि ने अपनी शक्ति की प्रशंसा की। ब्रह्म ने परीक्षा के लिए एक तिनका डाल दिया। अग्नि उसे भी न जला सका। इस कथा से हम इतना ही तथ्य निकालते हैं कि समस्त देवों की प्रतिष्ठा हिल उठी और ब्रह्म ही देवों में सर्व प्रथम हो गया।❀

दूसरी कोटि की उपनिषदों में ब्रह्म विश्वदेव के रूप में ग्रहण किया गया। रहस्य के तत्व के साथ विश्व आत्मा के रूप में ब्रह्म की प्रतिष्ठा हुई

तीसरे प्रकार के उपनिषदों में फिर स्थूलता की ओर प्रयास दीखता है। उनमें सम्प्रदायों के मूल निहित हैं। आत्मा के स्थान में विष्णु अथवा शिव के किसी रूप को रखा गया। विष्णु सम्प्रदाय के उपनिषदों में विष्णु की पूजा का प्राचीनतम रूप 'नारायण' मिलता है। 'नारायण' शब्द का सम्बन्ध यहाँ विष्णु से नहीं। अथर्वरण संस्करण की बृहज्जाबालोपनिषद में 'नारायण' के स्थान पर 'हरि' नाम मिलता है। महा-उपनिषद में सर्व प्रथम नारायण स्पष्ट रूप से विष्णु का प्रतिनिधि बन जाता है। नारायण से शूलपाणि (शिव) और

+ ते अग्निम् ब्रुवन जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति।
[केनोपनिषद् १६ ३]

❀ 'ब्रह्मा देवानां प्रथम: सम्बभूव' [अथर्व वेदीय, मुण्डक १]

ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, किन्तु विष्णु के उसमें प्रादुर्भूत होने का उल्लेख नहीं जब कि नारायणीयोपनिषद् में विष्णु भी नारायण से प्रादुर्भूत होते हैं इसके पश्चात् विष्णु का दूसरा नाम नृसिंह है। विष्णु को नृसिंह नाम से, वज्रनख तथा तीक्ष्ण-दंष्ट्र उपाधियों सहित पहले-पहल तैत्तरीय आरण्यक [१०-१-८ नारायणीयोपनिषद्] में लिखा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद में विष्णु सूर्य का पर्याय था फिर यज्ञ का अधिष्ठाता बना। उसे ब्रह्म का स्थान दिया गया : यथार्थ उपनिषद् युग के बाद के युगों में साम्प्रदायिक छाप उस पर लगी और उसका रूप नारायण, नृसिंह, राम, कृष्ण आदि में बदलने लगा किन्तु एक बात और ध्यान में रखनी है कि उपनिषदों के सगुण ब्रह्म में जिन गुणों का उल्लेख मिलता है, वे गुण विष्णु के साथ जोड़े गये।

ब्रह्म के गुणों को उपनिषदों में दो प्रकार का बताया गया है . शुद्ध स्वरूप सम्बन्धी गुण तथा तटस्थ गुण। सगुण ब्रह्म के दोनों प्रकार के लक्षण उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। शुद्ध स्वरूप से अनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है। * इसके साथ ही वह विज्ञान और आनन्द रूप है + तटस्थ गुण में वस्तु के अस्थायी, परिवर्तनशील गुणों का वर्णन किया जाता है। सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण केवल एक शब्द में किया गया है—'तज्जलान' × इस शब्द में तीन शब्दों का संक्षेप किया गया : तज्ज, (जगत ब्रह्म से उत्पन्न है) तल्ल (उसी में लीन हो जाता है) तथा तदन् (उसी के कारण स्थिति काल में प्राण धारण करता है) इन गुणों के साथ ही ब्रह्म की तीन शक्तियों का उल्लेख मिलता है : ज्ञान शक्ति, बल शक्ति, तथा क्रिया शक्ति + कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं गुणों और शक्तियों से सम्पन्न होकर विष्णु संसार के शासक, जगत के भाग्य विधाता, लोक कल्याणकारी आदि रूप में प्रतिष्ठित हुए। यही कारण है

* 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तैत्ति० उप० २।१]

+ 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृह० उप० ३.९।२८]

× 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' [छा० उप० ३।१४।१]

+ परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वेता० उप० ६.८)

कि विष्णु का विकास लोक की ओर आरम्भ हो गया था। उक्त गुणों और शक्तियों को महामानव में आरोप कर देने से पूर्ण मानव रूप में राम, कृष्ण आदि स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं जो वस्तुतः विष्णु के अवतार हैं : गुणावतार !

इस अवतार-कल्पना की जहाँ दार्शनिक व्याख्या हो जाती है वहाँ लोक-प्रवृत्ति की दृष्टि से भी व्याख्या हो सकती है। आजकल लोक-साहित्य के अन्तर्गत इसके अनेक स्थलों पर दर्शन होते हैं। 'आल्हा' को युधिष्ठिर का अवतार माना जाता है। इसी प्रकार ऊदल, मलिखान आदि को अर्जुन आदि का अवतार कहा जाता है। किन्तु लोक जिन गुणों के आधार पर अवतार-कल्पना करता है वे गुण अधिक सूक्ष्म न होकर स्थूल आचार से विशेष सम्बन्धित होते हैं। इस प्रवृत्ति के अनुसार महत्व का आरोप नहीं हो सकता। 'राम-कथा' के आगे के विकास में हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि लोक गाथाएँ कितनी सहायक रहीं और बौद्धिक चिन्तन कितना ?

उक्त दार्शनिक व्याख्या से सीता, राम, हनुमान, सुग्रीव आदि के मूल के सम्बन्ध में कुछ जानने की चेष्टा की गई है। विष्णु के साकार रूप गुण से युक्त रूप और सीता के रूप का लोक-जीवन से अधिक सम्बन्ध था। एक समस्त प्राणियों का भाग्य विधाता तो दूसरी अन्नदात्री माता। लोक जीवन से घनिष्ट उक्त चरित्रों के सूक्ष्म स्वरूप तक लोक की गम नहीं थी। वेदों के समय में जो भावनाएँ मिलती हैं, उनमें से कुछ को छोड़कर, अधिकांश लोक-साधारण भावनाएँ हैं। किन्तु उपनिषदों तक आते-आते वनों में रहने वाले तपस्वियों तथा चिन्तन के धनी ऋषियों का मानसिक विकास असाधारण गति से होता है। इस प्रकार इस युग में लोक का अधिकांश भाग इस उच्च विचारकता की दौड़ में पीछे रह जाता है, इस पिछड़े वर्ग में, जैसा कि विकास का नियम है, उच्च बुद्धि जीवी वर्ग के प्रति एक असन्तोष सा होता है। उस असन्तोष से उस क्रान्ति का जन्म होता है जो बुद्धिजीवी वर्ग को छोड़कर भौतिक जीवन की प्रतिष्ठा करती है। अतः उस ब्रह्मवाद के युग में वे बीज उत्पन्न हो गये होंगे जिनका परिपक्व रूप चार्वाक दर्शन में मिलता है। इन विषैले बीजों से लोक

की रक्षा करना नेताओं की एक समस्या हो जाती है। इसके लिए एक कड़ी की आवश्यकता होती है जो उस बुद्धिजीवी वर्ग को पिछड़े वर्गों से सम्बद्ध करदे। यदि ऐसा नहीं होता तो पिछड़े वर्ग में उत्पन्न हुई क्रान्ति सफल हो जाती है। इस सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए लोक की नाड़ी को पहचानना आवश्यक होता है। इस युग में उस दार्शनिक विचारों को लोक गम्य बनाने की समस्या के सुलझाने में ऊपर कही हुई प्राकृतिक तत्वों के आधार पर बनी हुई लोक-कथाओं का उपयोग सहायक हो सकता था। आवश्यकता इस बात की थी कि प्रचलित लोक-कथाओं तथा प्रकृतिक कथाओं के समस्त उपकरणों को एकत्रित करके, उनमें कुछ इतिहास के तत्व जोड़ कर पूर्वजों और वीरों की पूजा के भाव लोक में उत्पन्न कर दिए जायँ तथा सदाचार की वैदिक मान्यताओं को उन ऐतिहासिक पूर्वजों के चरित्र में आकर्षक रूप में जोड़ दिया जाय तथा उसी कथा के सहारे कुछ अध्यात्म की चर्चा भी हो जाय। इतिहास का यह तकाज़ा था कि लोक-रुचि को आकर्षित करने के लिए वैकुण्ठ में स्थित ब्रह्म, गो लोक के क्रीड़ाशील विष्णु तथा सर्वव्यापक शक्ति को मानव रूप में समाज में अवतरित किया जाय। इसी कार्य के सम्पादन के लिए हमारे देश में महाकाव्यों का जन्म हुआ। 'रामायण' इसी प्रकार के प्रयत्न की मूर्तिमान सफलता है। 'सीता' को जनक पुत्री कह दिया गया : 'विष्णु', दशरथ-सुत हो गए। जनक और दशरथ वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं—इतिहास का अर्थ यहाँ केवल आधुनिक दृष्टि से नहीं है, पौराणिक दृष्टि से भी है। इस प्रकार वैदिक तथा लौकिक को बटोर कर, उनका समन्वय 'रामायण' के रूप में बाल्मीकि ने किया।

बाल्मीकि इस प्रकार से एक युग-प्रवर्तक कवि कहे जा सकते हैं। उनके समय से वेदों तथा उपनिषदों के दिव्य तथा अलौकिक चरित्रों, काव्य तथा कल्पनाओं को लौकिक रूप दिया जाने लगा। बाल्मीकि ने यह

बाल्मीकि

समझा कि समाज के पास कवि हृदय था "जिस कवि हृदय ने आदि वैदिक काल में उद्दाम हृदाम की उफनती हुई भावनाओं से प्रकृति के व्यापारों के रहस्य को 'रूप' दिया, उनमें अपना निकटत्व स्थिर किया, एवं उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाओं की सृष्टि कर दी, वही

कवि हृदय इस समय यज्ञ के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेष्ट था। ऐसे ही युग में 'महाभारत' और 'रामायण' का जन्म हुआ।"* लोक के इसी कवि हृदय की साकार झंकार आदि कवि वाल्मीकि थे। लोक प्रचलित कथाओं तथा सदाचार, आचार, चरित्र के तत्वों से आदि कवि ने अपनी कल्पना को मांसल बनाया, वाल्मीकि के रूप में पुनः यज्ञविद्या लोकाभिमुख हुई।

जब वाल्मीकि ने लोक की शाश्वत भावनाओं का दार्शनिक रंग देकर जन-जन के हृदयटल पर अंकित कर दिया, तब उन्होंने इस 'राम कथा के सम्बन्ध में यह भविष्य वाणी की—

> यावत् स्थास्यन्ति गिरयः
> सरिताश्च महीतले
> तावत् रामायण कथा
> लोकेषु प्रचरिष्यति

आदि कवि की यह भविष्य वाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हो रही है। लोक जीवन और 'रामायण' में इतनी अभिन्नता हो गई है कि एक को दूसरे से अलग कर सकना सम्भव नहीं। किन्तु वाल्मीकि ने यह भविष्य वाणी व्यर्थ नहीं की थी। उन्होंने इस कथा-शृङ्खला में वे अमर कड़ियाँ जोड़ी थीं, जो युगों के प्रवाह को झेलती हुई आज भी सुरक्षित है। इस कथा ने अपना जीवन लोक के अमर स्रोतों से ग्रहण किया है।

ऐतिहासिक तत्व

इतिहास ने इसको बल दिया है। इतिहास अथवा पुराण की वंशावलियों के आधार पर दशरथ अज पुत्र थे। + इन्हीं दशरथ के घर राम का अवतार हुआ। दशरथ को इन्द्र सखा भी कहा गया है। दशरथ का इतिहास कालिदास के रघुवंश में अधिक सुस्पष्ट हो जाता है। रघुवंश ने लिखा है कि दशरथ की तीन रानियाँ थीं। ये तीनों मगध, कोशल और केकय देश की राजकुमारियाँ थीं। सुमित्रा मागधी थीं, कौशल्या दक्षिण कौशलराज की कन्या थीं और

---

* साहित्य की झाँकी : डॉ० सत्येन्द्र पृ० २८-२६

+ वनपर्व २५८।६; बुद्ध चरित ८।७६, रामायण बालकाण्ड ११।८

कैकेयी कैकय देश की राजकुमारी थीं। S अनर्घराघव नाटक में भी कोसलराज की राज कन्या का उल्लेख मिलता है।☸ दशरथ के चार पुत्र और शान्ता + नामक एक कन्या थी। इन ऐतिहासिक तत्वों का हमें बाल्मीकि से पीछे के साहित्य तथा बाल्मीकि रामायण में उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के ऐतिहासिक तत्व मिलाकर वैदिक प्राकृतिक रूपकों को सजीव तथा मानवीय रूप में बाल्मीकि ने खड़ा किया। अनेक विद्वानों का मत है कि बिना ऐतिहासिक तत्व मिले पुराण गाथा का रूप खड़ा नहीं होता। 'लायल' महोदय ने लिखा है—आख्यान या गाथा में कथा तत्त्व तो होते ही हैं, इनके साथ ही ऐतिहासिक तथ्य भी समाविष्ट होता है। नहीं, कथा और कल्पना का मूल बिन्दु ऐतिहासिक तथ्य अथवा घटना होती है। यह लेखक मानता है कि धर्म गाथा के जन्म के समय मनुष्य इतिहास और कल्पना-कथा में अन्तर नहीं कर पाता था। अतः धर्म गाथाओं में इतिहास तथा लोक-गाथाओं के तत्व मिल जाते हैं। × रामायण की कथा का विकास भी इतिहास के केन्द्र पर कल्पना तथा लोक-गाथा का पुट लगने से हुआ है। 'वेबर' और 'लासेन' ने रामायण को आर्यों के दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व में विस्तार का रूपक माना है। उनके कथन को अंशतः सत्य इस धरातल पर माना जा सकता है कि दशरथ का इतिहास इसी बात का द्योतक है। सुमित्रा (मागधी) तथा कौशल्या (कोशल देश की) के विवाह की बात यह सिद्ध करती है। इसके साथ ही रामायण में एक देवासुर संग्राम का उल्लेख मिलता है।÷ इस वर्णन से ज्ञात होता है कि दण्डकारण्य के दक्षिण भाग के पास एक वैजयन्तपुर था। वहाँ तिमिध्वज शम्बर राज्य करता था। उसने युद्ध के लिए इन्द्र को निमन्त्रित किया। इन्द्र उसे हराने में असमर्थ रहा। उसने उत्तरी भारत के राजाओं से सहायता माँगी। उनमें एक दशरथ भी थे। इस

S रघुवंश ६।१७
☸ अनर्घ राघव नाटक, मुरारि, अङ्क १ श्लोक ५६ के पश्चात्
+ मत्स्य पुराण ४८।६४
× Asiatic Studies (second series) अध्याय ६
÷ लाहौर संस्करण अयो० कां० ११।११; मद्रास संस्करण ६।११

कथा से दशरथ नामक आर्य राजा का दक्षिण तक प्रसार सिद्ध होता है। यह देवासुर संग्राम वस्तुतः आर्य और अनार्यों का युद्ध ही था इसके साथ ही इस कथा से दशरथ के शौर्य और महत्व का भी ज्ञान होता है। इस महत्व में ही इस बात का कारण निहित है कि क्यों विष्णु राम के रूप में दशरथ के ही घर अवतरित हुए! लोक की प्रवृत्ति होती है कि जिस राजा के प्रति उसमें वीर पूजा का भाव जाग्रत होता है, उसके साथ लोक में प्रचलित समस्त महत्वपूर्ण, अलौकिक घटनाएँ वह जोड़ देती हैं जो विक्रमादित्य (विक्रमाजीत) भोज, नल ढोला, अकबर आदि केन्द्रों के आसपास आज अनेकों कथाएँ जुड़ी मिलती हैं। यही प्रवृत्ति यहाँ काम कर रही थी। 'राम' के साथ दिव्यता जोड़ दी गई। इसके साथ ही दशरथ और रावण में परस्पर बैर भाव के बीज भी शिवपुराणऽ में मिलते हैं। मय असुर मन्दोदरी का दशग्रीव से विवाह कर देता है। इस रावण के सम्बन्धी शबर का दशरथ द्वारा पराजित होना, रावण दशरथ में वैरभाव का कारण हो सकता है। इस प्रकार के ऐतिहासिक विन्दु पर वैदिक युग के दिव्य पात्र विष्णु के राम अवतार का आरोप करके कथा खड़ी हुई।

राम तो अपनी माता कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न हुए, किन्तु 'सीता' का जन्म मा के गर्भ से नहीं हुआ। उसकी उत्पत्ति वैदिक रूप में ही अविकल रही, यद्यपि आकाश वाणी द्वारा जनक उसके पिता घोषित किए गए।‡ इस प्रकार सीता दिव्य चरित्र का सम्बन्ध भी जनक 'ऐतिहासिक' व्यक्ति से हो गया, वैदिक प्राकृतिक कथा के पात्र ऐतिहासिक धरातल पर उतर आए। किन्तु वाल्मीकि जी प्रथम लौकिक कवि कहे जाते हैं। इसलिए यह समस्त प्रतिभा व्यापार शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं हुआ, लोक की वीर पूजा-भाव के आधार पर हुआ। लोक की कल्पना शक्ति ही वाल्मीकि में समाई थी। इसी कल्पना शक्ति ने आगे का रूप खड़ा किया।

वैदिक दिव्य पात्रों के अवतरित रूप के अतिरिक्त, कुछ वैदिक व्यक्तित्व सीधे ही राम कथा में आ गए। इस प्रकार के व्यक्तियों में अगस्त्य विश्वामित्र

ऽ शिव-पुराण ६।१३

‡ वा० रामायण बंगाल संस्करण III, 4, 10

भारद्वाज, अत्रि, वशिष्ठ आदि ऋषि आते हैं। ये सभी ऋषि वैदिक साहित्य के सृजन में सहयोग दे रहे थे। इस प्रकार वाल्मीकि जी ने अपनी रामकथा खड़ी करने के लिए वैदिक पात्रों को दो रूपों में ग्रहण किया। एक अवतरित में, दूसरे सीधे पात्रों के रूप में। इसलिए हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि की पात्र कल्पना का बहुत कुछ आधार वैदिक साहित्य है। किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भुला देना है कि राम-कथा के इस वैदिक ढाँचे पर रक्त-मांस लोक के स्रोत से चढ़ा, जिसने 'आदिकवि' को प्रथम लोक-कवि बना दिया।

अब प्रश्न यह उठता है कि वाल्मीकि जी से पूर्व अथवा उनके समय में क्या कुछ लौकिक रूप भी प्रचलित थे। यदि लोक में भी राम-कथा के कुछ रूप मिल जायँ तो वाल्मीकि के लोक-स्रोत पर हम आ पहुँचेंगे। लौकिक कथा का विकास दो प्रकार से होता है। एक तो कोई साहित्यिक कृति लोक में दूसरा रूप ग्रहण करले तथा दूसरा यह कि लोक-कथा भी उसी स्रोत से निःसृत हुई हो जिससे कि साहित्यिक कृति की कथा। कभी-कभी लोक-प्रचलित रूप साहित्यिक कथा रूप से बिल्कुल भिन्न हो जाता है। यदि साहित्यिक-कृति लोक-कथा का रूप धारण करती है तो मूल ढाँचे में परिवर्तन नहीं होता, केवल उसकी सजावट लोक-तत्वों से होती है। जब साहित्यिक कृति तथा लोककथा का स्रोत एक हो, तब इन दोनों के मूल ढाँचे में भी परिवर्तन हो जायगा। इसका कारण यह है कि कार्य कारण-परम्परा खड़ी करने में दोनों प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं। राम कथा के हमें दोनों लोक-रूप प्राप्त होते हैं। ये रूप वेदों के तथा वाल्मीकि के समय में अवश्य ही प्रचलित रहे होंगे। लोक साहित्य के परम मर्मज्ञ देवेन्द्र 'सत्यार्थी' का कहना है, "कदाचित् 'रामायण' की रचना के पूर्व ही रामचरित्र देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक विख्यात हो गया था। राम केवल अयोध्या के ही नहीं सारे देश के राम बन गये थे। माताएँ अपने शिशुओं में राम की भावना करने लगीं'''"* अब हम लोक-प्रचलित रूपों का कुछ आभास देना आवश्यक है किन्तु इसके पूर्व यह बात ध्यान में रखनी है कि जो लोक प्रचलित रूप आधुनिक

---

* 'उड़िया ग्राम साहित्य में रामचरित्र', ना० प्र० पत्रिका (सं० १९९१) भाग १५ : पृ० ३१८

प्रान्तीय बोलियों में मिलते हैं, वे इसीलिए नवीन नहीं कहे जा सकते कि वे आधुनिक बोलियों में लिखे हैं। यह तो लोक मनोविज्ञान है कि नवीन बोली के प्रचलन में विकसित होने के समय ही पूर्व का साहित्य जो लोक के अनुकूल है, विकसित रूप में उतरता आता है। उसकी सजावट में स्थानीय तथा सामयिक कारणों से परिवर्तन हो सकता है किन्तु मूल ढाँचे में अन्तर नहीं होता। लोक प्रचलित प्राचीनतम रूपों का आभास हम इन्हीं प्रचलित लोक साहित्य रूपों में पा सकते हैं। क्योंकि लोक-साहित्य का इतिहास नहीं लिखा जाता है, अतः संसार के प्रसिद्ध लोक साहित्य विशेषज्ञों ने इसी प्रणाली को अपनाया है।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि बौद्ध जातकों का प्रमुख स्रोत लोक में प्रचलित कथा-गाथा हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म तथा साहित्य का लोक से घनिष्ट सम्बन्ध रहा। उनका कार्य-क्षेत्र भी लोक ही था। अतः राम-

दशरथ जातक

कथा का जो रूप जातकों में मिलता है, उसका स्रोत लोक कथा ही होगा। जातक साहित्य में केवल एक जातक राम-कथा कहता है—वह है 'दशरथ जातक' यहाँ संक्षेप में दशरथ-जातक की कथा दे देना आवश्यक प्रतीत होता है जिससे उस राम कथा पर समुचित विचार हो सके। दशरथ जातक की कथा इस प्रकार है: एक समय बनारस में दशरथ नाम का राजा था। उसके १६००० रानियाँ थीं। सबसे बड़ी रानी के दो पुत्र—राम-पंडित और राजकुमार 'लक्खन' तथा एक पुत्री 'सीता' थी। सबसे बड़ी रानी मर गई। दूसरी रानी पटरानी बनी। यह नवीन पटरानी, राजा को बहुत प्रिय थी। उसके भरत नामक लड़का हुआ। राजा भी भरत को प्यार करते थे। रानी से दशरथ ने वरदान मांगने को कहा। रानी ने फिर कभी मांगने के लिए कहा। जब भरत सात बरस का हुआ तब रानी ने राजा के पास जाकर पूर्व-वरदान की बात चलाई और अपने बेटे के लिए राज-सिंहासन माँगा। राजा ने उससे क्रोध में कहा। मेरे अन्य दो पुत्र भी अग्नितत्व दीप्तिमान हैं, क्या उनको मार दोगी ? और अपने पुत्र को राजगद्दी ! किन्तु रानी अपनी हठ पर आरूढ़ रही। राजा ने सोचा स्त्रियाँ कितनी कृतघ्न और नृशंस होती हैं। यह स्त्री भी अविश्वसनीय है। यह भी रिश्वत से मेरे पुत्र को मरवा सकती है। इस अविश्वास-कीट के मन में प्रवेश करते ही उन्होंने 'राम' 'लक्खण' को अपने

पास बुलाया। सारी बातें कहीं। अन्त में कहा : पुत्रो तुम्हारा यहाँ रहना एक दुर्घटना की सूचना दे रहा है। किसी अन्य पड़ोसी राज अथवा जंगल में चले जाओ। जब मेरा शरीर जल जाय, तब तुम राज्य-गृहण करना। राजा ने ज्योतिषियों को बुला भेजा; आने पर उनसे अपना मृत्यु-समय पूछा। ज्योतिषियों ने अभी १२ वर्ष की आयु और बताई; राजा ने राम से १२ वर्ष बाहर रहने का आदेश कर दिया। राम रोते हुए महल से बाहर निकल गए। सीता भी उनके साथ चलीं। लक्ष्मण (लक्खन) तथा अन्य नगर-निवासी भी साथ चले। उनको जैसे तैसे वापस किया। वे हिमालय के पूर्व तक चले। खाने-पीने की सुविधा देख कर कुटी बनाई। कंद मूल-फल खाते थे। लक्ष्मण और सीता ने राम से कहा : तुम हमारे पिता के समान हो। अतः तुम कुटी में रहो। हम फल एकत्र करके लाएँगे। इस प्रकार वहां रहने लगे। इधर राजा ने पुत्र-शोक के कारण नवम वर्ष में ही प्राण त्याग दिए। संस्कारोपरान्त उन्हें टीका देने की बात चली। सभासदों ने कहा : सिंहासन उनका है जो वनवासी हैं। पांचों 'राजचिन्ह' लेकर सेना सहित भरत वन को चला। कुटी से कुछ ही दूरी पर डेरे डाले। भरत अपने समासदों सहित राम से मिलने उस समय गये जिस समय लक्ष्मण और सीता वहाँ नहीं थे। भरत ने राम से राजधानी की समस्त घटनाएँ कहीं। राम को न तो हर्ष हुआ, न विषाद्। जब लक्ष्मण और सीता लौटे तब पिता मरण का समाचार उनसे एक दम न कहने के आशय से उन्हें एक जलाशय में घुसने को कहा। जब वे पानी में खड़े हो गए तब बनारस का समाचार सुनाया। सुनकर वे दोनों बहुत दुखी हुए। सभासद उन्हें उठा लाए। भरत ने राम के दुखी न होने का कारण पूछा। इस पर राम ने उपदेश दिया। अन्त में बनारस लौट चलने की बात चली। राम ने कहा : पिता की आज्ञा १२ वर्ष की है। तीन वर्ष पश्चात् आऊँगा। तब तक राज्य कौन करेगा? खड़ाऊँ मांगी गईं। भरत-लक्ष्मण-सीता ने पादुकाएँ लीं : नमस्कार किया : और नगर वासियों सहित बनारस आ गए। तीन वर्ष तक पादुकाओं ने राज्य किया। जब न्याय ठीक नहीं होता था तो खड़ाऊँ आपस में बजने लगती थीं। न्याय ठीक होने पर शान्त रहती थीं। तीन वर्ष पश्चात् राम भी आ गये। स्वागत हुआ। सीता को पटरानी बना दिया गया। राम ने १६००० वर्ष तक धर्म राज्य किया। अन्त में बुद्ध जी कहते

है : राजा दशरथ शुद्धोदन थे। महामाया ही राम की माता थीं। राहुल की माता सीता थीं। आनन्द ही भरत था। और मैं स्वयं 'राम' पण्डित था।*

इस जातक की तुलना जब वाल्मीकि की रामकथा से की जाती है तो उसकी अपेक्षा यह अधिक सुलझी हुई तथा सरल दीखती है। इसमें स्पष्टतः वाल्मीकीय रामकथा का पहला अंश ही है। रावण—वध की कथा इसमें नहीं जुड़ी है। यदि इस कथा का वाल्मीकि रामायण से कोई सम्बन्ध होता तो इसका रूप इतना विचित्र नहीं होता। इसका स्रोत लोक प्रचलित कहानियाँ हैं। वाल्मीकि पहले हुए अथवा बुद्ध, इस विचार से यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं। भगवान बुद्ध ने तो अपने पूर्व जन्मों की कथाएँ कही हैं। इस प्रकार यह कथा भगवान् बुद्ध से पूर्व अवश्य प्रचलित रही होगी। इस कथा को विकास की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण से पूर्ववर्ती रूप माना जाना चाहिए। इस बात की सिद्धि प्रमुखत एक घटना से होती है। दशरथ जातक में सीता और राम बहन भाई बताए हैं। अन्त में राम की पटरानी 'सीता' को बना दिया गया है। इस प्रकार के बहन भाई के विवाह बिल्कुल आदिम स्थिति की बात है। बहन-भाई के विवाह की सूचना ऋग्वेद के प्रसिद्ध यम यमी सवाद से मिलती है। किन्तु इस सवाद से यह भी सूचना मिलती है कि ऋग्वेद काल में आचार-धर्म की दृष्टि से इस प्रकार का विवाह निन्दा जनक कहा जाता था। रामायण युग तक तो आचार-शास्त्र सुव्यवस्थित हो गया था। उसके पश्चात् बहन भाई विवाह सभव नहीं रहे। इस प्रकार सीता राम को भाई बहन बताकर अन्त में उनका विवाह सम्पन्न करा देने की घटना मानव विकास की अत्यन्त आदिम अवस्था की सूचना देती है। इस दृष्टि से देखने पर दशरथ जातक लोक म बहुत प्राचीन-काल से प्रचलित रहा होगा। किन्तु जातक के प्राप्य रूप पर कुछ आदर्शों का आरोप युग की छाप है। भगवान् बुद्ध ने यह कथा एक ऐसे व्यक्ति को सतोष देने के लिए कही थी जो अपने पिता की मृत्यु से शोकाकुल था। अत इस कथा से जिस आदर्श की ओर बुद्ध जी का निर्देश है, वह है सम भाव। 'राम' चित्रकूट

*'Ramayana in China' (Dr. Raghu Vira and Chikyo yamamoto) में दिए दशरथ जातक के आधार पर

पर भरत से पिता-मरण का समाचार सुनकर अविचलित रहते हैं। न हर्ष, न शोक। इस आदर्श का आरोप अमर हो गया। आगे की कथाओं में यह आदर्श रामकथा का एक आवश्यक अंग बन गया। वाल्मीकि ने कहा।

ने चैव रामः प्रविवेश शोकम्

अथवा:—

श्रुत्वा न विव्यथे रामः

तुलसी की कौशल्या भी भरत को बन-गमन के समय राम की मानसिक स्थिति बताती हैं—

मुख-प्रसन्न मन रंगन रोषू
सब कर सब विधि करि परितोषू*

इस प्रकार यह आदर्श रामचरित्र का मुख्य तत्व बना, इस आदर्श का सम्बन्ध जीवन के आचार से है। आचार में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास विकास की आगे की स्थिति की सूचना देता है। इसके साथ ही भरत के चरित्र की त्यागशीलता का भी परिचय इस कथा से मिलता है। भरत ने राज्य ग्रहण नहीं किया। भरत की रामभक्ति की उच्चता पादुकाओं के राज्य की घटना से विदित है। इस प्रकार राम कथा के ढाँचे में आदर्शों का रंग विन्यास लोक में गौरव हो गया था। भरत और राम के चरित्र काफ़ी कुछ सजीव हो गये थे। लक्ष्मण और सीता के चरित्र अवश्य कुछ अविकसित रहे। दशरथ का पुत्र प्रेम में प्राण त्याग प्रेम की उच्चता का प्रमाण हो चुका था।

वाल्मीकि जी ने लोक में पले-पले इस आचार-मूलक आदर्श को ग्रहण किया। किन्तु उस युग में मन की इस अवस्था को आदर्श माना ही गया था। गीता में कृष्ण जी जीवन्मुक्त के लक्षण देते हुए मन की इस स्थिति का उल्लेख करते हैं। भक्ति-ज्ञान-वैराग्य सभी अवस्थाओं के बीच इस सम भाव की प्रतिष्ठा हुई। अतः यह कहा जा सकता है इस आदर्श का स्रोत लोक नहीं बुद्धिवादी वर्ग ही है। किन्तु वाल्मीकि जी ने इस आदर्श के साथ कुछ यथार्थता भी रखी है। उस यथार्थता का स्रोत अवश्य ही लोक कहा जायगा। जहाँ वाल्मीकि जी ने 'न चैव रामः प्रविवेश शोकम्'। तथा 'श्रुत्वा न विव्यथे राम.' लिखा वहाँ

*राम० च० मा० : अयोध्या० कां० : दो० १६१

आगे इस आदर्श की भूमिका में लिखा है कि जब 'राम' वनवास की आज्ञा के पश्चात् एकांत में सीता से मिलते हैं, तब उनका मौन टूट पड़ा था। उनकी मुख मुद्रा से सीता जी किसी भविष्य दुर्घटना की सूचना पा लेती हैं—

अपश्यत् शोक संतप्त
चिन्ता व्याकुलितेन्द्रियम्
तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मो
न शशाक मनोगतम्
तं शोकं राघवश्शोढ़ु
ततो विवृततां गतः

इसके साथ ही जब चित्रकूट पर भरत रहते हैं, तब कैकेयी के प्रति उनके शब्द रहते हैं।

मातरं रक्ष कैकेयीं
मा रोषं कुरु तांप्रति

किन्तु जब आगे अनेक कुयोगों का सामना उन्हें करना पड़ता है, तब कैकेयी के प्रति उनकी भावना कुछ और ही प्रकार की हो जाती है—

कैकेय्यास्तु सुसम्पन्नं, क्षिप्रं अद्यैव लक्ष्मण
अद्य दानीं सकामा सा, या माता मा मध्यमा

इस प्रकार के उद्गार हैं। आदर्शों के साथ लोक तत्वों को सजा देने से ही वाल्मीकि आदि लोककवि हो गये। इसके अतिरिक्त 'दशरथ-जातक' में जो रामकथा वर्णित है उसका स्रोत अवश्य ही लोक है। क्योंकि सीता हरण से रावण-वध तक की कथा का कुछ न कुछ रूप ऋग्वेद में मिल जाता है। इस बात को हम भली प्रकार देख चुके हैं। किन्तु राजा दशरथ के दरबार वाली कथा वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। अतः वाल्मीकि जी ने कथा का आरम्भिक भाग भगवान् बुद्ध की ही भाँति लोक से लिया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सीता हरण से रावण-वध तक की कथा लोक में प्रचलित नहीं थी। वह कथा वैदिक प्राकृतिक रूपक होते हुए भी लोक में कहानी बन गई थी। इसका प्रमाण हमें चीन में प्राप्त रामकथा से पूर्णरूपेण मिल जाता है।

चीन में राम-कथा दो रूपों में प्राप्त होती है। एक रूप तो 'दशरथ-जातक' के अनुवाद का है।* किन्तु 'दशरथ जातक' से कुछ मौलिक अन्तर इस कथा में है। इसमें १६००० रानियों का उल्लेख नहीं है।

चीन मे राम-कथा

पटरानी के 'रा-म' (mod. cho. lo mo) दूसरी के रा मन (mod. ch, loman), तीसरी के 'प-र-द' (mod, ch. po. lo, ta. सं, भरत) तथा चौथी के शत्रुघ्न नामक पुत्र हुए। राजा एक बार बीमार पड़ा। उसने राम को गद्दी पर बिठाया। तीसरी रानी के कहने से राम को गद्दी से उतारा। क्योंकि राजधर्म में 'एक-वचन' की नीति थी× लक्ष्मण ने राम से कहा कि इतनी शक्ति रहते हुए भी तुम इतना अपमान क्यों सहते हो। राम ने कहा पिता तथा माता की आज्ञा है। भरत बहुत ही नम्र हैं। वह बुरी इच्छा नहीं रखता। दोनों लड़कों को १० वर्ष का वनवास दिया। भरत ने लौटने पर अपनी मा की करतूतों पर खेद प्रकट किया। भरत सेना सहित राम के पास गया। लक्ष्मण ने राम से कहा: आप भरत की सदैव प्रशंसा किया करते थे। आज हमें यह मार डालने को आया है। भरत ने मिलने पर बताया कि सेना लाने का कारण मार्ग में चोर और डाकुओं का भय है। अन्त में राम को पिता की आज्ञा पर दृढ़ देख कर 'भरत ने चर्म पादुकाएँ' मांगी। उन्हीं पादुकाओं ने १२ वर्ष राज्य किया। भरत प्रातः सायं उनकी पूजा किया करता था। १२ वर्ष पश्चात् राम लौट आये। बहुत आना कानी करने पर भी भरत ने उन्हें राज्य दे दिया। भरत की माता के प्रति कोई ईर्ष्या भाव शेष नहीं रहा। उन्हीं आदर्शों की रक्षा करने से 'राम राज्य' की समृद्धि का वर्णन इस प्रकार किया है।—

---

* आगे के विवरण के लिए देखिए: Ramayan in China Dr. Raghuvira p. 5.

× वही 'Again in Rajdharma there is no law of two words.

= Formerly you have always praised the younger brother Ba-ra-da for his faithfulness, deference, reverence and obedience he has come leading an army. He wants to kill us, his own brothers.' (वही पृ० ५)

"On account of this loyalty, and fidelity to parents, wind and rain came in due season. The five cereals ripened in abundance. People had no disease. All people in yem-bu-dail (सं० जम्बू द्वीप) were thriving and grew richer ten times than before.'. +

इस प्रकार स्पष्टतः हमें भारतीय तथा चीनी दशरथ-जातकों में अन्तर मिलता है। जहाँ दशरथ-जातक में राम की मानसिक सम-भाव अवस्था पर ज़ोर दिया गया है, वहाँ इस चीनी कथा में भरत की भ्रातृ-भक्ति तथा राम की आज्ञा कारिता पर अधिक ज़ोर है। आदर्शों की रक्षा का परिणाम सुख समृद्धि पूर्ण राम राज्य होता है। आदर्शगत अन्तर के साथ ही मूल ढाँचे में भी अन्तर है। नीचे की तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा—

चीनी दशरथ जातक	भारतीय दशरथ जातक
१. राजा दशरथ की चार रानियाँ। चारों के एक एक पुत्र सीता का उल्लेख नहीं : शत्रुघ्न चतुर्थ रानी का पुत्र था।	१. राजा की १६००० रानियाँ, सबसे बड़ी के राम लक्ष्मण तथा सीता सन्तान थीं, दूसरी रानी के भरत, शत्रुघ्न का उल्लेख नहीं।
२. राम की माता वनवास के समय जीवित।	२. सबसे बड़ी रानी वनवास से पूर्व ही मर गई।
३. केवल राम लक्ष्मण का वनवास।	३. राम-लक्ष्मण-सीता तीनों का वनवास
४. भरत का सेना सहित राम के पास आना।	४. भरत का सेना सहित राम के पास जाना, उस समय लक्ष्मण तथा सीता अनुपस्थित।
५ लक्ष्मण का भरत के प्रति अविश्वास तथा क्रोध का प्रदर्शन।	५. इसका उल्लेख नहीं।
६. सीता का कोई उल्लेख नहीं।	६. सीता राम की पटरानी बना दी गई।

+ वही p. 6.

विकास की दृष्टि से देखने पर एक महान् अन्तर इन दोनों कथाओं में दीखता है। चीनी, दशरथ जातक में राम में 'नारायण' के गुणों का आरोप मिलता है। राम में 'नारायण' की शक्ति और बल थे × वह शब्द वेधी थे। उनकी कोई समानता नहीं कर सकता था। इस अवतार तत्व के मिलाए जाने से यह रामकथा के विकास की स्थिति की सूचना देता है। इससे एक और बात सिद्ध होती है कि चीनी जातक भारतीय जातक का अक्षरशः अनुवाद नहीं है। उसका स्रोत अवश्य ही लोक है।

किन्तु इस कथा में अभी सीताहरण का कथांश नहीं जुड़ा। उक्त दोनों जातकों म इस तत्व का अभाव है। किन्तु चीन में एक और जातक मिलता है जिसका नाम 'अनामक जातक' है। इस जातक में

अनामक जातक

सीता हरण की कथा जुड़ गई है। संक्षेप में यह कथा इस प्रकार है + एक बार बोधिसत्व एक बड़ा राजा हुआ। उसकी मा का भाई भी राजा हो गया। जहाँ बोधिसत्व सहानुभूति और दया की नीति से राज्य करते थे, वहाँ उनके मामा की नीति अधर्म और अत्याचार की थी। उसने बोधिसत्व का राज्य छीन लेने के लिए एक बड़ी सेना बनाई। बोधिसत्व के मन्त्रियों ने भी सेना एकत्र की। बोधिसत्व ने इतना विनाश केवल अपने लिए कराना उचित नहीं समझा। मन्त्रियों को राज्य देकर बोधिसत्व अपनी रानी सहित भाग गये। उनके मामा ने उनका राज्य ले लिया। जो न्याय-प्रिय और सच्चे थे। उनको मारकर अन्याय से राज्य करने लगा।

बोधिसत्व पहाड़ी जंगलों में रहे। वहाँ एक समुद्र में 'नाग' था। उसको रानी का सुन्दर मुख प्रिय था। वह ऋषि का वेश धारण करके, समाधिस्थ हो बैठ गया। राजा को उस पर आस्था हुई। वे नित्य प्रति फल लाकर उसकी भेंट करते थे। 'नाग' उसके बाहर जाते ही रानी को चुराकर तथा उसे पकड़

× Rama passessed great valour and the prorwess of Narayen (Mod. Ch. Nalo-yen)

[Ramayan in China p 5]

+ वही पृ० ६

दबाकर भाग निकला। जब नाग समुद्र में अपने निवास-स्थान के लिए एक कुंचित मार्ग से यात्रा कर रहा था तब रास्ता रोके पड़ी हुई एक चिड़िया उसे मिली, नाग से उसका युद्ध हुआ नाग ने उसकी दाहिनी पंख काट दी तथा अपने घर आ गया।

जब बोधिसत्व लौटे तो उन्हें अपनी रानी नहीं मिली। उन्होंने सोचा मेरे पूर्व कर्म मेरे विरुद्ध हैं। विपत्तियाँ मेरे सम्मुख हैं। फिर उन्होंने एक धनुष बाण लेकर रानी की खोज में पर्वत यात्रा की। मार्ग में उन्हें एक स्वच्छ जल-धारा मिली। उसके स्रोत की खोज की। वहाँ एक बड़ा वानर राजा मिला। वानर राजा से बोधिसत्व ने उसके दुख का कारण पूछा। उसने कहा मैं और मेरे चाचा राजा थे। चाचा ने मुझसे राज्य छीन लिया है। अब आप बताइये अपने घूमने का कारण! बोधिसत्व ने भी अपनी दुख-कहानी कह दी। वानर राजा ने कहा कि परस्पर सहायता से दोनों का काम बन सकता है। आपकी रानी निश्चय मिल जायगी। दूसरे दिन वानर-राज अपने चाचा से लड़ा। बोधिसत्व ने धनुष खींचा। चाचा दूर से ही डर गया। थोड़ी देर बाद वह भाग गया वानर राज के समस्त साथी लौट आए। वानर-राज ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि वे मनुष्य-राजा की रानी को खोज कर लायें। जब बन्दर खोज में निकले तो उन्हें वही आहत चिड़िया मिली। उससे उन्हें पता लगा कि रानी को नाग हरण करके ले गया है। नाग इस समय समुद्र के एक द्वीप में है। इस प्रकार कहकर चिड़िया मर गई। वानर-राज ने एक बहुत बड़ी सेना जुटाई और समुद्र के पास आये। समुद्र को पार करने का कोई उपाय नहीं देखा। उसी समय शक्र (देवानाम इन्द्र) एक छोटे बन्दर के रूप में प्रकट हुआ और कहा तुम धूल-कणों के समान असंख्य होते हुए भी इस प्रकार हताश हो रहे हो। हर एक बन्दर एक पत्थर लाए और इस प्रकार वह समुद्र पार हो जायगा। वानर-राज ने उसे सेनापति बनाया। पत्थरों से समुद्र को पाट कर वानर सेना द्वीप में पहुँची। द्वीप का घेरा डाला गया। नाग ने कुहरा फैलाया सब बन्दर रुग्ण से हो गये। सभी धराशाही हो गये। दोनों राजाओं को बड़ा दुख हुआ। वानर-रूप इन्द्र ने सोचा: इस प्रकार इन महान् सत्वों को दुखित

न होने देना चाहिए। अतः शीघ्र ही उपचार करूँ। तब उसने एक दिव्य औषधि सब सैनिकों की नाक में रखी। सब बन्दर उठ खड़े हुए। उनकी शक्ति अब पहले से द्विगुणित हो गई। फिर नाग ने आँधी चलाई। बादल आए। बिजली कड़कने लगी, पृथ्वी आकाश हिल उठे। इन्द्र रूप बन्दर ने कहा कि नर राज लक्ष्यवेधी हैं। यह जो विद्युत है, यथार्थ में यही नाग है। इस पर बाण मारिए। इस को मार कर जनता को सुखी करो। यह सुनकर नर राज ने एक बाण मारा। इस बाण से नाग का वक्ष विकीर्ण हो गया। इस प्रकार नाग का मरण हुआ। छोटे बन्दर ने राजद्वार के ताले को हटाया और रानी को बाहर निकाला। दिव्यात्माएँ प्रसन्न हो उठीं।

उसी समय बोधिसत्व का चाचा मर गया। किसी उत्तराधिकारी के अभाव में उन्होंने राज्य सम्हाला। उन्होंने दया-नीति से राज्य किया। एक दिन राजा ने कहा। जब किसी की धर्म-पत्नी अपने पति में विकल होकर एक रात्रि भी कहीं अन्यत्र निवास करती है तो लोग उस पर सन्देह-दृष्टि रखते हैं। प्राचीन नियमों के अनुसार तुम्हारा अपने कुटुम्ब में फिर से, कई महीने पति से विलग रह कर, आना कहाँ तक उचित है ? रानी ने उत्तर दिया : यद्यपि मैं एक अपवित्र गुहा में रही, तथापि मेरी स्थिति गदे पंक में स्थित कमल के समान रही। यदि मेरा कहना यथार्थ है तो धरती फट जाय। धरती फट गई। इस प्रकार रानी के सत्य का सा हो गया।

बुद्ध ही वह राजा थे। रानी 'गोपी' (Gu ı) थी। चाचा देवदत्त था शक मैत्रेय था।

यह कथा निश्चय ही पूर्वोक्त दोनों जातक-कथाओं का आगे का विकसित रूप है। पूर्वोक्त भारतीय तथा चीनी जातकों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि, इस जातक में जहाँ सीता हरण तथा रावण वध का बीज मिलता है, वहाँ राम के बनवास की कारण कथा इसमें कुछ और ही है। इसमें राम, लक्ष्मण तथा सीता के नाम नहीं बताए गए। कैकेयी की कुमति और पिता की आज्ञा से इस जातक में आए राजा को बनवास नहीं मिला। इस प्रकार बनवास का कारण दूसरा गढ़ा गया। बौद्ध जातक कथाओं में राम-कथा के इस रूप के

दर्शन नहीं होते। किन्तु वाल्मीकि की राम-कथा से इसका बहुत कुछ साम्य है। इससे यह अभिप्राय नहीं कि इसका स्रोत वाल्मीकि रामायण है। यदि इसका स्रोत वाल्मीकि रामायण होता तो आरम्भिक कथा वाल्मीकि रामायण से इतनी वैचित्र्य न होती। इस कथा का स्रोत देखना आवश्यक हो जाता है। इन दोनों चीनी जातकों का पालि या संस्कृत मूल आज उपलब्ध नहीं है। अतः इन जातकों का मूल्य और भी बढ़ जाता है।

उक्त जातक चीनी त्रिपिटका (Taisho Edition) की छियालीसवीं कथा है। इसका चीनी अनुवाद को सो इ नामक एक व्यक्ति ने किया था। ऽ कहा जाता है कि इसके पूर्वज भारत में गये थे। इसके पिता व्यापार करने 'Annam' तक पहुँचे वहाँ Ko-so e अपने बाप से बिगड़ गया। उस समय इसकी अवस्था १० वर्ष की थी। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। २४७ ई० में वह वर्तमान नानकिंग में आया और बौद्ध धर्म का प्रचार ही उसने अपने जीवन का ध्येय बना लिया + इस प्रकार Ko-so u भारतवर्ष में कई वर्ष तक रहा उसने इस कथा को यहीं प्राप्त किया। इस प्राप्ति के दो स्रोत हो सकते हैं। एक तो बौद्ध-विहारों के भिक्षुओं में इस कथा का प्रचलन रहा हो सकता है। दूसरे यह कथा लोक में प्रचलित रही हो। किन्तु अन्ततः इसका स्रोत लोक ही ठहरता है क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं की कथाओं का स्रोत भगवान बुद्ध के समय से ही लोक रहा था। भगवान बुद्ध के द्वारा कहे हुए 'दशरथ जातक के रहते हुए कथा का यह रूप किस प्रकार हो गया। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत रूप विहारों में तथा लोक में अलग ही प्रचलित रहा होगा। यही कारण है कि इस जातक का आरम्भिक भाग दशरथ-जातक से अलग की कथा कहता है इस कथा का संबन्ध दशरथ जातक के भारतीय अथवा चीनी किसी रूप से नहीं जोड़ा गया है। इस प्रकार दशरथ जातक तथा 'अनामकं जातक' दोनों ही लोक में प्रचलित रहे होंगे। लोक के अक्षय कथा-कोष से भगवान् बुद्ध तथा अन्य बौद्ध भिक्षुओं ने अपने उपदेशों के

ऽ दे० 'रामायण इन चाइना' की भूमिका

+ वही।

लोक-प्रिय सरल माध्यम के रूप में इन दोनों लोक कथाओं को अपनाया। इनके द्वारा उपदेश दिया गया। लोक कल्पित सीधे सादे चरित्रों में आदर्शों का रग-विन्यास करके जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इस प्रकार लोक कथाओं को तथा अन्य पशु पक्षियों की कहानियों द्वारा उपदेश तथा ज्ञान देने की प्रथा नई नहीं थी। इस प्रकार की कहानियों ने पूर्व के दार्शनिक संस्कृत साहित्य में भी स्थान पाया था। किन्तु साहित्यिक मेधा ने इन कहानियों को को एक विशेष उद्देश्य से ही गृहण किया था। इनके द्वारा राजकुमारों को शिक्षा दी जाती थी § इसके साथ ही उपदेश देने की प्रवृत्ति भी प्रधान रूप से थी। इस प्रवृत्ति का विकसित रूप बौद्ध जातक कथाओं में मिलता है। इन दोनों प्रवृत्तियों के साथ ही एक और प्रवृत्ति लोक कथाओं को अपनाने में दीखती है। आश्रय दाता राजा की अत्युक्ति-पूर्ण प्रशंसात्मक गाथा गढ़ने में भी इन लोक कथाओं की चमत्कार पूर्ण तथा दिव्य घटनाओं का समावेश होता था। इस प्रकार उस राजा अथवा संरक्षक की गाथा का रूप लोक-कथाओं से सहारा-पाकर खड़ा होता था। इस प्रवृत्ति का विकसित रूप हमें गुणाढ्य के वृहत्कथा-कोष में प्राप्त होता है।

किन्तु बाल्मीकि की प्रवृत्ति इनसे कुछ भिन्न दीखती है। डा० रामविलास शर्मा ने बाल्मीकि की प्रवृत्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया है: "रामायण की मूल गाथा का लक्ष्य आर्यों की विजय और अनार्यों का पराभव चित्रित करना ही रहा होगा" + यह मत लासेन (Lassen) और वेबर के मतों का ही रूपान्तर है। यह उद्देश्य अधिक ऐतिहासिक है। यदि यही उद्देश्य वस्तुत' बाल्मीकि का था तो, उक्त जातक रूपों में उपलब्ध दोनों राम कथाओं को बिना जोड़े उनका कार्य नहीं चल सकता था। क्योंकि दशरथ जातक की कहानी से आर्य संस्कृति का मध्य भारत में विस्तार का रूपक ही खड़ा हो सकता था। हम पहले विचार करते समय देख चुके हैं कि कौशल्या दक्षिण कोशल

---

§ इस प्रवृत्ति का विकसित रूप 'पचतन्' में मिलता है.

+ संस्कृति और साहित्य : पृ० २५६.

की राजकुमारी तथा कैकेयी केकयदेश की राजकुमारी थीं।§ इन विवाह संबंधों से आर्यों के वहाँ तक फैलने की बात सिद्ध होती है। वाल्मीकि रामायण में जो देवासुर संग्राम का उल्लेख ※मिलता है, उससे आर्यों की दक्षिण में कुछ प्रगति की सूचना मिलती है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि दण्डकारण्य के दक्षिण भाग के पास एक वैजयन्त पुर था। जहाँ तिमिध्वज शम्बर राज्य करता था। इसी से इन्द्र का युद्ध हुआ . दशरथ ने सहायता दी। किन्तु आर्य संस्कृति के सुदूर दक्षिण के प्रसार के रूपक के लिए एक और कथा की आवश्यकता पड़ी होगी। उसके लिए चीन के 'अनामक जातक' के रूप में उपलब्ध कथांश वाल्मीकि जी ने उसी स्रोत से लिया जिससे बौद्ध-जातक निःसृत हुए थे। तब लंका तक की आर्य विजय यात्रा सफल हुई। "अनार्यों में सुग्रीव विभीषण आदि का एक दल आर्यों का मित्र बन गया और इस तरह उनकी विजय यात्रा में वह सहायक हुआ।" † निषाद, भील, वानर आदि अनेक अनार्य वन्य-जातियाँ आर्यों में घुल मिल जाती हैं। इनका विशद विवेचन आगे के किसी अध्याय में किया जायगा। ज्ञात होता है वाल्मीकि जी ने इसी उद्देश्य से लोक प्रचलित दो कथाओं को मिला कर एक किया। और आर्यों की सुदूर दक्षिण विजय सम्पन्न हो गई। इस लोक से उधार लिए ढाँचे में वाल्मीकि ने आर्य-संस्कृति के तत्वों को सजाया जिसके अग्रदूत अगस्त्य, विश्वामित्र आदि ऋषि थे।

इन दोनों कथाओं को जोड़ने वाली कड़ी 'सीता हरण' कथांश है। सीता-हरण का कथांश आर्य कथा साहित्य की एक प्रमुख घटना है। इस घटना का वैदिक स्रोत हम पूर्व पृष्ठों में देख चुके हैं। ग्रीस आदि प्राचीन देशों की कथाओं में भी अपहरण की घटना मिलती है। होमर के इलियद् में यही प्रमुख घटना है। इस ग्रन्थ की वास्तविकता भी आर्य अनार्यों का संघर्ष बतायी जाती है।+ रामायण की भाँति इस गाथा में भी हेलेन की चोरी के बहाने युद्ध होता है।

---

§ रघुवंश . ६।१७.

※ लाहौर संस्करण, अयो० का० ११।१०, मद्रास संस्करण ६।११.

† 'साहित्य और संस्कृति' : पृ० २५६.

\+ वही पृ० २५६

इसमें भी शूरवीरों की अनुपम वीरता का वर्णन है। यही नहीं लोक-प्रचलित प्रायः सभी जनपदीय कहानियों में इस घटना का निर्देश मिलता है ब्रज में "यार होइ तौ ऐसौ होइ' + नामक एक कहानी मुझे प्राप्त हुई थी। उस कहानी की प्रमुख घटना एक रानी का अपहरण तथा एक मित्र की सहायता से उसकी पुनः प्राप्ति है। उसका विवेचन 'ब्रज-भारती' के एक अंक में प्रकाशित हुआ। = इसी घटना के आधार पर साम्य स्थापित करते हुए लेखक ने निष्कर्ष में कहा है। "जर्मनी में यह फेदफुल जोन (Faithful John) के नाम से प्रचलित है, दक्षिण में 'राम-लक्ष्मण' की कहानी का रूप बना, बंगाल में 'फकीरचन्द्र' बनी, ब्रज में 'यारहोइ तौ ऐसौ होइ' के नाम से चल रही है, और भी इसके कितने ही अवान्तर रूप इधर-उधर के अनेकों प्रदेशों में मिलते हैं।" इस प्रकार इस कड़ी का स्रोत भी लोक ही है, लोक में चाहे इसका रूप वैदिक प्राकृतिक गाथा रूप से आया हो। इस कड़ी ने वाल्मीकि की लेखनी के द्वारा उक्त जातक रूप में मिलने वाली दोनों लोक-कथाओं को मिलाकर एक कर दिया।

यहाँ तक हमने वाल्मीकि की रामकथा के लोक-स्रोत का विवेचन किया। अब हमें देखना यह है कि वैदिक, ऐतिहासिक तत्वों + के साथ लौकिक तत्वों का समावेश यहाँ तक हुआ! इसके लिए

लौकिक तत्व तथा विश्वास

पहले हम चीनी 'अनामकं जातकं' में आये लौकिक विश्वास और तत्वों को देखेंगे। उसी आधार से वाल्मीकि रामायण में आये कतिपय लोक-विश्वासों को देखेंगे सभी लौकिक तत्वों का सम्यक विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ तो कुछ उदाहरणों के साथ यह दिखा देना है कि राम-कथा में किस प्रकार लौकिक तत्वों ने स्थान पाया "अनामकं जातक" की प्रमुख घटनाएँ निम्न-लिखित हैं :—

+ देखिए 'ब्रज की लोक-कहानियां' (प्रका० ब्रज साहित्य मंडल मथुरा)

= 'ब्रजभारती' : वर्ष २ : अंक ५,६,७ (सं० २००१) ले० डॉ० सत्येन्द्र

+ इनका विवेचन पूर्व पृष्ठों में हो चुका है।

१. बोधि-सत्त्व का रानी सहित वनवास।

२. नाग द्वारा रानी का अपहरण।

३. एक पक्षी द्वारा नाग का मार्गावरोध।

४. वानर राज से बोधिसत्व की मित्रता : वानर राजा के चाचा की मृत्यु।

५. सीता की खोज में बन्दरों का भ्रमण एक पक्षी द्वारा सीता का पता बताना उसकी मृत्यु।

६. इन्द्र का बन्दर रूप में प्रकट होकर सेतु बन्ध की आयोजना रचना।

७. बोधिसत्व और 'नाग' का युद्ध : नाग की अलौकिक शक्तियाँ : उसका प्रकृति-व्यापारों पर नियंत्रण : उसके द्वारा आँधी और मेघों का आना।

८. विद्युत में रावण के जीव का निवास : वानर रूप इन्द्र का इस रहस्य का उद्घाटन : बोधिसत्व द्वारा विद्युत में रहने वाले नाग के जीव का विनाश

९. रानी की पुनः प्राप्ति।

१०. रानी की पवित्रता पर शंका : धरती के फटने से सीता की पवित्रता का प्रमाण मिलना।

इस जातक में 'नाग' शब्द विचारणीय है जो पानी में रहता था। इस प्रकार के राक्षसों का वर्णन संसार के लोक साहित्य में प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में वृत्र को 'अहि' (सर्प) कहा गया। वृत्र का आकार-प्रकार सर्प जैसा कल्पित किया गया है। × आगे कहा गया है कि इन्द्र से पराजित होकर दानवों ने अपना निवास स्थान समुद्र को बनाया। समय समय पर समुद्र से निकल कर वे ऋषियों को दुख पहुँचाते थे। बेबीलोनिया के तियामत (Tiamat) नामक राक्षसी का भी इसी प्रकार का वर्णन है।* तियामत समुद्र का द्योतक

× 'ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन' : डॉ॰ सत्येन्द्र : पृष्ठ १६

* "In the Babylonian story of creation the female dragon Tiawath (Tiamat) whose name signifies the sea, desired to possess the world, and plotted against the Gods with her horde of giant serpents……"

(The Religion of Babylonia and Assyria : T. G. Pinches)

हैं। अनेक सर्प उसके साथी हैं। इस प्रकार राक्षसों के समुद्र में रहने का विश्वास तथा उनके साथी सर्पों का वर्णन संसार भर की धार्मिक गाथाओं का प्रमुख तत्त्व है। वाल्मीकि का तथा तुलसी का रावण भी समुद्रस्थ एक द्वीप में रहता था। किन्तु सबसे अधिक लौकिक तथ्य रावण की शक्ति, उसके युद्ध और उसकी माया के वर्णन में मिलते हैं। जातक में बताया गया है कि वह वेश बदल सकता था। ऋषि का वेश धारण करके ही उसने बोधिसत्व को धोखा दिया। युद्ध के समय वह आँधी और मेह चला सकता था। इस प्रकार की परा-प्राकृतिक शक्ति और सामर्थ्य 'नाग' के साथ लोक-प्रतिभा ने ही जोड़ी है। इस प्रकार की परा प्राकृतिक शक्ति का स्रोत लोक के अनुसार दो प्रकार का है। एक तो जादू विद्या से, दूसरे किसी ऋषि अथवा देवता के वरदान स्वरूप। 'वरदान' की कल्पना लोक से इतना अधिक सम्बन्ध नहीं रखती जितनी बुद्धिजीवी वर्ग से वाल्मीकि के रावण ने घोर तपस्या करके जहाँ देव-राक्षसों से अवध्य होने का वरदान ब्रह्मा से प्राप्त किया, वहाँ वह अनेक जादू-विद्या, तथा माया भी जानता था। 'नाग' के प्राणों की विद्युत में स्थिति स्पष्टतः लोक-कथाओं के विभिन्न अभिप्रायों (motif) में से एक है। यह कल्पना केवल दानव के साथ ही रहती है। + उस प्राण स्थल के विनाश होने से उस दानव का नाश हो जाता है।

यहाँ तक हमने राम-कथा की दो धाराओं का रूप देखा हिन्दूधारा और बौद्धधारा हिन्दू-धारा कुछ परिवर्तन के साथ महाभारत, ब्रह्मपुराण, अग्निपुराण वायुपुराण आदि में होकर अविकल रूप से प्रवाहित होती रही, किन्तु जैन साहित्य में एक और प्रधान धारा राम कथा की बही है। उस पर यहाँ संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

+ "प्राण प्रवेश में भी शरीर को प्राणों से एक भिन्न वस्तु माना गया है। शरीर से प्राणों की पृथकता की कल्पना पर प्राणों की अन्यत्र स्थिति मानी गई है। प्राणों की यह पृथक् स्थिति दानवों में मिलती है। उनके प्राण किसी बगुले में, किसी तोते में रहते हैं।"

[ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन पृ० ५०० (आ)]

आचार्य रविषेण का पद्मचरित (पद्मपुराण) संस्कृत का सर्व-विदित ग्रन्थ है। इसके अनुवाद भी हुए हैं। जैनों के घरों में यह ग्रन्थ पढ़ा जाता है।

जैन साहित्य में रामकथा

इसकी रचना वि० सं० ६३४ के लगभग की मानी जाती है। इस प्रकार के अनेक कथा-कोष जैनों ने रचे हैं। इनमें अनेक सुन्दर-सुन्दर कथाओं का संग्रह इस दृष्टि से किया गया है कि वे विविध अवसरों पर उपयोग की जा सकें। इसी प्रकार के संग्रह 'पउम-चरिय', × 'वसुदेव हिंडि', अनेक ग्रन्थों में राम का तथा अनेकों कृष्ण की कथाएँ हैं। = इस प्रकार "जिस समय रामायण एवं महाभारत की कथा ने जनसाधारण में एक नवीन उत्साह और अभिरुचि उत्पन्न कर दी थी, जैन विद्वानों ने 'वसुदेव हिंडि'········ पउम-चरिय'·· ·····हरिवंश पुराण आदि मौलिक ग्रन्थों की रचना की।" + उनके अतिरिक्त हिन्दी की एक अत्यन्त पुरातन रामायण स्वयंभू की रामायण के प्राप्त करने का श्रेय राहुल सांकृत्यायन को है। उन्होंने इनका समय ६७३ ई० और ६९३ ई० के बीच माना है। + इसी प्रकार 'महा पद्मपुराण (रचना काल १७६६ ई०) में भी जैनियों की दृष्टि से राम-कथा कही गयी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में भी राम-कथा आस्था और श्रद्धा के साथ कही और सुनी जाती थी। राम को हिन्दू, बौद्ध, तथा जैन सभी अपना पूर्व और महान् पुरुष मानने लगे थे।

इनमें से हिन्दू और बौद्ध साहित्य में राम कथा के तीन रूप मिलते हैं। एक वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत रूप, दूसरा बौद्धों का तथा तीसरा अद्भुत रामायण

× रचयिता-संघदास; आत्मानन्द जैन-सभा भावनगर से प्रकाशित।

+ 'पउम-चरित्र' का सम्बन्ध रामचरित्र से है; पद्म चरित्र का सम्बन्ध कृष्ण से है।

= जैन सिद्धान्त भास्कर: Vol. XI, भाग १२, (वि० सं० २००२) पृ० १३: 'जैनकथा-साहित्य' ले० अगरचन्दनाहटा।

+ 'हिन्दी-काव्य धारा: पृ० २३।

जैन रामकथा के दो रूप

का। यहाँ हमें यह देखना है कि जैन साहित्य में रामायण में कितने रूप मिलते हैं। साधारणतः दो रूप जैन रामायण के उपलब्ध होते हैं।* एक तो पउम चरिय पद्मचरित का और दूसरा गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण का। राहुल सांकृत्यायन ने केवल एक 'स्वयंभू' का विवरण देते हुए उन्हीं के उद्धरण, (पउमचरित्र) से, दिए हैं। किन्तु इन 'चहुमुह सयमु' के पुत्र 'तिहुयण सयभू थे। इन्होंने अपने पिता के दो अमर ग्रन्थ 'पउम चरिय' और 'हरिवंश पुराण' पूर्ण किए थे। जिनको उसके पिता अधूरे छोड़ गये थे।+ प्रधानतः त्रिभुवन स्वयंभु ने 'सीता-परीक्षा' पर्व रचा था। = इस प्रकार उसका सीता परीक्षा वाला अंश कुछ आगे की रचना है। उसमें कुछ नवीनता है। शेषांश, रामायण की प्रसिद्ध कथा से अधिक विचित्र नहीं है। 'पउम चरिय' की कथा बहुत प्रसिद्ध होगई है। अतः उसकी रूप रेखा देना आवश्यक नहीं। किन्तु उत्तर-पुराण की कथा विशेष प्रचलित नहीं। उसकी कथा की रूप-रेखा इस प्रकार है :—

१. दशरथ वाराणसी के राजा : राम की माता सुबाला और लक्ष्मण की माता कैकेयी भरत शत्रुघ्न की माता का उल्लेख नहीं। सीता मन्दोदरी के गर्भ से हुई थी। + भविष्यद्वक्ताओं ने उस कन्या को नाश-कारिणी बताया।

---

* दे० जैन साहित्य और इतिहास : ले० श्री नाथूराम प्रेमी : पृ० २७८ [आगे का विवरण भी इसी ग्रन्थ के आधार पर है]

+ 'सगम' : दीपावली अंक : (स २००६) : जैन रामायण की परम पावनी विद्रोहिणी सीता : डा० हेमचन्द्र जोशी।

= उन्होंने 'सीय दिव्वकहावउ' में इस तथ्य की ओर निर्देश किया है।

+ अद्भुत रामायण में भी सीता मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थीं। दण्डकारण्य में गृत्समद नाम के ऋषि की स्त्री ने अपने गर्भ से लक्ष्मी उत्पन्न करने की कामना की। ऋषि, इसके लिए, एक घड़े में दूध

रावण ने उसे मंजूषा में रखवा कर मरीचि के द्वारा मिथिला की भूमि में गड़वा दिया। हल चलाते समय हल की नोक उसमें उलझी और जनक ने उसे अपनी पुत्री के रूप में पाला।

२. जब सीता विवाह के योग्य हुई, तब जनक ने एक वैदिक-यज्ञ किया और उसी यज्ञ की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को आग्रह-पूर्वक बुलवाया। फिर राम के साथ सीता को ब्याह दिया। रावण को यज्ञ का निमंत्रण नहीं भेजा गया। इससे वह क्रुद्ध हुआ। नारद द्वारा उसने सीता के रूप की प्रशंसा सुनी। उसके हरण की वह बात सोचने लगा। [कैकेयी के हठ, राम के वनवास देने आदि का कोई विवरण नहीं है पंचवटी, दण्डकवन, जटायु, सूर्पनखा, खरदूषण आदि प्रसंगों का भी अभाव है।]

३. बनारस के पास ही चित्रकूट नामक वन से रावण सीता को हर ले जाता है। सीता के उद्धार के लिए लंका में राम रावण-युद्ध होता है। रावण को मार कर दिग्विजय करते हुए राम लौटते हैं। दोनों भाई बनारस में राज्य करने लगते हैं। [सीतापवाद तथा सीता निर्वासन की चर्चा नहीं है] लक्ष्मण एक असाध्य रोग से ग्रसित होकर मर जाते हैं! राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राज्यपद पर और सीता के पुत्र अजितंजय को युवराज पद पर अभिषिक्त करके अनेक राजाओं और अपनी सीता आदि रानियों के साथ जिन-दीक्षा ले

अभिमंत्रित करके रखने लगे। एक दिन रावण आया उसने बाणों की नोकें चुभा चुभा कर उनके शरीर का बूँद बूँद रक्त निकाला और उसी घड़े में भर दिया। वह रक्त घट उसने मन्दोदरी को जाकर दिया और कहा यह रक्त विष से भी अधिक तीव्र है, मन्दोदरी ने उस रक्त को पीकर अपनी मृत्यु इसलिए चाही कि उसके पति का उस पर सच्चा प्रेम नहीं था; वह परस्त्री-रमण करता है, रक्तपान से वह मरी तो नहीं पर गर्भवती हो गई, पति की अनुपस्थिति में गर्भ धारण होने से वह डरी। एक दिन विमान में बैठकर कुरुक्षेत्र गई और उस गर्भ को धरती में गाड़ कर चली आई हल जोतते समय वह गर्भजात कन्या जनक को मिली उसी का नाम सीता है।

लेते हैं। सीता के आठ पुत्र थे [लव-कुश का नाम नहीं।] दशानन विनमि विद्याधर के वंश पुलस्त्य का पुत्र था।

वैसे जैनियों में अधिक प्रचार 'पउमचरिय' का है। किन्तु उत्तरपुराण की कथा बिल्कुल ही उपेक्षित नहीं रही। उसको भी आदर्श मान कर काव्य रचना हुई है। 'पउमचरिय' की कथा अधिकांश वाल्मीकि रामायण के ढंग पर है। और 'उत्तर-पुराण' की रामकथा का जानकी जन्म अद्भुत रामायण के ढंग पर दशरथ का बनारस का राजा होना बौद्ध दशरथ-जातक से मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि "भारतवर्ष में रामकथा की जो दो तीन परम्पराएँ हैं, वे जैन सम्प्रदाय में भी प्राचीन काल से चली आ रही हैं।" * 'पउमचरित के कर्ता ने कहा है कि मैं उस पद्मचरित को कहता हूँ जो आचार्यों की परम्परा से चला आ रहा था और नामावली निबद्ध था। × इससे ज्ञात होता है कि राम का चरित्र केवल नामावली के रूप में पहले रहा होगा। फिर उसका पल्लवित रूप 'पउमचरिय' बना [रच० विमलसूरि] नामावली के रूप में प्राप्त रामचरित्र को कथा-रूप देते समय विमलसूरि के सम्मुख कोई लोक-प्रचलित रामायण रही होगी जिसमें रावण-कुंभकर्ण आदि के अमानवीय कृत्य होंगे। उससे यह विवरण विमलसूरि ने लिए होंगे। हो सकता है कि वह रामायण वाल्मीकि + रामायण ही हो अथवा इसी प्रकारकी अन्य कोई रामायण रहीहो। जिसमें अनेक अलीक, उपपत्ति विरुद्ध और अविश्वसनीय बातें थीं और उनको 'विमल सूरि' सुधारने का प्रयत्न किया। = यह समस्त अविश्वसनीय बातें, चाहे

---

* 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० २८०

× णामावलियनिबद्धं आयरियपरंपरागयं सव्वं
वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण ॥८॥

+ महाकवि पुष्पदन्त ने अपने उत्तर-पुराण की रामकथा के आरम्भ में वाल्मीकि और व्यास का उल्लेख किया है—
वम्मीयवासवयणिहिं णडिउ, अण्णाणु कुमग्गकूवि पडिउ [६९ वीं संधि]

= अलियं पि सव्वमेयं उववत्तिविरुद्ध पच्चयगुणेहिं
नय सद्दहंति पुरिसा हवंति जे पंडिया लोए।

जहाँ हों, अधिकांश लोक से उद्भूत होती हैं। बौद्धिक-सुधारवादी वर्ग उनको तर्क की कसौटी पर कस कर बुद्धिगम्य बना देता है। उसी प्रकार का प्रयत्न विमल सूरि का दीखता है। 'राम-कथा' के सुधार का यह प्रथम प्रयत्न कहा जा सकता है।

उत्तर पुराण के कर्ता उनसे और रविषेण से भी बहुत पीछे हुए हैं। किन्तु गुणभद्र ने उक्त रामकथा को अपना आधार नहीं बनाया। इसका कारण यह हो सकता है कि गुण-भद्र से बहुत पहले विमल सूरि के ही समान किसी अन्य आचार्य ने भी जैन धर्म के अनुकूल स्वतंत्र रूप से सोपपत्तिक और विश्वसनीय राम-कथा लिखी होगी और वह गुणभद्राचार्य को गुरु परम्परा द्वारा मिली होगी।" × अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि पउमचरिय और उत्तर-पुराण की रामकथा की दो धाराएँ स्वतन्त्र रूप से निर्मित हुईं। कहने की आवश्यकता नहीं कि नामावली के अतिरिक्त अधिकांश सामग्री लोक से ही प्राप्त हुई होगी। सीता की उत्पत्ति की कथा बहुत कुछ लोक-प्रचलित किम्वदन्ती से मिलती जुलती है। साथ ही उस समय की प्रचलित रामायण से भी सामग्री ली गयी। उसमें साम्प्रदायिक तत्व भी कुछ मिले। इस प्रकार राम-कथा का जैन-विद्वानों ने श्रृङ्गार किया।

जैनों की राम-कथा की महत्ता तुलसी के अध्ययन में है। इसका कारण यह है कि तुलसी के पूर्व तक जैन-रामायण अपना स्थान बना चुकी थी। तुलसीदास जी ने सम्भवतः इन्हीं 'प्राकृत-कवियों' की ओर निर्देश करते हुए कहा है :—

कलि के कबिन्ह करउँ परनामा, जिन बरने रघुपति गुन ग्रामा,
जे प्राकृतकवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि-चरित बखाने।
[बाल० का० दोहा १३-१४]

इसमें प्राकृत-कवियों की इसलिए वंदना की गई है क्योंकि उन्होंने 'भाषा' में राम-चरित्र लिखा इसी भाषा की परम्परा में तुलसीदास आते हैं जिन्होंने

× जैन-साहित्य और इतिहास : पृ०-१८२

किया था, तथापि समन्वय दृष्टि प्रधान होने से उन्होंने उन समस्त कवियों की वन्दना की है जिन्होंने राम के चरित्र का गान किया है। इस साम्प्रदायिक दृष्टि के साथ ही एक बात और समझ लेनी है। वह यह है कि 'राम-कथा' का एक मात्र स्रोत गुरु परम्परा ही थी। गुरु के कहने से ही शिष्य उस कथा को ग्रहण करता था। फिर राम-कथा तो सदैव ही कहने-सुनने की वस्तु रही है। महाभारत में ही रामायण की इस कहने सुनने की परम्परा की ओर निर्देश किया गया है। महाभारत-कार के लिए राम-रावण युद्ध पुराकाल का दृष्टान्त बन चुका था :—

अपिचायं पुरागीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।+

'तुलसीदास' जी 'कहहिं सुनहिं बहुविधि सब सन्ता' तथा 'सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही' आदि कथनों द्वारा इस गुरु-शिष्य परम्परा में राम-कथा के कहे तथा सुने जाने की ओर निर्देश करते हैं। स्वयं तुलसीदास जी ने रामकथा अपने गुरु से सुनी थी :—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत,

जैन-रामकथा के जो दो रूप हम देख चुके हैं उनका अन्तर भी गुरु-शिष्य परम्परा की भिन्नता के कारण है।= इसके साथ ही एक बात और दृष्टव्य है। पहले देखा जा चुका है कि 'पउमचरिय' के कर्ता विमलसूरि ने अनेक अलीक (अविश्वनीय) बातों को विश्वास-योग्य बनाने का प्रयत्न किया। इसको करने में उन्होंने साम्प्रदायिक तत्वों का सहारा लिया इसी प्रकार तुलसीदास जी अपनी बुद्धि के अनुसार उस राम-कथा को समझते हैं। फिर समझ कर कहते हैं :—

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।

आगे चलकर अनेक अलौकिक तत्वों की ओर भी निर्देश करते हैं, और

+ द्रोण पर्व ६६.२८
= जैन-साहित्य और इतिहास : पृ० २८२

कहते हैं रामकथा को असीम जानकर सज्जन लोग उन बातों पर शंका नहीं करते :—

कथा अलौकिक सुनहिं जो ज्ञानी । नहिं अचरजु करहिं अस जानी,
राम-कथा की मिति जग नाहीं । असि प्रतीति तिनके मन माहीं । +

और अनेक प्रकार की रामायणों की ओर भी निर्देश करते हैं :—

रामायन सत कोटि अपारा ।

रामकथा के इसी साम्प्रदायिक लोक-प्रिय रूप को तुलसी ने अपने महाकाव्य के लिए अपनाया। अब हम तुलसीदास जी के द्वारा लिखी हुई रामकथा पर आते हैं। अब तक हमने देखा कि 'राम-कथा' का ढाँचा लोक-कथा के रूप में खड़ा हुआ। तथा जिस-जिस विद्वान ने उसे कहा, अपने उद्देश्य के अनुसार उसने उस कथा में परिवर्तन कर दिया। अब हम तुलसी की राम-कथा पर विचार करेंगे और देखेंगे कि तुलसी की राम-कथा में लोकप्रतिभा द्वारा आविष्कृत तत्वों का कितना-क्या स्थान है।

+ बालकाण्ड : दोहा ५१-५२ के बीच

जैन राम-कथा और तुलसी

'रघुनाथ गाथा' भाषा निबद्ध की इस प्रकार 'तुलसी' को भाषा-गत राम कथा के पूर्व रूपों से परिचय अवश्य था। इन 'भाषा' के कवियों ने सबसे प्रधान कृति स्वयम्भू रामायण है जिसका उद्धार महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने किया है। राहुल जी लिखते हैं। "मालूम होता है, तुलसी बाबा ने स्वयम्भू-रामायण को जरूर देखा होगा।" " तुलसी बाबा ने स्वयं भू-रामायण को देखा था। मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी बाबा ने 'क्वचि दन्यतोपि' से स्वयंभू रामायण की ओर सकेत किया है......'क्वचिदन्यतोपि' से तुलसी बाबा का मतलब है, ब्राह्मणों के साहित्य से बाहर "कहीं अन्यत्र से भी" और अन्यत्र इस जैन ग्रन्थ में राम-कथा बड़े सुन्दर रूप से मौजूद है। जिस सोरों या शूकरक्षेत्र में गोस्वामी जी ने राम कथा सुनी उसी सोरा में जैन-घरों में स्वयं भू रामायण पढ़ा जाता था। रामभक्त रामानन्दी साधु राम के पीछे जिस प्रकार पड़े थे, उससे यह बिलकुल सम्भव है, कि उन्हें जैनों के यहाँ इस रामायण का पता लगा हो.......इसका यह हरगिज मतलब नहीं कि गोसाईं जी ने भाव वहाँ से चुराया, या उनकी प्रतिभा सिर्फ नकल करने की थी; गोस्वामी जी की काव्य-प्रतिभा स्वतः महान् है, उसे पहल की प्रतिभाओं का वैसे ही सहारा मिला होगा जैसे हरेक बालक को अपने पूर्वजों की कृतियों की सहायता से अपने ज्ञान का विस्तार करना पड़ता है।" + राहुल जो 'क्वचि दन्यतोपि' से चलते हैं। किन्तु अधिक उपयुक्त तथा संगत यह होगा कि 'जे प्राकृत-कवि परम-सयाने' से चला जाय, इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी को इस स्वयंभू-रामायण से अवश्य परिचित थे।

स्वयंभू के पश्चात् रामानन्द हो थे जिन्होंने रामकथा को और अधिक लोक प्रिय बना दिया। डा० ताराचन्द ने 'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव' नामक पुस्तक में रामानन्द की शिष्य परम्परा को दो प्रवृत्तियों से प्रेरित बताया है : एक शिष्य परम्परा क्रान्तिकारी थी (Radical) तथा दूसरी

+ हिन्दी काव्य-धारा : भूमिका पृ ५२

परम्परा पालक (Conservative) पहली के नेता कबीर थे तथा दूसरी के तुलसीदास। तुलसीदास जी ने परम्परा से चली आने वाली राम-कथा को शिरसः स्वीकार किया। कबीर जी 'दशरथ-सुत' राम में अविश्वास करते थे। अतः तुलसी राम-कथा की पूर्व परम्परा में एक कड़ी बन जाते हैं। वैसे 'राम' के अवतारत्व में विश्वास ईसा की आरम्भिक शताब्दी में था।* किन्तु इस अवतारत्व का न 'पतंजलि महाभाष्य' में न किसी प्राचीन शिलालेख में निर्देश है। यह इस बात का प्रमाण है कि राम के अवतारत्व में विश्वास था किन्तु कोई सम्प्रदाय 'राम' का नहीं चला था। अतः आर० जी० भंडारकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राम-सम्प्रदाय ११ वीं शती में अस्तित्व में आया। + इस प्रकार रामानन्द के पश्चात् सम्प्रदाय चलता है। राम-कथा को साम्प्रदायिक रूप मिलने के पश्चात् निश्चय ही राम-कथा की लोक-प्रियता बढ़ गई होगी। इसके साथ ही अनेक जाने-अनजाने कवियों ने 'राम-कथा' को काव्य में प्रस्तुत किया होगा। अब 'राम कथा' की लोक-प्रियता का प्रश्न नहीं रहा, राम-सम्प्रदाय लोक व्याप्त हो गया। इस प्रकार साधारण से साधारण कवि भी रामकाव्य लिखते समय इस बात का बल रखते होंगे कि चाहे काव्य निम्न कोटि का हो, राम के साम्प्रदायिक चरित्र को सभी पढ़ना चाहेंगे। राम-कथा की इसी साम्प्रदायिक लोक-प्रियता की ओर बाबा तुलसीदास ने निर्देश किया है।

सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी,
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही। ×

यद्यपि 'तुलसीदास' जी ने भी राम-कथा को साम्प्रदायिक दृष्टि से ग्रहण

* The belief in Rama's being an incarnation of Vishnu existed in all probabilities in the early centuries of Christian Era."

(Vaisnavism, Saivism and Minor Religious system p. 47.

+ वही।

× मंगलाचरण : दोहा ६ व १० के बीच।

किया था, तथापि समन्वय दृष्टि प्रधान होने से उन्होंने उन समस्त कवियों की वन्दना की है जिन्होंने राम के चरित्र का गान किया है। इस साम्प्रदायिक दृष्टि के साथ ही एक बात और समझ लेनी है। वह यह है कि 'राम-कथा' का एक मात्र स्रोत गुरु परम्परा ही थी। गुरु के कहने से ही शिष्य उस कथा को गृहण करता था। फिर राम-कथा तो सदैव ही कहने-सुनने की वस्तु रही है। महाभारत में ही रामायण की इस कहने सुनने की परम्परा की ओर निर्देश किया गया है। महाभारत-कार के लिए राम रावण युद्ध पुराकाल का दृष्टान्त बन चुका था :—

अपिचायं पुरागीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि। +

'तुलसीदास' जी 'कहहिं सुनहिं बहुविधि सब सन्ता' तथा 'सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही' आदि कथनों द्वारा इस गुरु-शिष्य परम्परा में राम-कथा के कहे तथा सुने जाने की ओर निर्देश करते हैं। स्वयं तुलसीदास जी ने रामकथा अपने गुरु से सुनी थी :—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत,

जैन-रामकथा के जो दो रूप हम देख चुके हैं उनका अन्तर भी गुरु-शिष्य परम्परा की भिन्नता के कारण है। = इसके साथ ही एक बात और द्रष्टव्य है। पहले देखा जा चुका है कि 'पउमचरिय' के कर्ता विमलसूरि ने अनेक अलौकिक (अविश्वनीय) बातों को विश्वास-योग्य बनाने का प्रयत्न किया। इसको करने में उन्होंने *साम्प्रदायिक तत्वों का सहारा लिया इसी प्रकार तुलसीदास जी* अपनी बुद्धि के अनुसार उस राम-कथा को समझते हैं। फिर समझ कर कहते हैं :—

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।

आगे चलकर अनेक अलौकिक तत्वों की ओर भी निर्देश करते हैं, और

+ द्रोण पर्व ६६.२८
= जैन-साहित्य और इतिहास : पृ० २८२

कहते हैं रामकथा को असीम जानकर सज्जन लोग उन बातों पर शंका नहीं करते :—

कथा अलौकिक सुनहिं जो ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं असजानी,
राम-कथा की मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिनके मन माहीं।+

और अनेक प्रकार की रामायणों की ओर भी निर्देश करते हैं :—

रामायन सत कोटि अपारा।

रामकथा के उसी साम्प्रदायिक लोकप्रिय रूप को तुलसी ने अपने महा-काव्य के लिए अपनाया। अब हम तुलसीदास जी के द्वारा लिखी हुई राम-कथा पर आते हैं। अब तक हमने देखा कि 'राम-कथा' का ढाँचा लोक-कथा के रूप में खड़ा हुआ। तथा जिस-जिस विद्वान ने उसे कहा, अपने उद्देश्य के अनुसार उसने उस कथा में परिवर्तन कर दिया। अब हम तुलसी की राम-कथा पर विचार करेंगे और देखेंगे कि तुलसी की राम-कथा में लोक प्रतिभा द्वारा आविष्कृत तत्वों का कितना-क्या स्थान है।

+ बालकाण्ड : दोहा १५१-१५२ के बीच

तृतीय अध्याय

'मानस'-कथा

रामकथा का बहुविध श्रृंगार हुआ। बाल्मीकि जी ने लोक में बिखरे राम-कथा के विभिन्न अंशों को जोड़ कर एक रूप खड़ा किया। कहीं बाल्मीकीय ढाँचे को कुछ परिवर्तनों के साथ अपनाया गया तथा कहीं लोक-प्रचलित रूपों को ही सजाया गया। इस प्रकार कथा चलती रही, रूप जटिल होता रहा।

''नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्'

तुलसी की रामकथा का स्रोत एक नहीं है। अनेक स्रोतों से तत्व आकर कथा में मिले। ऊपर की पंक्ति में 'पुराण' का स्थान प्रथम है। वस्तुत 'पुराण' इतिहास का अंग है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इतिहास के छ. अंग हैं। पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थ शास्त्र। × इसी व्यापकता के कारण इतिहास को पंचमवेद माना गया। + अमरकोष मे 'इति-हासः पुरावृत्तम्' की बात कही गई—जो पूर्व युगों में घटित हो चुका हो। = इस परिभाषा के समय इतिहास, इतिवृत्त, पुराण आख्यान आदि सभी पर्याय हो गये। -+ रामायण तथा महाभारत तथा पीछे के पुराणों में भी वैदिक, साहित्य में मिलने वाले 'पुराणों की सामग्री बिखरी पड़ी है। * सैग के मतानुसार

× अर्थशास्त्र १।३,५

+ छांदोग्य उपनिषद् ७।१, ७, बुद्धिष्ट सुत्तनिपात III ७.

= अमर० १।६।४.

+ Winternitz, HIL, P. 311

* मैक्स मूलर, हिबर्ट लेक्चर्स, पृ० १५४.

पुराण सामग्री वैदिक साहित्य को विभिन्न शाखाओं—ब्राह्मण, सूत्र आदि—में बिखरी हुई है।॥ अत तुलसी का पुराणस्थ कथा स्रोत अत्यन्त व्यापक है। वेद, इतिहास तथा पुराण भारतीय ज्ञान के प्रमुख स्रोत कहे जा सकते हैं। इसीलिए तुलसी इन तीनों की ही बात कहते हैं —

कहहिं वेद इतिहास पुराना।
विधि प्रपच गुन अवगुन साना।

[बालकांड मानस]

यह 'पुराण' स्रोत बड़ी लम्बी परम्परा रखता है। इतिहास पुराण की परम्परा ऋग्वेद काल से भी पुरानी है। ऽ

वेद (निगम) का तुलसीदास जी के सम्बन्ध में क्या अर्थ है इसका विवेचन द्वितीय अध्याय में हो चुका है। वैदिक साहित्य में रामकथा के जो बीज मिलते हैं, उनको भी देखा जा चुका है। आगम (तन्त्र साहित्य) स्रोत का रूप सीता राम का सम्बन्ध, तथा शिव पार्वती की कल्पना आदि सम्बन्ध रखते हैं। इस पर आगे विचार किया गया है। इस प्रकार तुलसी ने यह रामकथा अपनाई जो पुराण, निगम तथा आगम से समर्थित है। इसीलिए समस्त भारतीय सस्कृति उसमें प्रतिबिम्बित है।

क्वचिदन्यतोऽपि

ऊपर के स्रोतों से पुष्ट और समस्त कथा में तुलसी ने अनेक लोक तत्व जोड़े। इन तत्वों से मानस का लोकहितकारी रूप खड़ा हुआ। लोक तत्वों के अतिरिक्त वैदिक अथवा शास्त्रीय तत्वों में तर्क बुद्धि सजग रहती है। सिद्धान्त

॥ ERE Sieg's article on इतिहास।

ऽ "If we reflect upon the whole problem, the existence of an Itihasa tradition even at the time of the Rgvedic compilation, may, even before the hymns were being seen or composed, cannot be doubted

(Hariyappa, Poona Orientalion Vol, XV No 1 to 4 p. 41)

विशेष की स्थापना में तर्क का पोषण आवश्यक है। किन्तु लोक मानस में तर्क की अपेक्षा विश्वास का महत्व अधिक है। लोक-मानस सिद्धान्तों के नग्न रूप से सतुष्ट नहीं हो सकता क्योंकि तर्क बुद्धि उसकी विकसित नहीं होती कि मत विश्लेषण कर सके। उसे तो वह रूप चाहिये जिसमें उसकी आस्था जम सके। अतः तुलसी को शास्त्रीय स्रोतों के अतिरिक्त रामकथा के रूप नियोजन के लिए लोक-तत्व लेने पड़े। जब लोक-वेद-सम्मत कथा बन कर खड़ी होगई तो तुलसी ने लोकमानस के विश्वास तत्व तो स्पर्श किया :—

जे एहि कथा सनेह समेता, कहिहहिं सुनहहिं समुझि सचेता।
होइहहिं राम चरन अनुरागी, कलिमल रहित सुमगल भागी।

लोक को कथा के फल में विश्वास होता है। प्रत्येक 'कथा' के साथ 'फल' प्रसंग जुड़ा रहता है। इसी पर लोक विश्वास को केन्द्रित किया जाता है। आगे तुलसी यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि कुतर्कों से कथा फीकी हो जाती है। 'कथा' के माधुर्य का रहस्य विश्वास है। अतः विश्वास वाले लोकमानस को यह कथा मधुर लगेगी :—

हरिहर पदरति मति न कुतर की।
तिन कहँ मधुर कथा रघुवर की॥

[मंगलाचरण]

किन्तु लोक के विश्वास को आकर्षित करने के लिए एक दृढ़ आधार भी तो चाहिए। अतः लोक को तुलसी बताते हैं :—

इहि महँ रघुपति नाम उदारा।
अति पावन पुरान श्रुति सारा॥

इस प्रकार कथा के लोक तथा वेद दोनों तत्वों से पोषित रूप को तुलसी ने अपनाया। इसीलिए 'मानस' इतना व्यापक हुआ।

"मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई"

तुलसी ने जिस रामकथा को अपनाया, वह पहले शिवजी के मस्तिष्क में स्फुरित हुई। भारतीय साहित्य में शिव पार्वती अनेक कथाओं से सम्बन्धित हैं। लोककथाओं में भी शिव और गौरा-पार्वती की बात अधिक आती है। कथा

सरित्सागर में भी शिवजी से कथा का प्रवाह निकलता है। शिवजी ने यही रामचरित पार्वती को सुनाया :—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा,
बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।×

किन्तु पार्वती जी को कथा का रहस्यमय गूढ़ रूप सुनाया था। वह तत्व प्रत्येक की समझ की चीज नहीं थी। अतः पार्वती जी वाली परम्परा आगे नहीं चली। रामचरित की परम्परा इस प्रकार चली :—

सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा, रामभगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागवलिक पुन पावा, तिन पुनि भरद्वाज प्रतिगावा।
× × × ×
औरउ जे हरिभगत सुजाना, कहहिं सुनहिं समुझहिं विधिनाना।ऽ

इस प्रकार लिखित परम्परा नहीं चलती। कहने-सुनने की परम्परा ही चलती है। इसी परम्परा की अन्तिम कड़ी तुलसी के गुरु थे जिनसे 'सूकर खेत' में यह कथा उन्होंने सुनी। यही कहने-सुनने की परम्परा लोक की यथार्थ परम्परा है।

"व्यास आदि कवि पुङ्गव नाना"

काव्य परंपरा में रामकथा समाहृत हुई। भगवान के रूप गुण, कीर्ति और प्रताप को लेकर कविता करने वाले कवियों की भी परम्परा बनी। इसी परम्परा में 'व्यास' हुए * वाल्मीकि रामकथा की काव्य-परम्परा में सर्व प्रमुख हैं जिन्होंने अनेक तत्वों से रामायण का निर्माण किया + इसी परम्परा में आगे

× बालकांड, मंगलाचरण।

ऽ वही।

+ व्यास आदि कवि पुंगवनाना।
जिन सादर हरि सुजस बखाना। बालकांड: मंगलाचरण.

* बंदउँ मुनि पद कंज
रामायन जेहिं निरमयउ (वही)

चलकर कलयुग के वे कवि आते हैं जिन्होंने रघुपति के गुणों का गायन किया । = तुलसी के पहले के रामकाव्य के रचयिताओं की अन्तिम कड़ी 'प्राकृत' के कवि हैं । इन कवियों ने 'भाषा' में राम के चरित्र का गायन किया :—

जे प्राकृत कवि परम सयाने,
भाषा जिन हरि चरित बखाने । ∵

इसी भाषा कवि परम्परा में तुलसी हुए :—

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनथ गाथा ।
भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति ।

इस काव्य परम्परा में लोकतत्व प्रमुख हैं । व्यास लोक और वेद को जोड़ने वाली एक कड़ी हैं । वाल्मीकि के कथा विधान की लोक-वेद मूलक व्याख्या हो ही चुकी है । स्वयभू आदि प्राकृत कवि भी लोक-परम्परा से सबन्धित हैं । कलिदास आदि शास्त्रीय कवियों का उल्लेख नहीं है ।

"औरउ कथा अनेक प्रसंगा"

इस मूल-कथा के अतिरिक्त शिव और सती का प्रसग, शिव पार्वती विवाह प्रतापभानु की कथा, नारदमोह, रावण की उत्पत्ति आदि प्रसग भी साथ साथ चलते हैं । ये कहीं 'उदाहरण' के रूप में हैं, कहीं इतिवृत्त के, कहीं इनका रूप आख्यायिका का है । इस प्रकार की प्रवृत्ति लोक-गाथाओं में मिलती है । जितने भी लोक महाकाव्य आज प्रचलित हैं, उनमें मूल कथा के अतिरिक्त इस प्रकार की शाखा फूटती चलती हैं । वे कथा प्रसग मूल नदी की सहायक नदियाँ हैं । इनका उद्देश्य मूल कथा को सबल बनाना है ।

"रामकथा कै मिति जगनाहीं"

अन्त में तुलसी का ध्यान रामकथा के विविध रूपों पर चला जाता है । जाता है । यहीं कवि को शका होती है कि कथा के इस रूप की झाँकी सम्भवतः

= कलि के कबिन्ह करउँ परनामा ।
जिन्ह बरनें रघुपति गुन ग्रामा ॥ (वही)

∵ बालकांड, मगलाचरण ।

लोक ने न की हो। अन्य रूप भी अधिक प्रचलित हो सकते हैं। इस प्रकार अन्य कथाओं से समानता न होने पर मानस का विश्वास उखड़ भी सकता है। यदि विश्वास उखड़ गया तो कवि के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। अतः कवि को अपना दृष्टिकोण इस प्रकार स्पष्ट करना पड़ा :—

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई, जनि आचरजु करै सुनि सोई।
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी, नहिं आचरजु करहिं अस जानी।
रामकथा कै मिति जग नाहीं, अस प्रतीति जिन्ह के मन माहीं।
नाना भाँति राम अवतारा, रामायन सतकोटि अपारा।
कलप भेद हरि चरित सुहाए, भाँति अनेक मुनी सन्हि गाए।
करिअन संयम अस उर मानी, सुनिय कथा सादर रति मानी।

इस प्रकार भारत में प्रचलित सभी प्रकार की रामकथाओं को दृष्टि में रख कर, उनमें साधक तत्वों को चुनकर तुलसी ने अपनी रामकथा के रूप को खड़ा किया। यही रूप सर्वमान्य हो सका; लोकहितकारी बन सका :—

कथा जो सकल लोक हितकारी,
सोइ पूछन चह सैल कुमारी। =

अब कथा की रूपरेखा पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

रामावतार

इस कथा के नायक 'राम-भगवान हैं। निर्गुण भगवान सगुण रूप में क्यों अवतरित होते हैं यह शंका जन्म-जन्म की है। इस कारण-निरूपण में शिवजी दोनों शैलियों को अपनाते हैं। लोक-सम्मत और बौद्धिक-वर्ग-प्रदत्त, जहाँ भक्त और पृथ्वी तथा ब्राह्मणों के कष्ट निवारण का सम्बन्ध है, यह कारण लौकिक नहीं कहा जा सकता। यह बुद्धि-जीवियों में पला है। किन्तु जहाँ तक कारण निरूपण के शाप-वरदान-रूप का सम्बन्ध है वह अवश्य ही लोक-क्षेत्र की उपज है। लोक-मस्तिष्क समाज के शिष्ट-वर्ग से कम विकसित होता है। अतः जिस कार्य को होता हुआ वह जो देखता है, उसका कारण देने में उसकी मानसिक-

= बालकांड (गीता प्रेस का गुटका) दोहा—१७५-१७६ के बीच।

ससिर ताहि बीस भुज दंडा, रावन नाम बीर बरिबंडा।
भूप अनुज अरिमर्दन नामा, भयउ सो कुम्भकरन बलधामा।
सचिव जो रहा धरम रुचि जासू, भयउ बिमात्र बन्धु लघु तासू।
नाम बिभीषन जेहि जग जाना, बिष्णु भगत बिज्ञान निधाना।

इसके साथ ही मनु-शतरूपा को वरदान देते समय जहाँ राम 'नृप तव तनय होब मैं आई' का वरदान देते हैं वहाँ अपने साथ सीता के जन्म की भी बात कहते हैं :—

आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया,
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।

साथ ही नारद जी के शाप से आगे के वानर-सहायकों की कथा का कारण बता दिया है। समस्त प्रसिद्ध देवताओं के वानर रूप में अवतार लेने की बात कही गई है। इस प्रकार समस्त कथा के पात्रों के जन्म का कारण लोक-दृष्टि से निरूपण किया है। तुलसीदास जी ने पुराणों की भाँति लोक कारण-कथाओं को ऐतिहासिक धरातल पर उतारा है। पुराणों में जहाँ ऐतिहासिक सत्य है, वहाँ कुछ लोक-कथाओं को ऐतिहासिक रूप देने के लिए वंशावली जोड़ी है। तुलसी ने भी प्रतापभानु की वंशावली इस प्रकार लिखी है :—

सत्यकेतु
|
प्रतापभानु — अरिमर्दन

इस प्रकार हमने देखा कि राम तथा अन्य पात्रों के जन्म के सम्बन्ध में कारण-कथाओं की उद्भावना लोक के आधार से हुई है।

इन अवतरित पात्रों के अतिरिक्त कुछ पात्र ऐसे भी राम-कथा में स्थान बनाते हैं। जो राम-कथा को लोक-निर्मित ढाँचे में ऐतिहासिक कड़ी बन जाते हैं। इसी प्रकार के एक पात्र विश्वामित्र हैं।

विश्वामित्र के साथ राम

विश्वामित्र आर्य-संस्कृति के अग्रदूत हैं। वन प्रान्त के राक्षस उनके यज्ञानुष्ठानों की विधिवत योजना में बाधा पहुँचाते हैं। इनका ऐतिहासिक सत्य खोजने के पश्चात्

क्रिया दूसरे प्रकार की होती है। उस प्रक्रिया में कल्पना और काव्य का अभि पुट होता है, बौद्धिकता का कम उसकी कल्पना शक्ति ही उसके विश्वास चरम है।X उसी कल्पना शक्ति के सहारे वह लोक प्रतिभा कारण निरूप करती है। इसी कारण निरूपण म वह कहानी गढ़ता है। प्रत्येक 'व्रत' कारण वह कहानी के द्वारा बताता है। इन्हीं कहानियों को शाप-वरदान का मू भी बता दिया जाता है। यही लोक प्रचलित कार्य कारण परम्परा कहानी रूप में देने की प्रवृत्ति तुलसी ने अपनायी है। अवतार के कारणों का निरूप करते हुए जय विजय, + नारद मोह, = मनुशतरूपा, + तथा प्रतापभानु θ की कथाओं की योजना की है। केवल राम के अवतार की ही नहीं रावण आदि के जन्मों का कारण भी उक्त कथाओं में दिया हुआ है। उक्त कथाओं में जहाँ जय विजय, प्रताप आदि रावण कुम्भकरण बने हैं, वहाँ 'राम' भी नारद के शाप से मनुष्य बने हैं, कहीं मनु शतरूपा आदि को वरदान देते समय भगवान ने उनका पुत्र बनना* स्वीकार किया है। इस प्रकार के कारणों को दिखाने का उद्देश्य उस लोक मस्तिष्क की कल्पना-शक्ति को सन्तुष्ट करना है जिसमें तर्क की अपेक्षा विश्वास अधिक भरा है। साथ ही 'जब जब होइ धरम की हानी', 'तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा' कह कर उस वर्ग के योग्य भी कारण दिया है। महाकवि वाल्मीकि ने कार्य-कारण परम्परा में इतनी कथाओं का उल्लेख नहीं किया। तुलसीदास जी ने शाप वरदान की कारण-माला को अधिक विक सित करके कथा के प्राय समस्त पात्रों के अवतार के विषय को स्पष्ट किया है। प्रतापभानु की कथा के अन्त में रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण के जन्म की बात यों कही है —

X Ribot, creative Imagination, p. 118

\+ बालकाड दोहा २२.

= बालकाढ दोहा १२३।१२७ तक

\+ वाल० दोहा १४६

θ बालकाड दोहा १७५।१७६.

है; उसका विस्तार यहाँ नहीं। वस्तुतः वेदों में अनेक कहानियाँ भी मिलती हैं। + और कहानियों के बीज भी। × इन वैदिक बीजों की लौकिक व्याख्या करने वाली कहानियाँ पुराणों में मिलती हैं। अतः वैदिक 'अहल्यायै जार' की व्याख्या-रूप कहानी का सर्व प्रथम लौकिक रूप वाल्मीकि रामायण में बना। • इसमें ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध पूर्वार्द्ध-गौण सा हो गया और उद्धार की कथा जिसका ब्राह्मण ग्रन्थों में अभाव है, की प्रमुखता हुई। गौतम ऋषि अहल्या को शाप देते हैं कि तू निराहार, भस्म शायिनी होकर, तप करती सब भूतों की दृष्टि से छिपी हुई सहस्रों वर्ष तक इस आश्रम में रहेगी। तब राम इस वन में आकर मुझे पवित्र करेंगे। तब तू मुझसे मिल सकेगी। राम लक्ष्मण ने आश्रम में प्रवेश किया। उन्होंने देवी अहल्या को देखा; शाप का अन्त हुआ। वाल्मीकि रामायण में अहल्या का पत्थर होना नहीं लिखा। किन्तु तुलसीदास जी ने उसको पत्थर की शिला के रूप में बताया है :—

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर,
चरन-कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।
[बाल० दो० २१०]

इस प्रकार शाप-वश पत्थर होजाने की कल्पना का विकास भी देखा जा सकता है। अध्यात्म रामायण ∞ में शाप का इस प्रकार उल्लेख है; तू निराहार दिनरात तप करती हुई, धूप-वायु वर्षा को सहन करती हुई, हृदयस्थ राम का एकाग्र मन से ध्यान करती हुई मेरे आश्रम में शिला पर रह (शिलायांतिष्ठ)। इस प्रकार अध्यात्म रामायण में शिला होने जाने का उल्लेख नहीं, शिला पर बैठ कर तप करने का है। किन्तु आगे यह भी उल्लेख है कि जिस शिला पर वह बैठी थी उसके राम-चरण से छू जाने पर ही अहल्या का उद्धार हो गया।

+ देखिए हिन्दी में प्रकाशित 'वैदिक कहानियाँ'

× ब्रजलोक साहित्य का अध्ययनः सत्येन्द्र, पृ० ३६६

• वाल्मीकि बालकांड सर्ग ४८।४६

∞ अध्यात्म रामायण : बालकांड सर्ग ५

फिर लोक तत्व आ मिलते हैं। विश्वामित्र जी राम को इस प्रकार की जड़ी बूटी देते हैं जिससे भूख नहीं लगे। इस प्रकार की जड़ी बूटी हो भी सकती हैं। किन्तु विश्वामित्र जी इस प्रकार की जादू-विद्या भी बताते हैं जिससे भूख प्यास नहीं लगे :—

तब रिषि निज नाथहिं जियँ चीन्ही।
विद्यानिधि कहुं विद्या दीन्ही। ×

आगे राक्षसों को मारने का वर्णन है। बिनाफर का बाण मारने से ही मारीच समुद्र पार सौ योजन पर जाकर गिरा। + अभिप्रायः (motif) भी लोक मस्तिष्क की उपज है। इस प्रकार लोक-औत्सुक्य और कल्पना-शीलता को ध्यान में रखते हुए गोस्वामी जी ने कथा को आगे बढ़ाया है। आगे फिर एक लोक-कहानी जोड़ देते हैं :—

अहल्या उद्धार की कथा तब आती है जब राम-लक्ष्मण-विश्वामित्र जी के साथ जनकपुर की यात्रा करते हैं। अहल्या गौतम ऋषि के शाप के फल स्वरूप प्रस्तरी भूत हो गई थी। उसके आश्रम का वर्णन

अहल्या उद्धार

तुलसीदास जी इस प्रकार करते हैं :—

आश्रम एक दीख मग माहीं,
खग मृग जीव-जन्तु तहँ नाहीं।

इस प्रकार आश्रम के वर्णन करने से गौतम-ऋषि के शाप की भयंकरता दिखाई है। इस अहल्या उद्धार की कथा आधार ऐतिहासिक नहीं + इसका स्वरूप निश्चय ही लोक में निर्धारित हुआ। इस कथा का वैदिक बीज यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में मिल जाता है। = किन्तु वहाँ कथा का पूर्वार्द्ध ही प्राप्त होता

× बालकांड: दोहा २०८।२०९ के बीच।

+ बिनु फर बान तेहि मारा सत जोजन गा सागर पारा।

+ 'विचार और अनुभूति': डा० धीरेन्द्र वर्मा: 'अहल्या-उद्धार' पर लेख: पृ० २६।

= शतपथ ब्राह्मण (III, ३, ४, १८) में इन्द्र को 'अहल्या यै जार' कहा गया है। इसी प्रकार जैमिनी ब्राह्मण में है : २।७६

है; उसका विस्तार वहाँ नहीं। वस्तुतः वेदों में अनेक कहानियाँ भी मिलती हैं। + और कहानियों के बीज भी। × इन वैदिक बीजों की लौकिक व्याख्या करने वाली कहानियाँ पुराणों में मिलती हैं। अतः वैदिक 'अहल्यायै जार' की व्याख्या रूप कहानी का सर्व प्रथम लौकिक रूप वाल्मीकि रामायण में बना। * ...में ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध पूर्वार्द्ध-गौण सा हो गया और उद्धार की कथा ...सका ब्राह्मण ग्रन्थों में अभाव है, की प्रमुखता हुई। गौतम ऋषि अहल्या को ...प देते हैं कि तू निराहार, भस्म शायिनी होकर, तप करती सब भूतों की ...ष्टि से छिपी हुई सहस्रों वर्ष तक इस आश्रम में रहेगी। तब राम इस वन में ...आकर तुझे पवित्र करेंगे। तब तू मुझसे मिल सकेगी। राम-लक्ष्मण ने आश्रम ...में प्रवेश किया। उन्होंने देवी अहल्या को देखा; शाप का अन्त हुआ। ...वाल्मीकि रामायण में अहल्या का पत्थर होना नहीं लिखा। किन्तु तुलसीदास ...जी ने उसको पत्थर की शिला के रूप में बताया है :—

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर,
चरन-कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।
[बाल० दो० २१०]

इस प्रकार शाप-वश पत्थर होजाने की कल्पना का विकास भी देखा जा सकता है। अध्यात्म रामायण ∝ में शाप का इस प्रकार उल्लेख है; तू निराहार दिनरात तप करती हुई, धूप-वायु वर्षा को सहन करती हुई, हृदयस्थ राम का एकाग्र मन से ध्यान करती हुई मेरे आश्रम में शिला पर रह (शिलायांतिष्ठ)। इस प्रकार अध्यात्म रामायण में शिला होने जाने का उल्लेख नहीं, शिला पर बैठ कर तप करने का है। किन्तु आगे यह भी उल्लेख है कि जिस शिला पर वह बैठी थी उसके राम-चरण से छू जाने पर ही अहल्या का उद्धार हो गया।

+ देखिए हिन्दी में प्रकाशित 'वैदिक कहानियाँ'

× ब्रजलोक साहित्य का अध्ययनः सत्येन्द्र, पृ० ३६६

* वाल्मीकि बालकांड सर्ग ४८।४६

∝ अध्यात्म रामायण : बालकांड सर्ग ५

'कथा सरित्सागर' में● भी यह प्रसग श्राया है। वहाँ गौतम के शाप का वर्णन करते हुए शिला भाव को प्राप्त होकर श्रहल्या के रहने का उल्लेख है। 'पद्मपुराण' में भी 'शिलाभाव' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी का पद्मपुराण कालिदास के पूर्व का है। उसका प्रमाण रघुवश ★ में किया है। वहाँ भी श्रहल्या का पत्थर हो जाना लिखा है। ज्ञात होता है कि लोक प्रतिभा ने ही श्रहल्या को पत्थर होने की बात सोची। इस प्रकार का पत्थर होना श्रनेक लोक कहानियों में श्राज भी विद्यमान है। व्रज की प्रसिद्ध 'चाह होइ तौ ऐसी होइ' ✿ नामक कहानी में बढ़ई के बेटे के पत्थर हो जाने का उल्लेख है। बगाल की प्रसिद्ध 'फकीरचन्द' [] की कहानी में एक मित्र का पत्थर हो जाने का उल्लेख है। भारत म ही नहीं योरप में भी इस प्रकार का विश्वास है। जर्मनी की फेदफुल जॉन की कहानी में भी उसके स्वामिभक्त नौकर के पत्थर हो जाने का उल्लेख है। θ इस प्रकार के पत्थर होने का विश्वास समस्त श्रार्य ससार में समान रूप से प्रचलित है। इसका मूल लोक है। उसी के श्रनुसरण से श्रहल्या के पत्थर हो जाने की कहानी रची गई। उस पत्थर रूप गौतम नारी का पुनर्जीवित होने का उल्लेख श्रागे की घटना है। तुलसी कहते हैं —

'परसत-पदपावन सोक नसावन प्रकट भई तपपुंज सही'

उक्त व्रज, बगाल श्रौर जर्मनी की कहानियों तथा श्रन्य लोक-कथाश्रों में भी प्रत्थर की मूर्ति का फिर से जीवित हो जाना भी मिलता है। पहले कहे हुए ब्राह्मण साहित्य में इस उद्धार भाग का उल्लेख नहीं। वाल्मीकि जी ने 'चरण-स्पर्श' तथा 'रज स्पर्श' वाली बात नहीं कही। श्राश्रम में श्रागमन मात्र की बात कही है। उसी से श्रहल्या का उद्धार हो जाता है, वहाँ यह भी उल्लेख है कि राम-लक्ष्मण ने श्रहल्या के पैर छुए। श्रत राम के चरण स्पर्श से श्रहल्या उद्धार

● कथा सरित्सागर (३, श्रध्याय १७)

★ सर्ग ११, श्लोक ३३, ३४

✿ 'व्रज की लोक-कहानियाँ', पृ०।१३१

[] देखिए, Folk tales of Bengal, रेवरेंडलाल विहारी दे

θ व्रजलोक साहित्य का श्रध्ययन : पृ० ५०० छ

की कथा उस समय की है- जब 'राम' के साथ कुछ साम्प्रदायिक दृष्टि जुड़ी। उन्हें परम-पवित्र माना गया। अध्यात्म-रामायण में जिस शिला पर अदृष्ट रूप से अहल्या बैठी थी, उसी के चरण से छू जाने पर उसका उद्धार हुआ। तुलसी तक आते आते भावात्मक विकास भक्ति का रूप धारण कर लेता है और उनके 'पद-पावन' की बात से भी आगे उनकी चरण-रज को ही पवित्र समझा जाने लगा इसीलिए तुलसी ने लिखाः—

'चरन-कमल-रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।'

इस -'चरन-कमल-रज' की पवित्रता का भाव भी लोक का ही है। लोक में टोना (magic) का तत्व धर्म से भी पूर्व का है । फ्रेज़र ने टोने दो प्रकार के बताए हैं।π 'कन्टेजिअस मैजिक' और 'होम्यो-पैथिक मैजिक' 'कन्टेजिअस मैजिक' छूत के आधार पर है। जो कोई वस्तु एक बार किसी व्यक्ति के सम्पर्क में आती है तो, वह सम्पर्क सदा ही रहता है। उसमें व्यक्ति के गुण आ जाते हैं। अतः राम का 'पतित-पावन' गुण उनके संपर्क में आई हुई रज के भी हो जाता है। लोक-कथाओं में जीवित करने के अनेक उपाय हैं। उनमें से एक रक्त है§ उक्त तीनों कथाओं में रक्त से जीवित होने की बात है। रक्त का स्थान यहाँ राम की चरण-रज ने ले लिया है। उत्तरार्द्ध में तुलसी की साम्प्रदायिक दृष्टि प्रधान है।

इसी प्रकार लोक-आधार पर खड़ी अहल्या-कथा को निर्दिष्ट करते हुए कवि राम लक्ष्मण को मिथिलापुरी में पहुँचा देते हैं। वहाँ का सीता-राम-विवाह-प्रसंग भी लोक-तत्वों से अछूता नहीं है। सबसे पहले हमें यह देखना है कि भारोपीय विवाह-कथाओं में कौन-कौन प्रधान अभिप्राय (motif) पाये जाते

सीता-राम-विवाह

π गोल्डन बाउ : फ्रेजर : पृ० ५३-५४।

§ इस प्रकार की अनेक कहानियाँ हैं जिनमें गौरा-पार्वती अपनी उंगली चीर कर मृतक के मुँह में निचोड़ देती है। जिससे मृतक जीवित हो जाता है।

'कथा सरित्सागर' में ● भी यह प्रसग आया है। वहाँ गौतम के शाप का वर्णन करते हुए शिला भाव को प्राप्त होकर अहल्या के रहने का उल्लेख है। 'पद्मपुराण' में भी 'शिलाभाव' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी का पद्मपुराण कालिदास के पूर्व का है। उसका प्रमाण रघुवश ★ में किया है। वहाँ भी अहल्या का पत्थर हो जाना लिखा है ज्ञात होता है कि लोक प्रतिभा ने ही अहल्या को पत्थर होने की बात सोची। इस प्रकार का पत्थर होना अनेक लोक कहानियों में आज भी विद्यमान है। व्रज की प्रसिद्ध "चारु होइ तौ ऐसौ होइ' ❀ नामक कहानी में वढ़ई के बेटे के पत्थर हो जाने का उल्लेख है। बगाल की प्रसिद्ध 'फकीरचन्द' [] की कहानी में एक मित्र का पत्थर हो जाने का उल्लेख है। भारत में ही नहीं योरुप में भी इस प्रकार का विश्वास है। जर्मनी की फेदफुल जॉन की कहानी म भी उसके स्वामिभक्त नौकर के पत्थर हो जाने का उल्लेख है। ϴ इस प्रकार के पत्थर होने का विश्वास समस्त आर्य ससार में समान रूप से प्रचलित है। इसका मूल लोक है। उसी के अनुसरण से अहल्या के पत्थर हो जाने की कहानी रची गई। उस पत्थर रूप गौतम नारी का पुनरुज्जीवित होने का उल्लेख आगे की घटना है। तुलसी कहते हैं —

'परसत-पदपावन सोक नसावन प्रकट भई तपपुज सही'

उक्त व्रज, बगाल और जर्मनी की कहानियों तथा अन्य लोक-कथाओं में भी पत्थर की मूर्ति का फिर से जीवित हो जाना भी मिलता है। पहले कहे हुए ब्राह्मण साहित्य में इस उद्धार भाग का उल्लेख नहीं। वाल्मीकि जी ने 'चरण-स्पर्श' तथा 'रज स्पर्श' वाली बात नहीं कही। आश्रम में आगमन मात्र की बात कही है। उसी से अहल्या का उद्धार हो जाता है, वहाँ यह भी उल्लेख है कि राम-लक्ष्मण ने अहल्या के पैर छुए। अत राम के चरण स्पर्श से अहल्या उद्धार

● कथा सरित्सागर (३, अध्याय १७)
★ सर्ग ११, श्लोक ३३, ३४
❀ 'व्रज की लोक-कहानियाँ' : पृ०।१३१
[] देखिए Folk tales of Bengal, रेवरेंडलाल विहारी दे
ϴ व्रजलोक साहित्य का अध्ययन : पृ० ५०० छ

अर्जुन भी मत्स्य भेदन करने के अनन्तर ही द्रोपदी को प्राप्त करता है। इस अभिप्राय का बीज हमें वैदिक साहित्य में मिलता है। इन्द्र को उषा-विवाह तथा 'सीता+विवाह' के लिए पहले मत्र विनाश करना पड़ता है।× स्वयंवर की प्रथा वस्तुतः बहुत ही प्राचीन प्रथा है। इसका सम्बन्ध आदिम अवस्था से है। तुलसीदास जी ने लोक-तत्वों से इस प्रथा को सजाया है। इस प्रकार की शर्त का रखना और उसके पूरे होने पर विवाह सम्पन्न होना लोक तत्व होते हुए भी जातिगत (Tribal) विभाजन से पूर्व कोई अन्य प्रणाली लोक में प्रचलित रही होगी। इसके साथ ही इस प्रकार की शर्त किसी विशेष स्त्री-वर्ग के लिए रखी जाती रही होगी, जिन स्त्रियों में कोई विशेष गुण अथवा महानताएँ होती होंगी उन्हीं के लिए इस प्रकार की शर्तें रखी जाती होंगी। सीता जी के साथ जो विशेषताएँ थीं उनका जनक ने अपने नैराश्य व्याख्यान में इस प्रकार वर्णन किया है:—

कुँअँरि मनोहर, विजय बड़ि, कीरति अति कमनीय
पावनि हारि बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय।*

इस प्रकार के स्वयंवरों में देव, दनुज, मानव सभी भाग लेते थे किन्तु शिष्ट वर्ग के ही:—

देव-दनुज-धरि मनुज सरीरा
बिपुल बीर आए रन धीरा।

इस प्रकार शर्त रक्खा जाने वाला स्वयंवर एक सम्भ्रान्त वर्ग की तथा विशेषताएँ रखने वाली कन्याओं के लिए होता था। 'नारद-मोह' की कथा के स्वयंवर में भी इसी प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं जिनका विवरण नारद जी हस्त-रेखाओं के आकार पर देते हैं। इस विवाह का बिल्कुल सर्व साधारण रूप

× इसका विवेचन द्वितीय अध्याय में हो चुका है।
* बालकांड : दोहा-२५१

है। इसके लिए हम 'बर्न' द्वारा दिए हुए भारोपीय कथाओं के अभिप्रायों देखेंगे।Θ बर्न के दिए हुए रूप में एक रूप यह है:—

'आइड वेजर टाइप'

[दाँव पर रखकर दुलहिन पाना]

दुलहिन, (कभी कभी पति) को प्राप्त किया जाता है—

१—पहेलियों का उत्तर देने पर
२. विविधि कार्य सम्पादन करने पर
३. दैत्य से युद्ध करके
४. उसे हंसा देने पर
५. किसी रहस्य का उद्घाटन कर देने पर।

इस कथा-रूप में द्याए द्वितीय अभिप्राय (motif) से हमारा यहाँ सम्बन्ध है। जनक के बन्दीजन यह घोषणा करते हैं—

बोले बंदी वचन वर सुनहु सकल महिपाल
पन-विदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ विसाल※

नृप भुज बल विधु सिवधनु राहू, गरुअ कठोर विदित सब काहू।
रावनु बान महा भट्ट मारे, देखि सरासर गवंहिं सिधारे॥
सोइ पुरारि को दंडु कठोरा, राज-समाज आजु जोइ तोरा।
त्रिभुवन जय समेत वैदेही, बिनहिं विचार वरइ हठि तेही।

इस घोषणा से स्पष्ट है कि एक कठिन कार्य संपादन करने पर ही सीता का वरण आधारित है। इस प्रकार की अनेक पुराण-गाथाएँ प्राप्त होती हैं।

Θ इसी के आधार पर विवाह के अभिप्रायः दिखाए हैं।

※ बाल कांड दोहा-२४६.

+ यहाँ वैदिक सीता से तात्पर्य है जिसका उल्लेख राम-कथा के वैदिक तत्वों पर विचार करते समय ऊपर हो चुका है।

अर्जुन भी मत्स्य भेदन करने के अनन्तर ही द्रौपदी को प्राप्त करता है। इस अभिप्राय का बीज हम वैदिक साहित्य में मिलता है। इन्द्र को उषा विवाह तथा 'सीता+विवाह' के लिए पहले मज विनाश करना पड़ता है।× स्वयंवर की प्रथा वस्तुतः बहुत ही प्राचीन प्रथा है। इसका सम्बन्ध आदिम अवस्था से है। तुलसीदास जी ने लोक-तत्वों से इस प्रथा को सजाया है। इस प्रकार की शर्त का रखना और उसके पूरे होने पर विवाह सम्पन्न होना लोक तत्व होते हुए भी जातिगत (Tribal) विभाजन से पूर्व कोई अन्य प्रणाली लोक में प्रचलित रही होगी। इसके साथ ही इस प्रकार की शर्त किसी विशेष स्त्री वर्ग के लिए रखी जाती रही होगी, जिन स्त्रियों में कोई विशेष गुण अथवा महानताएँ होती होंगी उन्हीं के लिए इस प्रकार की शर्तें रखी जाती होंगी। सीता जी के साथ जो विशेषताएँ थीं उनका जनक ने अपने नैराश्य व्याख्यान में इस प्रकार वर्णन किया है —

कुँअरि मनोहर, विजय बड़ि, कीरति अति कमनीय
पावनि हारि विरचि जनु रचेउ न धनु दमनीय।*

इस प्रकार के स्वयंवरों में देव, दनुज, मानव सभी भाग लेते थे किन्तु शिष्ट वर्ग के ही —

देव दनुज-धरि मनुज सरीरा
विपुल वीर आए रन धीरा।

इस प्रकार शर्त रक्खा जाने वाला स्वयंवर एक सम्भ्रान्त वर्ग की तथा विशेषताएँ रखने वाली कन्याओं के लिए होता था। 'नारद-मोह' की कथा के स्वयंवर में भी इसी प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं जिनका विवरण नारद जी हस्त रेखाओं के आकार पर देते हैं। इस विवाह का बिल्कुल सर्व साधारण रूप

×इसका विवेचन द्वितीय अध्याय में हो चुका है।
* बालकांड दोहा २५१

लोक के अनेक गीतों में मिलता है। + किन्तु तुलसी के द्वारा अपनाए गए वैवाहिक रूप को भी लौकिक कहा जायगा जो समस्त भारतीय लोक-विवाह कथाओं में मिलता है। वस्तुत. मूल में इस प्रकार शर्त को पूरा करना आदिम युग के मनुष्य की कसौटी रहा होगा, जब कि उसका जीवन कठोरता में पला

+एक 'गुजराती' गीत जिसे झवेरचन्द मेघाणी ने 'सीता विवाह' शीर्षक दिया था, उसका देवेन्द्र सत्यार्थी जी द्वारा दिया हुआ हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया जाता है, जो वैवाहिक लोक रूप को स्पष्ट करता है:—

"राम और लक्ष्मण दो भाई हैं
दोनों शिकार खेलने चले हैं
राम को प्यास लग आई
'भ्राता लक्ष्मण पानी पिलाओ' वे बोले।
वृक्ष पर चढ़ कर लक्ष्मण ने निगाह दौड़ाई
कहीं भी उसे अमृत नीर नजर न आया।
खेत के बीच एक धारा बह रही है
दूर से जल चमक रहा है
वृन्दावन में एक बावली है
उस पर एक बाल कुँवरि पानी भर रही है।
अपनी कोरी गागर उसने जल से भर ली है
पनिहारियों के समेत 'सीता' जल भरने आई हैं।
घड़े का समस्त जल राम पी गये।
जल पी कर उन्होंने पनिहारी का घर बार पूछा
'तुम किसकी पुत्री हो
विवाह हो गया या अभी कुँवारी हो?"
'मैं जनक की पुत्री हूँ, न विवाहिता हूँ न पतिद्वारत्यक्ता
मैं बाल कुँवारी हूँ"
समस्त वन को हवन कुंड के रूप में चित्रित कर लिया
दामिनी की वरमाला बना ली गई

होगा। जब उसकी चर्चा प्रकृति के प्रति सतत संघर्ष ही थी। पीछे उसका रूप जातीय (Tribal) हो गया।

राम-सीता के विवाह से पूर्व प्रथम दर्शन की योजना पुष्पवाटिका प्रसग में काव्य-कला की दृष्टि से ही किया गया है। वाल्मीकि रामायण से जहाँ परिवर्तन दीखता है वह भी काव्य की दृष्टि से है। उन परिवर्तनों पर विचार यहाँ नहीं करना है। माताप्रसाद गुप्त ने उन परिवर्तनों का स्रोत और आधार हनुमन्नाटक और प्रसन्न राघव माना है।= इस प्रसंग के विस्तार में अनेक लोक तत्व मिलाए गये हैं, जिनका मानस की कला की सफलता मे विशेष हाथ है। उनका विस्तृत विवेचन यहाँ अभिप्रेत नहीं। सीता की विदाई, अयोध्या में उनकी अगवानी आदि भी लोक-सांस्कृतिक आधार पर हैं।

नौलाख तारे निहार रहे हैं
श्री राम सीता को ब्याह रहे हैं
"प्रथम वरदान मागलो" राम ने कहा
सीता ने धरती और आकाश माग लिए (और बोली)
"धरती में अन्न उपजता है
"आकाश से बादल बरसते हैं"
"दूसरा वरदान मांगलो" (राम ने कहा)
सीता ने माता मांगली, साथ ही पिता माग लिया (बोली)
"पिता ने मुझे लाड़-लड़ाया है
माता की छाती का मैंने अमृत पिया है"
तीसरा वरदान माग लो (रामने कहा)
सीता ने घोड़ी मांग ली, साथ ही साथ गाय मागली।
"गाय का पुत्र हल चलाता है
और घोड़ी का पुत्र रणभूमि में जूझ जाता है।

['धरती गाती है' : पृ० १००]

= 'तुलसीदास' : पृ० २३०.

=

अयोध्याकांड

अयोध्या-कांड में कथा को आगे बढ़ाने वाली सबसे बड़ी घटना राम का बनवास है। बनवास का कारण मंथरा और कैकेयी हैं। मंथरा की मति ऐसी क्यों हो गई—इसका कारण ढूँढ़ने की समस्या थी। इसको कवि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

> नामु मंथरा मदगति चेरी कैकइ केरि,
> अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि। +

किन्तु इस कल्पना में कि शारदा मंथरा की मति को फेर गई, लोक तत्व उतना नहीं दीखता जितना कि काव्य प्रतिभा इसमें मंथरा जैसी स्वामिभक्त परिचारिका के चरित्र को बचा जाने की प्रवृत्ति प्रधान दीखती है। इसी प्रकार कैकेयी के लिए 'भावी बस प्रतीति उर आई' लिखकर भी इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया गया है।

बनवास + हो जाने के पश्चात् सीता राम-लक्ष्मण सचिव सहित गंगा पर पहुँचे हैं। वहाँ गंगा का महत्व और राम का अलौकिकत्व बता कर तुलसीदास जी ने कथा आगे बढ़ा दी है। किन्तु वाल्मीकि रामायण के दक्षिण संस्करण में एक उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि सीता ने मदिरा की १०० सुराहियों के भेंट चढ़ाने का संकल्प किया। ※ इस प्रकार के लोकतत्व को तुलसीदास जी ने त्याग दिया है। इसी प्रकार के अन्य अनेक लोक तत्वों को तुलसी ने अपनी कथा में स्थान नहीं दिया है जो वाल्मीकि रामायण में आये हैं। गंगा के प्रसंग

+ अयोध्याकांड : दोहा १२.

+ बनवास दिया जाना स्वयं लोक तत्व दीखता है। अनेक लोक-कथाओं में बनवास और देश निकाले की बात आती है। उसका कारण कुछ रहा हो।

※ The Journal of Oriental Reseaich Madras : Vol. XVII. (Sept 1647)[The Three Recensions of Valmiki Ramayan]

के साथ ही निषाद से राम की भेंट होने का उल्लेख है उसमें भी लोक-तत्व उतना नहीं जितना जाति-तत्व (Racial Element) इसमे आगे केवट से नाव माँगने का प्रसंग आता है। उसमें तीन तत्वों का मिश्रण दीखता है:—

१. केवट जाति-तत्व तथा केवट का भोलापन।

२. केवट की लौकिक-मनोभूमि।

३. पद-धोने और चरणामृत पान करने में कवि की भक्ति-भावना का आभास।

केवट की मनोभूमि लौकिक है। टोने (Magic) के आधार पर उसके मन में यह विश्वास जमा हुआ है कि राम की पद-रज में जड़ वस्तुओं को स्त्री बनाने का गुण समाया हुआ है। टोने में यह भ्रम आवश्यक रूप से रहता है कि एक बार जिस चमत्कारिक गुण का आरोप किसी वस्तु के साथ हो जाता है, वह सदैव रहता है। इसी के आधार पर केवट कहता है :—

चरन-कमल-रज कहुँ सबु कहई,
मानुष करनि भूरि कछु अहई।

केवट अहल्या-उद्धार की परिस्थितियों को भूल कर उस गुण का साधारणीकृत रूप ही देखता है। इसी मनोभूमि में लोक के अनेकों विश्वासों और गूढ़ ग्राहों का जन्म होता है। इस प्रकार केवट की मनोभूमि को कवि ने बड़े कौशल के साथ चित्रित किया है। केवट उनको तभी पार उतारता है जब उनका पद प्रक्षालन कर लेता है। इस लौकिक मनोभूमि को कवि-प्रतिभा शीघ्र ही भक्ति के सागर में ला मिलाती है। इस सम्मिश्रण से वह स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे राम भी हंस जाते हैं। निरुत्तर हो जाते हैं :—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे,
बिहँसे करुना ऐन, चितइ जानकी लषन तन।

आगे सीता जी की मनौती करने पर गंगा से उत्पन्न होने वाली वाणी है। इसकी उपज भी लोक-मस्तिष्क से ही अधिक सम्बन्ध रखती है। आदि काल में मानव ने प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में प्राण प्रतिष्ठा की थी। समस्त नदी, नद, तालाब, पहाड़ आदि में देवत्व और व्यक्तित्व की स्थापना उस लोक के

करने को कहा, राम ने भरत से राज्य करने को कहा। इस प्रकार विवाद चला इस पर राम ने स्वयं अपनी खड़ाऊँ दे दीं θ चीन में प्राप्त 'अनामकं जातकं' में इस प्रकार का भरत आदि का कोई उल्लेख नहीं * किन्तु चीन के दूसरे जातक में उल्लेख इस प्रकार है। भरत ने राम का निश्चय दृढ़ देखा। अतः भरत ने राम से धर्म-पादुकाएँ मांगीं। × इस जातक में भरत का धर्म-पादुकाएँ मांगना वाल्मीकि रामायण के दक्षिण संस्करण से मिलता है। इसको हम पहले देख चुके हैं कि दशरथ जातक का स्रोत निश्चय रूप से लोक ही है। इस प्रकार राम का अपने आप खड़ाऊँ देना जिसको तुलसी ने अपनाया है, वह वाल्मीकि रामायण से नहीं लोक से लिया गया है।

भरत जी ने वे खड़ाऊँ लाकर राज्य सिंहासन पर स्थापित कीं; उनकी नित्य प्रति पूजा करते थे तथा उनसे आज्ञा मांग-मांग कर राज-काज करते थे—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति।
मागि मागि आयसु करत राज-काज बहुभाँति।

चीन में प्राप्त दशरथ जातक में भी अक्षरशः यही भाव व्यक्त किया गया है। उस अंश का अनुवाद डा० रघुवीर ने इस प्रकार किया है +

"Daily evening and morning, (Bharat) worshipped them and took orders from them, as if from his real elder brother."

इसका अभिप्राय यह है कि चीनी जातक का जो स्रोत भारतीय 'लोक' में था, तुलसी ने इसी से इस 'मोटिव' को अपनाया है। 'दशरथ-जातक' के भारतीय रूप में लोक-तत्त्व अधिक स्पष्ट हो जाता है। उसमें उल्लेख इस प्रकार है, खड़ाऊँ सिंहासन पर प्रतिष्ठित की गईं। तीन वर्ष तक इन्होंने ही राज्य

θ देखिए Ramayan in China के आरम्भ में दिया हुआ 'दशरथ जातक' (डा० रघुवीर)

* वही : 'Jataka of unnamed King'

× वही : Nidara of the King 'Ten-inxuries'

+ वही।

किया। कोई गलत कार्य हो जाता था तो पत्राऊँ एक दूसरे से बजने लगतीं थीं। जब न्याय ठीक होता था तो वे शान्त रहती थीं, किन्तु इस लोक-वात तत्व को तुलसी ने छोड़ दिया है।

अरण्य-कांड—

अरण्य-कांड में कुछ लोक तत्व अधिक उभर आते हैं। सबसे प्रथम जयंत का प्रसंग आता है। जयंत सीता जी के चरण को क्षत कर देता है। इस कथा का अभिप्राय राम के बल को दिखाना है। राम सींक के बाण से ही जयन्त का बल क्षीण कर देते हैं। इस प्रकार की पक्षि-वार्ता लोक मानस की अति प्राचीन उद्भावनाएँ हैं। इन पशुपक्षियों की कहानियों (fabiles) का विविध प्रकार से उपयोग संसार में सर्वत्र हुआ है। बौद्ध जातक, पंच-तंत्र आदि इन्हीं कहानियों के विविध दृष्टि कोणों से उपयोग के प्रमाण हैं। इसी प्रकार जयंत कौए की कहानी का उपयोग तुलसी ने किया है।

जयंत के प्रसंग से आगे अत्रि-अनुसूया-प्रसंग है। इसका धरातल मुख्यतः ज्ञानवादी है। वाल्मीकि रामायण की 'सीता' अनुसूया से अपने जन्म की कथा भी कहती है।* इस उत्पत्ति की कथा का रूप बिल्कुल ही लोक-कथा का सा है। तुलसी की सीता इस प्रकार की कोई कथा नहीं कहतीं अतः इस प्रसंग को यहाँ उठाना अप्रासंगिक होगा। यहाँ से आगे हम विराध-प्रसंग पर आते हैं। तुलसीदास जी इस विराध प्रसंग को दो चौपाइयों में कह देते हैं।

मिला असुर विराध मग जाता, आवत ही रघुवीर निपाता।
तुरतहिं रुचिर रूपतेहिं पावा, देखि दुखी निजधाम पठावा।

वाल्मीकि रामायण में यह प्रसंग अधिक विस्तृत तथा लोक-वार्ता के अनेक तत्वों से पूर्ण है। वहाँ कई अतिमानवीय घटनाओं का उल्लेख है जिनका मूल

---

* इसका उल्लेख तीनों संस्करणों में 'अयोध्या-कांड' के अन्त में मिलता है। इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इसके साथ ही सीता उत्पत्ति का अद्भुत रूप अद्भुत रामायण और जैन-उत्तरपुराण में भी देखा जा चुका है।

निरवासी एवं परम कल्पना शील मस्तिष्क की ही उद्भावना है। उसी उद्भावना को बाद के युगों में अनेक प्रकार से उपयोग में लाया गया। 'तुलसी' की गंगा भी सीता की प्रार्थना पर समुद्र की भाँति रूप धारण करके प्रकट तो नहीं होती किन्तु उससे वाणी अवश्य सुनाई पड़ती है।—

> मुनि सिय विनय प्रेम रस सानी,
> भइ तब विमल बारिबर बानी।

इस प्रकार के तत्वों से तुलसी की कला कितनी निराली है यह कहने की बात नहीं।

आगे चल कर राम प्रयाग राज पहुँचते हैं। भरद्वाज से भेंट होती है। इस भेंट में कोई लोक तत्व नहीं है। मार्ग में ग्राम निवासियों से भेंट होती है। मार्ग में नरनारियों के 'उत्साह' और आनन्द का वर्णन है। इन समस्त स्थलों में तुलसी के अनेक मनोवैज्ञानिक चित्रण सुन्दर हैं। वाल्मीकि जी द्वारा निर्दिष्ट चित्रकूट पर पहुँचते हैं, वहाँ 'कोल किरात' रूप में अवतरित होकर देवता पर्णकुटीर बनाते हैं। तुलसीदास जी ने दो पर्णशालाओं का उल्लेख किया है। वाल्मीकि रामायण के दक्षिण-भारत संस्करण में केवल एक पर्णकुटीर लक्ष्मण द्वारा बनाया जाता है। किन्तु बंगाल और उत्तर पश्चिम के संस्करण में दो पर्णकुटीरों के बनाये जाने का उल्लेख है।* तुलसीदास जी ने इसी प्रणाली को अपनाते हुए दो पर्णकुटीरों का उल्लेख किया है।—

> कोल-किरात वेष सब आये, रचे परन तृन सदन सुहाए।
> बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला, एक ललित लघु एक बिसाला।

दो पर्णकुटीरों की कल्पना को अपनाने में लोक संस्कृति और लोक मर्यादा की रक्षा तुलसी का विशेष उद्देश्य रहा होगा —

---

* The Journal of the Oriental Research (Madras) Vol, XVII (Part)

The Three Recension of Valmiki Ramayan (अयोध्याकाण्ड): By C. Bulcke E. G.

चित्रकूट के मार्ग पर अग्रसर भरत से मोर्चा लेने के लिए निषादराज की वीरता-पूर्ण तैयारी तुलसी की मौलिक उद्भावना है। किन्तु यह किसी लोक कथा के आधार पर नहीं। इनमें निषादों की भावना, राम के प्रति उनकी भक्ति तथा अन्त में भरत के दर्शन मात्र से उनको अभिभूत करने में, भरत की उच्चता प्रदर्शन ही प्रधान अभिप्रायः हैं। इसी प्रकार चित्रकूट पर जनक का आगमन भी तुलसी की मौलिक उद्भावना है।

अयोध्याकांड के अन्त में चरण-पादुका प्रसंग आता है। उसको तुलसी इस प्रकार कहते हैं :—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं, सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।

इस प्रसंग के विकास पर एक दृष्टि डालकर आगे बढ़ना उपयुक्त होगा। इस प्रसंग का मुख्य अभिप्राय भरत की भक्ति दिखाना तथा राम की प्रतिनिधि रूपा पादुकाओं से राज्य कराना है। वाल्मीकि रामायण के दक्षिण संस्करण में भरत राम से चरण-पादुकाएँ मांगते हैं और राम अपनी स्वर्णिम पादुकाएँ भरत को देते हैं। + वाल्मीकि रामायण के बंगाल संस्करण में इस प्रकार उल्लेख है। सरभंग ऋषि ने राम के पास कुश-पादुकाएँ भेजी थीं। वही कुश-पादुकाएँ वशिष्ट के कहने से राम भरत को देते हैं। × वाल्मीकि रामायण के उत्तर-पश्चिम संस्करण में कुश-पादुका अथवा स्वर्णिम पादुकाओं का उल्लेख नहीं केवल वशिष्ट पादुका देने को कहते हैं। = वाल्मीकि रामायण के तीनों संस्करणों में या तो वशिष्ट के कहने पर चरण पादुकाएँ दी जाती हैं। या भरत के माँगने से किन्तु तुलसीदास जी ने राम का अपने आप चरण-पादुका देने का उल्लेख किया है। उत्तर-पश्चिम संस्करण की भाँति पादुकाओं को स्वर्णिम अथवा कुश निर्मित नहीं बताया। अब देखना यह है कि राम के चरण-पादुकाओं को अपने आप देने का स्रोत कहाँ है। बौद्ध दशरथ जातक के भारतीय संस्करण में उल्लेख इस प्रकार है। भरत ने राम से लौट चलने और राज्य

+ वाल्मीकि रामायण (दक्षिण संस्करण) ११२।१। ff.
× वही (बंगाल संस्करण) १०३।१६।२१.
= वही (N, W. संस्करण) १२४।१६ ff.

लोक-वार्ता में पाया जाता है * तुलसी ने इस विस्तार को छोड़ दिया है। अत ज्ञात होता है कि तुलसी के जिन लोक-वार्ता-तत्वों को अनावश्यक समझा है उन त्याग भी दिया है। इस प्रसंग से आगे राम का अरण्य पथ है। उसमें सरभग सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि ऋषि मिलते हैं। ये ऋषि अधिकतर दाक्षिणात्य-प्रदेश में आर्य-संस्कृति के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। सुदूर दक्षिण में आर्य ध्वजा को ये ऋषि लोग नहीं फहरा सके थे। उस कार्य को राम ने किया। पंचवटी में राम कुटी बना कर रहने लगते हैं।

वहाँ पंचवटी के पास ही गिद्धराज से भेंट होती है। गिद्धराज जटायु से यहाँ भेंट कराने का अभिप्राय सीता-हरण के समय जटायु की उपस्थिति को स्पष्ट करना दीखता है। किन्तु जटायु के सम्बन्ध के अन्य वाल्मीकीय विस्तारों को छोड़ दिया है। + किन्तु जिन अंशों को छोड़ दिया गया है उनमें भी लोक वार्ता तत्व अधिक नहीं, पंचवटी पर ज्ञान वैराग्य के उपदेशों में समय बीतता है।

फिर शूर्पणखा की घटना आ उपस्थित होती है। इस घटना में एक लोक वार्ता तत्व अधिक उभरा हुआ है। शूर्पणखाँ एक सुन्दरी का कपट-वेश बनाकर आती है। इस तत्व का मूल अवश्य ही लोक में है। इसका सम्बन्ध उन तत्वों से है जिनमें जादू विद्या के चमत्कारों की प्रधानता रहती है। कभी जादू से रूप

* दक्षिण संस्करण में लिखा है. विराध राम लक्ष्मण को ले भागा: विराध किसी भी प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से अवध्य था: अतः वह जीवित ही एक गड्ढे में फेंक दिया जाता है। बंगाल संस्करण में लिखा है कि विराध ने श्वेत रक्त की कै की: अन्त में दिव्य रूप धारण करके स्वर्ग गया। इस वर्णन में लोक वार्ता तत्वों का होना निर्विवाद है। किन्तु तुलसी ने इन विस्तारों को छोड़ दिया है।

+ जटायु का प्रजापति पर भाषण: सीता रक्षा का वचन (दक्षिण संस्करण, १४) जटायु अपने पर वालों तथा मित्रों को मिलने जाने की बात कहता है (बंगाल संस्करण, २३, ३, १०)

परिवर्तन होता है। कभी किसी आदमी को पशु बना दिया जाता है। इसी प्रकार शूर्पणखा भी रूप परिवर्तन में समर्थ थी—

तब खिसियानि राम पहिं गई,
रूप भयंकर प्रगटत भई।

आगे का प्रसंग खर-दूषण-विजय है। खरदूषण विजय के पश्चात् शूर्पणखा रावण के पास पुकार करती है। रावण मारीचि के पास चलता है।

सीता का अग्नि-प्रवेश—

इधर राम सीता से अग्नि प्रवेश के लिए कहते हैं। इस प्रसंग को तुलसी दास जी ने इस प्रकार लिखा है—

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला, मैं कछु करबि ललित नर लीला।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा, जौ लगि करौं निसाचर नासा।
जबहिं राम सब कहा बखानी, प्रभु पद धरि हिय अनल समानी।
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता, तैसइ सील रूप सुबिनीता।

अब प्रश्न यह उठता है कि सीता को अग्नि में प्रवेश कराने का क्या कारण था। वाल्मीकि जी ने सीता हरण का दृश्य इस प्रकार चित्रित किया है। रावण ने एक हाथ से सीता के बाल और दूसरे हाथ से उनकी जंघाओं को पकड़ कर उनको उठाया। तत्पश्चात् उनको अपने रथ पर रखा। × भारतीय सती का इतना उग्र हरण लोक को स्वीकार नहीं हो सकता था। इसमें सीता के सतीत्व की रक्षा के दो मार्ग हो सकते हैं। (१) कोई ऐसा उपाय सोचा जाय कि सीता हरण में रावण उसका स्पर्श न करे अथवा (२) माया-सीता का हरण कराया जाय। दोनों प्रकार के उपायों को भारतीय राम साहित्य में स्थान मिला। इस प्रकार सीता सतीत्व की रक्षा की दोनों धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। इसी रक्षा के हेतु तुलसी ने सीता को अग्नि में प्रविष्ट करा दिया है। वाल्मीकि जी ने भी इस प्रथा का अनुसरण किया है। किन्तु इस अग्नि प्रवेश वाली घटना

× वामेन सीता पद्माक्षीं मूर्धजेषु करेण सः
ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना।
[अर० स० ..।१७]

का भी विधिवत् विकास हुआ है। सबसे प्रथम 'कूर्म पुराण' में अग्नि प्रवेश की बात मिलती है।+ निर्जन बन स्थित सीता ने रावण को आते देखकर उसका अभिप्राय समझा और घर की अग्नि की शरण ली तथा 'वह्निष्टक' का जाप किया। इस पर अग्नि ने एक माया सीता बनाई। उसका रावण ने हरण किया। श्रीमद्देवी भागवत में भी लगभग इसी प्रकार का अग्नि प्रवेश है + रंग नाथ कृत तेलगु द्विपद् रामायण⊖ में लक्ष्मण अग्नि तथा अन्य देवताओं से प्रार्थना करके और सीता को उनकी रक्षा में सौंप कर राम की सहायता करने जाते हैं इस तत्व को तुलसी भी छोड़ते नहीं वे कहते हैं—बन दिसिदेव सौंपि सब काहू, चले जहाँ रावन ससि राहू। नरहर कृत कन्नारी रामायण× में लक्ष्मण के चले जाने पर अग्नि और अन्य देवता सीता का आधा भाग अग्नि के गड्ढे में रख कर आधा भाग पर्णशाला में छोड़ देते हैं।ग ब्रह्मवैवर्त पुराण में अग्नि ब्राह्मण के वेश में आकर राम से कहता है कि अब 'सीता हरण का समय आ गया। मुझे सीता को देकर उसकी छाया अपने पास रखलो। यही हुआ।= अध्यात्म रामायण में राम की सर्वज्ञता की रक्षा करते हुए तथा अग्नि की प्रधानता को हटाते हुए कथा को इस प्रकार कहा गया है। रावण तुम्हारे हरणार्थ आ आयगा अत तुम अपनी छाया को कुटी में छोड़कर अग्नि में प्रवेश कर जाओ।+ कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसी जी ने अध्यात्म रामायण वाले रूप को ही ग्रहण किया है। किन्तु इस 'मोटिव' को हम लोक

+ देखिए उसका 'पतिव्रतोपाख्यान' [इसकी रचना ७ वीं शती की मानी जाती है]

+ स्कंध ३, अध्याय २६।

⊖ इसकी रचना लगभग १२ वीं शती की मानी जाती है।

× इसकी रचना १५०० ई० के लगभग की है।

ग अरण्य काड, सन्धि ६।

= प्रकृति खण्ड : अध्याय १४ [इसका वर्तमान रूप १६ वीं शती का माना जाता है]

+ अरण्य काड, सर्ग ७।

कथाओं में भी ढूँढ़ सकते हैं। इस प्रकार के रूप परिवर्तन और यथार्थ रूपों की पुनः प्राप्ति लोक-कथाओं का प्रधान तत्व है। एक ही व्यक्ति के दो जगह निवास की बात दानवों की उन कहानियों में मिलती है जिनमें किसी दानव के प्राणों की स्थिति किसी पक्षी अथवा किसी अन्य वस्तु में रहती है। इसी प्रकार के तत्वों से पोषित होकर सीता का अग्नि-प्रवेश खड़ा हुआ उसका उपयोग साहित्यिक-प्रतिभाओं ने अपने उद्देश्य के अनुकूल कर लिया।

मारीचः कपटमृग—

फिर मारीच-प्रसंग आता है। मारीच का कपट मृग होना तुलसीदास जी ने इस प्रकार लिखा है—

> तेहि बन निकट दसानन गयऊ,
> तब मारीच कपट मृग भयऊ।

मारीच कपट मृग

चिन्तामणि विनायक वैद्य का अनुमान है कि वाल्मीकि कृति आदि-रामायण में सीता-हरण के वृत्तान्त में कनक मृग का कोई उल्लेख नहीं था।% किन्तु इस समय प्राप्त रामायण में इसका उल्लेख मिलता है। अतः यह बिल्कुल सम्भव दीखता है कि बाद में लोग के किसी स्रोत से कनक-मृगवाला तत्व आकर मिल गया हो। इसके प्रमाण में अनेक ऐसी राम-कथाएँ मिलती हैं जिनमें 'कनक-मृग' का तत्व नहीं है। 'अनामकं जातकं' [जिसकी कथा हम ऊपर दे चुके है] में राम के फल लाने जाने के समय 'रावण' [नाग] सीता [रानी] का अपहरण करले जाता है। (इसका अनुवाद चीनी भाषा में दूसरी शती के लगभग हुआ था) 'विमल सूरि' कृति 'पउमचरिअ' के अनुसार लक्ष्मण खरदूषण की सेना का सामना करते हैं। रावण जानता है कि लक्ष्मण ने राम से कहा है —आवश्यकता पड़ने के समय में सिंहनाद करूँगा। लक्ष्मण का सिंहनाद सुन कर राम सहायतार्थ जाते हैं। उसी समय रावण सीता को हर ले जाता है (इसका रचना काल लगभग ४ थीं शती माना गया है) कूर्म

% The Riddle of The Ramayan, P. 144

पुराण में भी रावण अकेली वन में टहलती हुई सीता का हरण कर ले जाता है। इससे यह सम्भव है कि वाल्मीकि रामायण के आदि रूप में भी कनक मृग वाले तत्व का अभाव हो। पीछे इस तत्व को मिला दिया गया हो। कनक मृग का वृत्तान्त उपरोक्त ग्रंथों को छोड़कर अन्य वृत्तों में पाया जाता है। इसका आगमन निश्चय ही लोक से हुआ है। इस प्रकार के रूप परिवर्तन के तत्व के विषय में डा० सत्येन्द्र कहते हैं। + 'ऐसी भी कहानियाँ हैं जिनमें शरीर का ही रूप परिवर्तित हो जाता है। साधारण लोक-वार्ता और विश्वास में कामरूप और बंगाल की जादू का बहुत उल्लेख होता है। यहाँ ऐसी जादूगरनियाँ मानी गई हैं जो मनुष्य को तोता, बकरा, या मेंढ़ा बना लेती हैं। वे इच्छानुरूप उसे मनुष्य भी बना सकती हैं कथा सरित्सागर में भाव शर्मा की कहानी में सौमदाने भावशर्मा को गले में रस्सी बाँध कर ही बैल बनाया है। विद्या से स्वयं ही पक्षी बन जाने की कहानी 'इस 'प्रबन्ध-गीतों' के अध्याय में 'चन्द' की कहानी में भी पढ़ चुके हैं। इसी प्रकार मारीच स्वयं ही मृग बन जाता है और अन्त में अपनी देह प्रकट भी करता है—

सीता हरण—

प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा,
सुमिरेसि रामु समेत सनेहा।

इस प्रकार से लोक-निर्मित कड़ी को सीताहरण के अधिक उपयुक्त और आकर्षक समझकर तुलसी तथा अन्य साहित्यिकों ने इसे उठा लिया। 'मारीच वध' के पश्चात् 'सीता हरण' का प्रसंग आता है। इसको तुलसी इस प्रकार चित्रित करते हैं—

क्रोधवंत तब रावण लीन्हिसि रथ बैठाइ,
चला गगन-पथ आतुर भयं रथ हाँकि न जाइ।

यह 'सीता हरण' का तत्व विशेष महत्वपूर्ण है। यह तत्व भारोपीय लोक वार्ता का प्रसिद्ध तत्व है। इस प्रकार की कहानियों का रूप इस प्रकार का दिया गया है—

[illegible]

गुड्रन टाइप (Gudrun Type)

१—दुलहिन किसी राक्षस अथवा नायक के द्वारा अपहृत होती है।

२—वह दुबारा प्राप्त की जाती है अथवा वह राक्षस के विनाश का कारण होती है।

इस मोटिव का वैदिक बीज हम उषा के वृत्र द्वारा हरण के रूप में देख चुके हैं। इसी प्रसिद्ध अभिप्राय को होमर ने अपनी 'हेलेन' के पेरिस द्वारा हरण में रखा है। किन्तु उसमें हेलेन पेरिस के साथ स्वेच्छा से भाग निकलती है। हमारी 'सीता' स्वेच्छा से नहीं भागती। पर कुछ राम कथाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनमें सीता स्वेच्छा से रावण के रथ पर बैठती है। नृसिंह पुराण और उत्तर पुराण में सीता अपने आप रथ पर चढ़ती हैं। उत्तर पुराण में यह भी कहा गया है कि रावण ने अपनी आकाश गामिनी विद्या खो बैठने के डर से सीता का स्पर्श नहीं किया था, इस प्रकार 'ग्रीस' की 'हेलेन' की भाँति भारत की 'सीता' भी स्वेच्छा से रावण के रथ पर बैठ जाती हैं। किन्तु भारतीय-दृष्टि प्रधानतः ऐसा करने में सीता जैसी सती को रावण के स्पर्श से बचाने की थी। इस स्वेच्छा से जाने की बात से कहीं भ्रम न हो जाय इसके लिए अन्य-अनेक वार्ताएँ भारत में रची गईं। जिस नृसिंह पुराण का अभी उल्लेख किया गया है उसमें इसी भ्रम को दूर करने की बात इस प्रकार कही गई है। रावण, राम-लछमण के चले जाने के पश्चात्, छद्म-वेश में आकर सीता को विश्वास दिलाता है कि अब अयोध्या जाने का समय आ गया। विश्वास करके सीता अपने आप रथ पर चढ़ती है। बृहद्धर्म पुराण में वह आकर कौशल्या की उत्सुकता की बात रावण के द्वारा कहलवाई है। यही नहीं दक्षिण-भारत की राम-कथाओं में भी यही रूप मिलता है।× रावण ऋषि के वेष में एक रथ के साथ सीता के पास आता है इस रथ पर अयोध्या के नागरिकों का रूप धारण करके कई आदमी बैठ जाते हैं। रावण कह रहा है मैं भारत की ओर से आ रहा हूँ। राम का राज्या-भिषेक होने वाला है। राम स्वयं अयोध्या जा रहे हैं।

× Handbook of Folk-lore by Burne Appendix C

आश्चर्य चूड़ामणि में कहा गया है। राम-लक्ष्मण के चले जाने पर रावण का सारथी राम लक्ष्मण के वेश में आते हैं। सारथी रथ को दिखला रावण से कहता है : भरत का राज्य संकट में है। उनकी सहायता करने के लिए तपस्वियों ने यह रथ आपके पास भेजा है। इस पर दोनों रथ पर चढ़ते हैं, इस प्रकार उस स्वेच्छा से रथ पर बैठ जाने वाली बात से सम्भावित भ्रम के निवारण के लिए लोक ने जादू (magic) के आधार पर तरह तरह की उद्भावनाएँ कीं; विकास की आगे की स्थिति में जब लोक मस्तिष्क को इन बातों से संतोष नहीं हुआ, तब स्पर्श बचाने के लिए यह कल्पना की गई कि रावण ने पृथ्वी सहित सीता के आश्रम को उखाड़ लिया था। तिब्बती रामायण (६ वीं शती) कथन की तामिल रामायण (१० वीं शती) तथा अध्यात्म रामायण तीनों में रावण पृथ्वी को खोदकर सीता को भू भाग के साथ साथ ले जाता है। तामिल रामायण में तो १ योजन पृथ्वी के उखाड़ने का उल्लेख है। +- इतने विवरण से ज्ञात होता है कि स्वेच्छा से रथ पर बैठने वाले तत्व का विकास भारत व्यापी रहा। अन्त में भू भाग सहित सीता हरण की कथा में उस 'स्वेच्छा' को स्वेच्छा रहने ही नहीं दिया। आगे के विकास में माया रूप सीता का हरण आता है अतः इसी माया रूप सीता का हरण दिखाने के लिए सीता का पहले अग्नि में प्रवेश कराते हैं ? फिर स्पर्श किये जाने अथवा स्वेच्छा से रथ पर बैठने का प्रश्न गौण हो जाता है। इसीलिए निश्चित रूप से तुलसी कह उठते हैं—

> क्रोध वंत तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ,
> चला गगन-पथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाय।

+ Fenicio Libro da sita (1606) ed. J. Charpinier P. 85.

+- इसके विशेष विवरण के लिए देखिए : 'राम कथा साहित्य में सीता हरण' : ले० कामिलबुलके M. A. : हिन्दी अनुशीलन [वर्ष २ : अंक २ : आषा० भाद्र २००६]

आश्चर्य की बात तो यह है कि न जाने विकास के किन क्रमों में होकर न' की स्वेच्छा से जाने की बात, 'हेलेन' के माया रूप के हरण पर आकर नी है। बाद में 'हेलेन' को भक्तों ने देवी का रूप दिया और 'मायारूप' Eidolon=मायामयी मूर्ति या छाया) हेलेन का रूप अपहृत हुआ, इसको ट किया। भारतीय सीता का विकास भी अन्त में पवित्रता और सतीत्व की ज्ज्वल भावना से प्रेरित होकर 'मायारूप' सीता का अपहरण ही भारत में ाया गया। इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि मूलतः लोक-अभिप्राय motif) किस प्रकार विकसित होकर साहित्यिक अथवा शिष्ट-साहित्य में ान पाता है।

सीता हरण के प्रसंग के साथ ही जटायु का प्रसग जुड़ा हुआ है। जटायु सा कि पहले देखा जा चुका है, पंचवटी पर रहता था। वाल्मीकि रामायण में सा उल्लेख है कि राम कनक-मृग को मारने जाते समय सीता को जटायु और क्ष्मण की रक्षा में छोड़ गये थे।+ किन्तु जटायु का रावण को ललकारने का उल्लेख वाल्मीकि और तुलसी में समान रूप से मिलता है। इसका रावण से घोर युद्ध करना, रावण को मूर्च्छित कर देना, अन्त में पक्ष-छेदन के कारण गिर जाना आदि सभी तत्त्व लोक-प्रसूत हैं। ज्ञान के प्रथम उन्मेष में जब मानव सभी जड़ जगत को जीवन और व्यक्तित्व से ओत-प्रोत कर रहा था, उस समय पशुओं तथा पक्षियों के आचार व्यवहार में भी मानव के गुणों को झाँकते हुए देख रहा था। प्रायः सभी भारतीय महाकाव्यों में इन पशु-पक्षियों का उपयोग किया गया था। कहीं हंस को दूत बनाकर भेजा जाता था, कहीं तोते से बातें की जाती थीं। इसी प्रकार तुलसीदास जी ने जटायु, सपाती, जयंत आदि का उपयोग किया है। काव्य के क्षेत्र में इन पशु पक्षियों के अस्तित्व से शोभा है।

सीता की खोज

किसी सुन्दरी दुलहिन का अपहरण जहाँ लोक-वार्त्ता का प्रधान-तत्त्व है, उसी

१ + दक्षिण संस्करण, ४३, किन्तु बंगाल संस्करण में इसका उल्लेख नहीं, उत्तर-पश्चिम संस्करण में यह तत्त्व पाया जाता है।

प्रकार उसकी खोज की टेकनीक भी अधिकांश मिलती जुलती होती है। भारत के प्रसिद्ध महाकाव्यों ने जहाँ रामायण से दुलहिन के अपहरण का तत्व लिया है। वहाँ खोज भी लगभग उसी प्रकार की रही है। वृहत्कथा-कार ने रामायण से पत्नी के खो जाने का प्रयोजन प्राप्त किया था। मदनमंजुका मानसवेग द्वारा अपहृत होती है। अपने स्वामिभक्त मंत्री गोमुख की सहायता से मदनमंजुका की खोज नायक करता है। मदनमंजुका की पुनः प्राप्ति के साथ ही नायक को विद्याधरों का राज्य प्राप्त होता है। यह भी सीता की पुनः प्राप्ति पर राम के राज्याभिषेक से मिलता-जुलता तत्व है। इसी प्रकार ग्रीस की 'हेलन' की खोज की बात है। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि 'होमर' वाल्मीकि से प्रभावित था अथवा वाल्मीकि होमर से। किन्तु यथार्थ बात यह है कि दोनों ही महाकाव्य एक ही स्रोत से अपनी कथाएँ लेते हैं। किसी के एक दूसरे से प्रभावित होने की बात नहीं। आर्य संसार में जितनी लोक-वार्ता है वह सभी दृष्टियों की समान रूप से सम्पत्ति है। उसी से प्रधान महाकाव्यों की कथाएँ ली गई हैं नायिका की खोज में सर्वत्र ही किसी स्वामिभक्त नौकर मंत्री अथवा मित्र की सहायता की बात मिलती है। बर्न ने भी भारोपीय कथा रूपों की सूची देते हुए मित्र की सहायता आवश्यक बताई है —

फेदफुल जॉन टाइप (Faithful John Type)

१. एक राजकुमार का स्वामिभक्त सेवक उसे संकटों से बचाता है।

२ राजकुमार को उसके कृत्यों पर संदेह होता है, दंड स्वरूप वह पत्थर हो जाता है।

३ राजकुमार और उसकी दुलहिन के आँसुओं से वह मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार के स्वामिभक्त सहायक अथवा मित्र के नायक की पुनः प्राप्ति में सहयोग का बीज हमें वेदों में भी मिल जाता है। उषा तथा सीता की वृत्र से पुनः प्राप्ति में अग्नि, वरुण, वायु आदि इन्द्र के सहायक होते हैं जर्मनी की 'फेदफुल जॉन' की कहानी, बंगाल के 'फकीरचन्द' और ब्रज की 'यार होइ तौ ऐसौ होइ' कहानियों में इसी तत्व की प्रधानता है। सहायक या मित्र कई भी हो सकते हैं और एक भी हो सकता है। सीता की खोज में प्रधान सहायक

लक्ष्मण, सुग्रीव तथा हनुमान हैं। लक्ष्मण तो राम के आदि से अन्त तक सहायक रहते हैं। सुग्रीव से मैत्री होने पर वह भी पूर्ण रूपेण सहायक हो जाता है। सुग्रीव राम से कहते हैं :—

कह सुग्रीव नयन भरि बारी,
मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी।

आगे फिर मित्रता के आदर्श का लम्बा वर्णन है : वस्तुतः उक्त तीनों कहानियों में मित्रता के आदर्श पर अधिक बल दिया गया है। सुग्रीव अनेकों दूतों को, वानरों को सीता की खोज में भेजता है। यह साधारण तत्व ही है। साथ ही में हनुमान भी जाते हैं। वस्तुतः सुग्रीव जब राम-काज को विस्मृत कर देता है तब हनुमान ही खोज के लिए सचेष्ट हैं :—

इहाँ पवन-सुत हृदय विचारा,
राम-काज सुग्रीव विसारा।

इस प्रकार हनुमान को राम-काज का सदैव स्मरण रहता है। आगे सुग्रीव दक्षिण दिशा में जाने का आदेश देते हैं :—

सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू, सीता सुधि पूँछेहु सब काहू।

यहाँ आर्यों की दक्षिण-विजय तथा आर्य-संस्कृति में आईनई वानर जाति के द्वारा दक्षिण में आर्य उद्देश्य को लेकर जाने में वाल्मीकीय मोटिव कार्य कर रहा है। आगे के प्रसंग में सपाती दीखता है। यह अवश्य ही लोक-कथा है। वाल्मीकि रामायण में भी संपाती की कथा प्राप्त होती है।+ वहाँ पर उल्लेख इस प्रकार है : जाम्बवन्त् ने समुद्र-पार करने में सहायता मांगी। सपाती ने अपनी असमर्थता प्रकट की। इस पर उसने अपने मन में अपने पुत्र को याद किया। इस पर सुपार्श्व आता है। वह अङ्गद को अपनी पीठ पर बैठा कर समुद्र पार ले जाने की बात कहता है। इतना विस्तार तुलसी ने नहीं दिया। किन्तु तुलसीदास जी ने सूर्य की ओर उड़ने का वृत्तान्त जोड़ दिया है। इस

+ वाल्मीकि० बंगाल संस्करण, किष्किन्धा, ६२: उत्तर-पश्चिम किष्किन्धा० ५९.

समस्त कथा का रूप लोक-निर्मित है। इस कथा में प्रधान लोक-मोटिव निम्नलिखित हैं :—

१. "एहि विधि कथा कहहिं बहु भाँती, गिरि कंदरा सुनी संपाती।
बाहेर होइ देखि बहु कीसा, मोहि अहार दीन्ह जगदीसा॥
आजु सबहिं कहँ भच्छन करऊँ, दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ।'
२. "हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई, गगन गए रबिनिकट उड़ाई॥

इस प्रकार संपाती से सीता का पता पाकर हनुमान जी सौ-योजन समुद्र को पार कर जाते हैं। इस समुद्र के लाँघने में भी लोक-तत्व स्पष्ट हैं। इस प्रकार सहायक, दूत बन कर नायिका के पास जाता है। किन्तु तुलसीदास जी ने एक अन्तर कर दिया है। उक्त कहानियों में वह सहायक अथवा मित्र नायिका को लेकर ही लौटता है किन्तु यहाँ जाम्बवन्त यह कह देते हैं :—

एतना करहु तात तुम्ह जाई, सीतहि देखि कहहु सुधि आई।

समुद्र पार करके हनुमान जी लंका में पहुँचते हैं। 'सुरसा' के सम्मुख हनुमान जी ने 'जोजन भरि' शरीर को बढ़ाया। सुरसा ने भी 'सत जोजन' 'आनन कीन्हा'। तब हनुमान जी ने बहुत छोटा रूप बनाया तथा मुख से बाहर निकल आए। यह घटना निश्चय ही मानव की उस आदि मनोभूमि की सूचना देती है, जिसमें तर्क की अपेक्षा कल्पना और कविता अधिक भरी थी। इसके साथ ही एक और घटना लंका पहुँचने से पूर्व ही होती है। समुद्र में एक राक्षस रहता था। वह 'माया' (विद्या) के बल से आकाशचारी पक्षियों को पकड़ लेता था। इस घटना के लोक-प्रसूत तथा लोक-वार्ताओं में मिलने वाले तत्व इस प्रकार हैं :—

जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं, जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं।
गहइ छाँह सक सो न उड़ाई, एहि बिधि सदा गगन चर खाई॥

किन्तु हनुमान जी ने उसका वध कर दिया। नगर की रक्षा अनेकों वीर राक्षस कर रहे हैं। फिर 'मसक समान' रूप धरने में लोक-वार्ता तत्व की झलक दीखने लगती है।

लोक में यह विश्वास है कि प्रत्येक गाँव या नगर का एक देवता होता है जो उस गाँव की रक्षा करता है। या वह देवी होती है। इस प्रकार की देवी लंकिनी है जो लंका की रक्षिका है। वाल्मीकि रामायण के तीनों संस्करणों में से केवल दक्षिण-संस्करण में लंकिनी का उल्लेख मिलता है।+ बंगाल और उत्तर पश्चिम के संस्करणों में इसका उल्लेख नहीं तुलसी ने इस तत्व को लोक प्रियता की ही दृष्टि से अपनाया होगा। इसके साथ भी शाप-वरदान वाली प्रणाली को बरत कर कथा को निखार दिया है :—

जब रावनहिं ब्रह्म बर दीन्हा, चलत बिरंचि कहा मोहिं चीन्हा।
बिकल होसि तैं कपि के मारे, तब जानेसु निसिचर संघारे॥

इसी प्रकार लोक में किसी दुर्घटना की सूचना पूर्व से दी जाती है। इसी तत्व को आधार बनाकर मैकबैथ में शेक्सपियर ने मैकबैथ की मृत्यु की सूचना की घोषणा एक विशिष्ट जंगल के हिलने से की थी। संकट अथवा आपत्ति की सूचना देने की कई विधियाँ हैं। एक कहानी में दूध का कटोरा मां को दिया गया है, दूध का रक्त हो जाय तो पुत्र संकट में है। कहीं फूल और आम हैं, जिनके मुर्झाने से संकट की सूचना समझनी चाहिए। यहाँ भी लंकिनी जिस समय किसी वानर के द्वारा बेहोश हो जायगी तब समझना चाहिए कि अब राक्षसों का नाश होगा—ऐसी बात कही गई है। आगे चलकर विभीषण से भेंट हुई है। विभीषण सीता जी से मिलने की समस्त युक्ति बता देता है। विभीषण अब राम का एक और सहायक हो गया।

आगे की घटनाएँ सीता-रावण संवाद, तथा सीता हनुमान मिलन है। त्रिजटा के स्वप्न की बात लोक-वार्ता से सामंजस्य रखती है। उसका स्वप्न सुनिए :—

सपनें बानर लंका जारी, जातुधान सेना सब मारी।
खर आरूढ़ नगन दस सीसा, मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥

+ सुन्दरकांड, ३।२०, २१.

इस प्रकार का स्वप्न त्रिजटा ने अशुभ-सूचक माना। ' स्वप्नों में विश्वास एक जटिल समस्या है। उसमें अनेक प्रतीकों पर विचार होता है इसमें रावण का 'खर' पर 'नगन' सवार होना, उसके मुंडित सिर का देखना आदि प्रतीक हैं। इन्हीं प्रतीकों में विश्वास करके त्रिजटा कहती है कि यह स्वप्न अवश्य ही सत्य होगा। इसके पश्चात् अशोक वाटिका में सीता-हनुमान मिलन होता है। मुदरी का डालना लोक-वार्ता-तत्व कहा जा सकता है। फिर आगे सुन्दरकांड की घटनाएँ साधारणतः चलती हैं। उनमें कोई उल्लेखनीय लोक वार्ता तत्व प्राप्त नहीं होता। विभीषण-शरणागति में लोक-वार्ता तत्व उतना नहीं जितना जातीय तत्व (Racial Element) है।

सेतु

सागर पर पुल बाँधने की समस्या उत्पन्न होती है। सुग्रीव का सुझाव है कि सागर की पहले विनती की जाय। रामेश्वर की स्थापना में भी आर्य मोटिव विशेष है। शिव-पूजा द्रविड़-पूजा मानी जाती है। रावण शिव भक्त था ही। अतः शिवजी की पूजा एक विशेष जातीय महत्व रखती है। इस पर आगे विचार किया जायगा। समुद्र पर पुल बाँधने के समय सबसे अधिक स्पष्ट लोक वार्ता-तत्व समुद्र का राम के सम्मुख प्रकट होना है। यह देखा जा चुका है कि समुद्र, पर्वत आदि सभी जगह देवत्व की स्थापना आदि मानव ने की थी। प्रकृति के सभी अवतरणों को आदमी जैसा आकार प्रकार दिया गया था। वैदिक-युग में अग्नि, वायु आदि समस्त देवताओं को आकार प्रकार दिया गया। समुद्र में भी एक व्यक्तित्व की कल्पना की गई। अतः उसका स्वरूप प्रकट हो जाता है :—

कनक थार भरि मनि गन नाना।
बिप्र रूप आयउ तजि माना॥

प्रकट होकर वह नल-नील द्वारा पुल बाँधने की युक्ति बतलाता है। बौद्ध दशरथ जातक में पुल बाँधने का सुझाव एक छोटे बन्दर के रूप में अवतरित होकर इन्द्र देता है। किन्तु यहाँ समुद्र प्रकट होकर यह सुझाव दे जाता है : नल नील को एक ऋषि का वरदान था कि वे पत्थर पानी पर तैरा सकेंगे। इस

प्रकार लोक-भूमिका के साथ समुद्र का पुल बनाया जाता है। यहाँ से लंकाकांड का आरम्भ होता है।

लंकाकांड

लंकाकांड की समस्त घटनाओं में लोक-तत्त्व ओत प्रोत है, यहाँ राक्षसों की माया, विद्या, जादू आदि से सारी घटनाएँ भरी हैं। उन समस्त विद्याओं को राम अपने अमोघ अस्त्रों से काटते दीखते हैं। इन सभी तथ्यों का किसी न किसी प्रसंग में विवेचन हो चुका है। रावण तथा अन्य राक्षसों को प्राप्त कामरूपत्व की विद्या के लोक-स्रोत पर भी कुछ विचार हुआ है। यहाँ हमें मुख्यतः निम्नलिखित बातों पर विचार करना है :—

१. रावण के दश शीश और बीस भुजा : तथा कुम्भकर्ण का रूप।
२. राम रावण युद्ध में लोक तत्त्व।
३. सीता की अग्नि परीक्षा।

रावण और कुम्भकर्ण

रावण अनेक माया तथा विद्या जानता था। वह अनेक रूप बदल सकता था :—

'काम रूप जानहिं सब माया'

इस प्रकार के तत्व लोक से ही आये हैं। कुम्भकर्ण के छह महीने सोने वाली तथा हाथियों द्वारा जगने आदि की अनेक अलौकिक बातें भी लोक में उद्भूत हुई। जहाँ मानव ने सुर-असुर युद्ध की कल्पना की, वहाँ दोनों के रूप पृथक खड़े किए। सूर्य, अग्नि आदि के सुन्दर रूप की कल्पना हुई, राक्षसों के भयानक रूप को वैदिक साहित्य में कहा गया है कि इन्द्र ने वृत्र आदि राक्षसों को हरा कर समुद्र में भगा दिया था। उसका रूप तुलसी में भी है —

रहे तहाँ निसिचर भट भारे, ते सब सुरन्ह समर संहारे।
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे, रच्छक कोटि जच्छपति केरे॥

अनेक तपस्याएं करके रावण ने देव असुरों से अवध्य होने का वरदान प्राप्त किया था —

हम काहू के मरहिं न मारें, वानर-मनुज जाति दुइ वारें।-

इस तथ्य को लोक मानस रूपक के रूप में ही गृहण कर सका। यह प्रवृत्ति भी लोक-कथाओं में पाई जाती हैं। रावण के अवध्य होने का रूपक बना कि 'यम' उसका दास बन कर रहता था। रावण मन्दोदरी से अपना बल दिखाता है :—

वरुन कुबेर पवन जम काला,
भुजबल जीतिउँ सकल दिगपाला।

इस प्रकार अवध्य होकर वह ब्राह्मणों के विरुद्ध तथा देवों के विरुद्ध अनेक षड्यन्त्र रचने लगा। रावण को विश्वास था कि ब्राह्मणों के यज्ञों से देवता बल ग्रहण करते हैं। अतः ब्राह्मणों का नष्ट करने से देव स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। इसी को लक्ष करके तुलसीदास जी रावण से कहलाते हैं :—

तिन्ह कर मरन एक विधि होई, कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई,
द्विज-भोजन मख होम सराधा, सब कै जाइ करहु तम बाधा,

इस प्रकार के षड्यन्त्र की झाँकी हमें सारे संसार की प्राचीन पुराण-गाथाओं में मिलती है। बेबीलोनिया की 'तियातम' की कल्पना इस कल्पना से साम्य रखती है। वह समुद्र में रहती थी उसके साथ अनेक दानवीय सर्प रहते थे : उनकी सहायता से वह सदैव ही देवों के विरुद्ध षड्यन्त्र किया करती थी। वहाँ भी देवों द्वारा एक नायक के चुने जाने की बात कही गयी है। = वह भी प्रायः अवध्य ही थी।

इसी प्रकार अनेक सिर और अनेक हाथों की कल्पना संसार के साहित्य में मिलती है। भारत में सहस्त्रबाहु, रावण, तथा शेष नाग की कल्पना इसी प्रकार की है। 'तिफून' (Typhon) की यौरुपीय कल्पना का इससे साम्य है। इसने जियस से युद्ध किया था। (Typhon) के भी सिरों की कल्पना है। +

= विशेष विवरण के लिए 'The Religion of Babylonia and Assyria : By T. G, Pinches.

+ विशेष विवरण के लिए : Classic Myth and Legend (By Mackengie) p. 14.

जियस के पक्ष में लड़ने वाले एक दानव के सौ हाथों का उल्लेख है।× इस प्रकार की भारोपीय लोक-कल्पना के आधार पर ही रावण के अनेक सिरों तथा हाथों की कल्पना भारत में हुई। भारत में कुछ देवों के अनेक सिर और हाथों की कल्पना भी है। 'पुरुष सूक्त' के पुरुष की कल्पना में भी हजार मस्तक (सहस्र शीर्षा) हजार आंखों, हजार पैरों की कल्पना है। हो सकता है कि रावण के दश-शिर और बीस भुजाओं की कल्पना उसके दशों दिशाओं में फैले ऐश्वर्य और अतुलित बल का रूपक हो। कालान्तर में रूपक हट गया और अलंकार यथार्थ हो गया। लोक-कल्पना के ही आधार पर बहुत बड़े आकार की कल्पना की गई है। 'पर्वताकार, कुम्भकर्ण की कल्पना उतनी ही विचित्र है जितनी लोक कथाओं की अन्य-अनेक घटनाएँ। उसके जगाने के लिए हाथियों को उसकी छाती पर मेला जाता था,+ उसके कानों में गरम तेल के घड़े डाले जाते थे अथवा इसी प्रकार की अनेक कल्पनाएँ कुंभकर्ण के जगाने के विषय में थीं जिनका स्पष्ट वर्णन जैन रामायणों में मिलता है। उसका निराकरण तुलसी दास जी ने यह कहकर कर दिया है—

ब्याकुल कुम्भकरन पहिं आवा,
विविध जतन करि ताहिं जगावा।

फिर भी अलौकिक तत्वों का वर्णन किया अवश्य है—

रामरूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक
रावन माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक।

इस प्रकार करोड़ों घड़े शराब पीने तथा अनेक भैंसों का आहार करने का उल्लेख गोस्वामी जी ने कर ही दिया। आगे युद्ध वर्णन है।

राम रावण युद्ध—

युद्ध वर्णन में अनेक लोक कल्पनाएँ सम्मिलित हैं। कुंभकर्ण के विशाल

× वही Typhon के विवरण के साथ।

+ वाल्मीकि रामायण के दक्षिण संस्करण में लिखा है कि एक हजार हाथी उसे जगाने में सफल हो सके [लंका-कांड, ६०।५५]

आकार प्रकार के अनुसार ही उसका युद्ध है। लोक-मानस विचित्र कथा तत्वों की उद्भावना बड़ी रुचि से करता है। उसके कहने-सुनने से भी उसको आनन्द प्राप्त होता है। कुंभकर्ण पर अनेकों पर्वतों को फेंका जाता है। पर वह रुकता भी नहीं। कुंभकर्ण-युद्ध-वर्णन में तुलसी ने प्रधानता उसके 'पर्वताकार' रूप की रखी है। उसी के अनुसार युद्ध कल्पना की उद्भावना हुई है—

कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई, जनुटीड़ी गिरि गुहाँ समाई।
कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा, कोटिन्ह मीजि मिलव महि गर्दा।
मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा, निसरि पराहिं भालु कपि ठाटा।

इस प्रकार का वर्णन लोक की मनोभूमि के आधार पर हुआ।

किन्तु सर्वत्र ही शारीरिक विशालता के आधार पर ही युद्ध वर्णन नहीं हुआ। विद्या बल के आधार से भी युद्ध वर्णन होना चाहिए। लोक जादू विद्या बल में भी विश्वास करता है। इस प्रकार के युद्ध में 'मेघनाद' बहुत कुशल था। वह जिस समय युद्ध के लिए चला उस समय माया रथ पर सवार था—

मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास,
गर्जेउ अट्टहास करि भइ कपि कटकहिं त्रास।

माया के रथ पर चढ़ कर आकाश में उड़ गया। गगनचारी विद्या भी राक्षसों के पास रहती थी। रावण गगन पथ से ही सीता को हर कर लाया था। बन्दर मेघनाद पर पर्वतों की वर्षा करते हैं, पर मेघनाद ने 'माया बल' से कीन्हेसि सर पजर'। माया से मेघनाद अनेक सर्प उत्पन्न कर देता है। जिनको गरुड़ खा जाता है—

खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ,
माया विगत भए सब हरषे बानर जूथ।

इस माया विद्या का चरम प्रकृति पर नियंत्रण होता है। 'मैजिक' के संसार में दैवी शक्तियों को अपने पक्ष में करना नहीं, वरन् उन पर शासन करना होता है। प्रकृति पर तथा उसके विविधि व्यापारों की अधिष्ठात्री शक्तियों पर नियन्त्रण पाना

ने का उद्देश्य होता है। यह भावना धर्म के मूल के विरोध में है। धर्म का मूल इन शक्तियों को सन्तुष्ट करके कृपा मांगना है। इसी टोने की शक्ति में आदि मानव अधिक विश्वास रखता था। इसी का आरोप तुलसी ने राक्षसों में किया है। इस प्रकार की युद्ध सम्बन्धी दैवी शक्तियों और प्रकृति-व्यापारों पर नियंत्रण की बात तुलसीदास जी ने मेघनाद के युद्ध वर्णन में की है—

नभ चढ़ि बरष विपुल अंगारा, महि ते प्रगट होहिं जल धारा।
नाना भांति पिसाच पिसाची, मारु काटि धुनि बोलहिं नाची।
[लंका कांड दो० ५१-५२]

'पिसाच, पिसाची' जहाँ किसी जाति की सूचना देते हैं, वहाँ युद्ध की दैवी शक्तियों की भी। इस स्थान पर यही अर्थ है। इस माया-युद्ध में एक विद्या का दूसरी विद्या से कटना अथवा पराजित होना लोक-कथाओं में आता है। राम भी एक बाण से उस माया को समाप्त करते हैं।

एक बान काटी सब माया। [लंका कांड—दो० ५१-५२]

राक्षसों का इस प्रकार की जादू-टोना-शक्ति को प्राप्त करने के लिए, उनके द्वारा किए हुए यज्ञ का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार के यज्ञ का रूप मेघनाद द्वारा किए हुए 'अजय' मख' में दीखता है। जहाँ आर्य अपने यज्ञ द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करके शक्ति प्राप्त करते थे, वहाँ इस 'मख' का उद्देश्य नियंत्रण पाना था। इसी का रूप 'सिद्धि-प्राप्ति' में मिलता है। विभीषण इस यज्ञ की बात राम से इस प्रकार कहता है—

जौं प्रभु सिद्ध होइ सो पाइहि,
नाथ बेगि पुनि जीतिन जाइहि। [लंका, ७४-७५]

उसकी आहुति भी साधारण नहीं थी—

जाइकपिन्ह सो देखा बैसा,
आहुति देत रुधिर अरु भैंसा। [लंका, ७५-७६]

अब रावण युद्ध के लिए आता है। राम और रावण के युद्ध में प्रधानतः दो तत्व लोक-वार्ता के दीखते हैं : एक तो रावण के सिरों का बार-बार कटना और बारबार फिर उग जाना—

तोस तीर रघुवीर पवारे, भुजनि समेत सीस महिपारे।
काटत ही पुनि भए नवीने। .... [लंका० ६१-६२]

इस कृत्य से एक विचित्र वातावरण उत्पन्न हो जाता है—

काटे सिर नभ मारग धावहिं, जय जय धुनि-करि भय उपजावहिं
[लंका० ६२ ६३]

इस तत्व के साथ ही एक और तत्व जुड़ा हुआ है। जिसमें अनेक रावणों का उत्पन्न हो जाना है —

रघुपति कटक भालु कपि जेते, अहँ तहँ प्रगट दसानन तेते।

इस प्रकार के अभिप्राय लोक-कहानियों में मिलते हैं। भारत की प्रसिद्ध ढोला कथा में चूरामन दाने की एक बूंद रक्त से अनेकों दानवों के उत्पन्न होने की बात कही गयी है। योरोप की भी अनेक कहानियों में रक्त से अनेक राक्षसों के उत्पन्न होने की बात कही गई है। + इन्हीं लोक तत्वों के आधार पर रावण की भुजाओं और सिरों के कटने पर नए हो जाने तथा अनेक रावणों के उत्पन्न हो जाने की बात कही गयी है।

दूसरा लोक-तत्व रावण के नाभि कुंड में अमृत के वास की बात है। जब रावण किसी प्रकार नहीं मरता तब विभीषण इस रहस्य का उद्घाटन राम के करता है।

नाभिकुंड पियूष बस याकें।
नाथ जिअत रावनु बल ताकें॥
[लंकाकांड : दोहा १०१–१०२]

इस प्रकार शरीर के किसी अङ्ग-विशेष में प्राणों के निवास की बात मिलती है, जो अनेक लोक कथाओं का प्रसिद्ध अभिप्राय है। रावण युद्ध में अन्य अनेक लोक वार्ता तत्व हैं। जिनका विस्तृत विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ एक झाँकी मात्र दी गयी है।

रावण बध के पश्चात् सीता की 'अग्नि-परीक्षा' का प्रसग आता है 'सीता की अग्नि-परीक्षा राम कथा की एक प्रमुख घटना है। इसका उल्लेख कुछ कुछ

+ Classic Myth and Legend, Mackenzie, p. 14.

सीता की अग्नि-परीक्षा

परिवर्तन के साथ प्रायः राम कथा की प्रत्येक धारा में मिलता है। जहाँ जहाँ सीता का अग्नि-प्रवेश होता है, उनका उल्लेख विस्तार से ऊपर हो चुका है। हम देख चुके हैं कि पहले-पहल कूर्म-पुराण में सीता के अग्नि-प्रवेश तथा माया-सीता के अपहरण की बात कही गई है। वहाँ आगे का उल्लेख इस प्रकार का है: रावण वध के पश्चात् राम की सीता की पवित्रता पर शंका हुई। सीता अग्नि में प्रवेश कर जल गईं। तब अग्नि ने प्रकट होकर वास्तविक सीता को राम को समर्पित किया। निश्चय ही सीता' की अग्नि परीक्षा के इसी रूप को तुलसी ने अपनाया है। तुलसी-रामायण में प्रसंग इस प्रकार है—

पावक प्रवल देखि वैदेही, हृदय हरप नहिं भय कछु तेही।
जौं मन वच क्रम मम उरमाहीं, तजि रघुवीर आन गति नाहीं।
तौ कृसानु सव कै गति जाना, मो कहँ होउ श्रीखंड समाना।
श्री खंड सम पावक प्रवेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली,
जय कौसलेस महेस वंदित चरन रति अति निर्मली।
प्रतिविंब अरु लौकिककलंक प्रचंड पावक महुं जरे,
प्रभु चरित काहुँ नलखे नभ सुरसिद्ध मुनि देखहिं खरे।
धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग विदित जो।

(लंका कांड, दोहा १०८-६]

अध्यात्म रामायण में भी प्रसंग इसी प्रकार है। वहाँ भी अग्नि ने प्रकट होकर राम को सीता समर्पित की है।† इस प्रसंग को अधिक लोक-तत्वों से पूर्ण नहीं कहा जा सकता। वैसे इस प्रकार की परीक्षाएँ लोक-कथाओं में मिलती अवश्य हैं। लोक-कथा से मिलता जुलता रूप ब्रह्मवैवर्त पुराण में इस

† अध्यात्म रामायण: सर्ग १३.

कथा का खड़ा होता है * जिसको तुलसी ने छोड़ दिया है किन्तु इस परीक्षा में एक लोक अभिप्राय अवश्य दीखता है—

जौ मन बच क्रम मम उर माँहीं, तजि रघुबीर आन गति नाहीं।

चीन में प्राप्त होने वाले अनामकं जातकं में भी इसी प्रकार की आन का उल्लेख है। वहाँ सीता कहती हैं कि यदि मेरा प्रेम सच्चा है तथा मैं पवित्र हूँ तो पृथ्वी फट जाय। इस पर पृथ्वी फट जाती है। इस आन के कई रूप हमें लोक में मिलते हैं।

उत्तर कांड—

उत्तर-कांड का स्तर प्रधानतः वैदिक है : देवता उपस्थित होते हैं। इसके साथ ही उत्तर कांड के शान्त वातावरण में ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सन्यास की उज्ज्वल धाराएँ बहती दीखती हैं। इस बौद्धिक धारा में भी काकभुशुंडि का तत्व एक शिला की भाँति अचल है। काकभुशुंडि अपने जन्म-जन्म की कथा कहते दीखते हैं। इसके साथ राम के बचपन में अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करने की बात है। इस प्रकार की पशु-पक्षी-कथाएँ लोक उद्भावनाएँ ही कही जायँगी। काकभुशुंडि बचपन में राम की बाल-लीला देखने जाता है, वहाँ की बाल लीला देखकर वह मोह करता है। उस मोह का निवारण करने के लिए राम की भुजा जहाँ कहीं वह जाता है, उसका पीछा करती है। फिर वह आँख मूँद लेता है। फिर भी कौशलपुर ही दीखता है। इस प्रकार अनेक ब्रह्मा, अनेक शिव, आदि देवता दीखते हैं। समस्त ब्रह्मांड के उसको दर्शन होते हैं। कल्प के कल्प बीत जाते हैं। इस प्रकार के माया चक्र में भ्रमित होकर भुशुंडि की आँखें खुलती हैं। तब राम उसे अभय करते हैं। इस कहानी का सविधान भी लोक-निर्मित है।

---

* अग्नि परीक्षा के समय वास्तविक सीता प्रकट हुईं। माया सीता ने पूछा : मैं क्या करूँ ? इस पर अग्नि ने उसे पुष्कर भेज दिया, तीन लाख वर्ष तपस्या करके सीता भी लक्ष्मी-पद प्राप्त कर चुकीं। [प्रकृति खंड : अध्या० १४]

इस प्रकार मानस की कथा समाप्त होती है। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राम-कथा के विकास में लोक-प्रतिभा तथा कल्पना का विशेष हाथ रहा है। राम-कथा समस्त आर्य-ससार की एक प्रतिनिधि कथा है। इसके संविधान में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय लोक तत्व सम्मिलित है। तुलसीदास जी ने अपने महाकाव्य के लिए इस कथानक के चुनाव में किन किन लोक तत्वों को अपनाया है, किन किन को त्याग दिया है, यह देखा जा चुका है। रामचरित मानस की कथा लोक-प्रसूत होने के कारण ही इतनी लोक-प्रिय है। यही कारण है कि तुलसी के हाथों में पड़कर राम-कथा संस्कृति और विश्वासों का एक अमोघ माध्यम हो जाती है।

चतुर्थ अध्याय

राम चरित मानस में लोक-संस्कृति

क्या और किस रूप में

प्रत्येक देश की सस्कृति के दो रूप मिलते हैं एक आभिजात्य वर्ग की तथा दूसरी लोक सस्कृति। जिस प्रकार व्यक्तिगत मानस का विकास होता है, लगभग उसी प्रकार सामाजिक अथवा लोक-मानस का भी है। व्यक्तिगत मानस के दो विभाग स्पष्ट माने गये हैं चेतन और अचेतन। इसी मानसिक विभाजन के आधार पर व्यक्तिगत जीवन के दो विभाग हो जाते हैं: एक विशिष्ट जीवन तथा दूसरा साधारण घरेलू जीवन। मनुष्य अपने विशिष्ट तथा चेतन उद्योगों से सस्कृत किए हुए जीवन को प्रकट करता है। जो उसका साधारण घरेलू जीवन है उसको प्रकाश में लाने से हिचकिचाता है। इसके साथ ही चेतन मन स्तर उपचेतन को जिसमें मनुष्य के घरेलू साधारण जीवन का मूल होता है, दबाए रखने का भी प्रयत्न करता है। किन्तु फिर भी जीवन का अधिकाश उससे प्रभावित रहता है। लगभग इसी प्रकार का विकास लोक जीवन का होता है। उसके साधारणत दो विभाग दीखते हैं: एक वह है जिसे सभ्य-जीवन का नाम दिया जाता है। इस सभ्य-जीवन के अधिकाश व्यापार सोद्देश्य होते हैं: आचार-व्यवहारों का एक विशिष्ट दृष्टि से सस्कृत रूप नियोजित रहता है। जीवन की नींव म कुछ आदर्श जमे होते हैं। इस सभ्य जीवन का स्रोत लोक का चेतन-मस्तिष्क है। दूसरा वह भाग होता है जिसे प्रकृत जीवन कहा जा सकता है इसमें वे तत्व रहते हैं जिनका किसी विशेष दृष्टि से

लोक संस्कृति

स्कार नहीं हुआ : इन तत्वों को बहुधा सभ्य-जीवन में स्थान नहीं मिलता : इस भाग को सभ्यता की प्रगति सदा कुचलने का प्रयत्न करती है। पर पूर्ण रूपेण उसकी सफलता नहीं होती : इसका सम्बन्ध लोक मानस के अचेतन से विशेष है। अत. इसके अध्ययन के लिए गहरी पैठ और सहानुभूति की आवश्यकता रहती है। सभ्य जीवन लोक जीवन का केवल ऊपरी स्तर है। इसके नीचे अगाध प्रकृत लोक जीवन है। सभ्य-जीवन के दर्शन हमें नगरों में होते हैं : इसका कारण यह है कि प्रकृत जीवन को संस्कृत करने के शिक्षा आदि प्रसाधन वहाँ उपलब्ध रहते हैं • वहाँ के वातावरण में प्रकृत-जीवन के तत्वों को निरादर की दृष्टि से देखा जाता है। किन्तु ग्रामों में इन प्रसाधनों की सुविधा उतनी प्राप्त नहीं होती। अतः वहाँ का जीवन नगर से कम कृत्रिम होता है। संस्कृति के इन दोनों अगों से सम्बन्धित साहित्य भी होता है। सभ्य समाज का साहित्य साहित्य कहलाता है। इस प्रकार के साहित्य में कालिदास भवभूति आदि की रचनाएँ आती हैं। दूसरे सांस्कृतिक अङ्ग से सम्बन्धित लोक-साहित्य होता है। इसकी अभिव्यक्ति, तथा विषय 'साहित्य' से अधिक विचित्र होते हैं। किन्तु एक तीसरे प्रकार का साहित्यिक होता है जो दोनों की अभिव्यक्ति प्रणाली तथा विषय विस्तार को मिलाकर एक नवीन साहित्य की रचना करता है। इसी प्रणाली को 'आदि कवि' ने अपने अमर, प्रथम लौकिक काव्य में अपनाया। इसी से राम कथा अमर हो गई। इसी प्रणाली को अपने धर्म-प्रचार *तथा* सुधार क्षेत्र में *भगवान बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने अपनाया।* प्रिय दर्शी अशोक के निम्नलिखित शब्द इसी तथ्य के द्योतक हैं —

'जानपदसा च जनसा दसने धमनुसथि च धम पलि पुछा च'।×

अर्थात् जानपद जन का दर्शन, जानपद जन के लिए धर्म का सिखावन, और जानपद जन के साथ मिल कर धर्म विषयक पूछताछ, इन्हीं तीन साधनों से जानपद-जन के नैतिक तथा धार्मिक स्तर को ऊँचा उठाने का आन्दोलन उस समय चला था। इसी प्रकार तुलसी ने लोक जीवन के प्रकृत तथा कम सभ्य जीवन का अध्ययन किया तथा जनता की शक्ति और उसके विश्वास

× 'पृथिवीपुत्र' (लेखक वासुदेवशरण अग्रवाल) पृ० ४२ पर उद्धृत।

के स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया। उनका उद्देश्य इन शब्दों स्पष्ट है :—

श्रोता त्रिविधि समाज, पुर-ग्राम- नगर दुहुँ कूल,
सन्त सभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल।
[मंगला चरण : बालकांड]

इस प्रकार 'त्रिविध समाज' के लिए रामचरित मानस की रचना हुई। उन 'तीनों' ही विभागों की संस्कृति का अध्ययन उन्होंने किया और तीनों की ही संस्कृति के चित्र उपस्थित किए। अब तक अनेक विद्वानों ने तुलसी द्वारा निरूपित सभ्य, शिष्ट अथवा नागरिक वर्ग के जीवन तथा संस्कृति, धर्म तथा दर्शन को स्पष्ट किया है, किन्तु इस ओर दृष्टि प्राय. तुलसी के अध्येताओं की नहीं गयी कि तुलसी ने ग्राम-संस्कृति अथवा लोक के प्रकृत जीवन का क्या और किस प्रकार चित्र उपस्थित किया है।

लोक संस्कृति और तुलसी

तुलसीदास जी ने 'मानस' में लोक संस्कृति को विविध प्रणालियों से अपनाया तथा चित्रित किया है। एक प्रणाली तो ग्राम-समाज तथा लोक-जीवन के सीधे चित्रण के द्वारा लोक-संस्कृत प्रस्तुत करना है। जहाँ अयोध्या-नगर-निवासियों के आचार-व्यवहार में संस्कृत तथा आदर्श सम्मत संस्कृति का चित्र दिया है, वहाँ मार्ग में मिलने वाले ग्रामों तथा वहाँ के नर-नारियों के चित्रण में लोक-मनोभूमि का परिचय मिलता है। दूसरी प्रणाली सभ्य संस्कृति के चित्रण में यत्र-तत्र लोक-संस्कृति की कड़ियाँ जोड़ने के रूप में मिलती हैं। जिस प्रकार व्यक्तिगत चेतन-मस्तिष्क के अचेतन के दमन में प्रयत्नशील रहते हुए भी अचेतन-मानस से जाने अनजाने उसकी दैनिक चर्या प्रभावित रहती है, उसी प्रकार सामूहिक चेतन के सतत उद्योगशील रहते हुए भी सभ्य जीवन में प्रकृत जीवन की कुछ न कुछ झलक मिल ही जाती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० युंग ने यह स्थापना की थी कि सामूहिक उपचेत में वे प्राचीन अनुभूतियाँ अपना अस्तित्व बनाए रहती हैं जो सभ्यता की उत्पत्ति से पहले हुई थीं। यही अनुभूतियाँ अथवा विश्वास अवसर पाकर सभ्य जीवन में व्यक्त

होते रहते हैं। इनकी अभिव्यक्ति का अवसर तब होता है जब भावधारा बौद्धिकता के कगारों को मग्न करके बहती होती है। उस समय उनकी अभिव्यक्ति पर नियंत्रण रखने वाला बुद्धितत्व अपेक्षाकृत निश्चेष्ट रहता है। इस प्रकार के तत्वों के अध्ययन पर प्रायः सभी मानव-विज्ञान वेत्ताओं ने बल दिया है। टेलर ने इन 'अवशिष्ट' तत्वों (The study of survivals) पर जोर दिया था। उसके अनुसार 'अवशिष्ट' उन मान्यताओं के समूह का नाम है जो अपने उत्पत्ति-स्थान [असभ्य अवस्था] से चलकर सभ्य समाज के अङ्ग बन गये हैं। ❀ इन अवशिष्टों को तुलसी ने बड़े कलात्मक ढंग से सजाया है। वहीं तो ये अवशिष्ट विविध संस्कारों तथा अनुष्ठानों के अङ्ग बन गये हैं। इस प्रकार के उदाहरण शिव पार्वती विवाह, राम जन्म, राम-सीता विवाह आदि हैं। जनता के विविध उत्सवों, समारोहों आदि में भी इनके दर्शन मिल जाते हैं। तीसरे, वे अपनी ओर से विशिष्ट स्थलों पर इन अवशिष्ट विश्वासों और मान्यताओं का उल्लेख करते हैं: जैसे राम के बरात जाते समय शकुनों का विवरण, रावण के रण प्रयाण के समय अपशकुनों का वर्णन आदि।

एक और प्रणाली लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति की तुलसी ने अपनाई है। अनेक वन्य जातियों का उल्लेख मानस मे स्थल स्थल पर होता है। इन जातियों में प्रमुख हैं—निपाद, भील, बानर आदि। ये जातियाँ नागरिक आर्य संस्कृति से दूर कहीं सघन वनो में निर्वासित हैं। राम से उनका सम्पर्क होता है। उन पर राम की संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। किन्तु उनके वर्णन में कहीं-कहीं सभ्यता की उत्पत्ति से पूर्व के तत्व भी समाविष्ट हुए हैं। इस प्रकार तुलसी ने लोक संस्कृति के चित्र दिए हैं, जिनका उद्देश्य लोकप्रिय संस्कृति का एक भव्य रूप खड़ा करना है। इन तत्वों से चाहे बौद्धिक प्यास तुष्ट न हो पर भाव में एक तीव्रता अवश्य आ जाती है। अब यह देखना है कि उक्त प्रणालियों के द्वारा गृहण किए हुए कौन कौन से तत्व रामचरित मानस में मिलते हैं।

तुलसीदास जी ने चित्रकूट के पथ पर अग्रसर 'राम' को अनेक ग्राम निवासी

❀ 'Primitive Culture' First Edition (1871) p 15.

नर-नारियों से मिलाया है तथा अनेक ग्रामों में होकर उनके मार्ग का निर्माण किया है। इस वर्णन में लोक संस्कृति के चित्रों की

ग्राम-वासियों का चित्रण

अनुपम सजावट है। विशेष रूप से नर-नारियों विविध मानसिक स्थितियों का वर्णन किया गया है सबसे पहले तो राम-लक्ष्मण तथा सीता जैसे सुन्दर और कोमल राजकुमार और कुमारी को बनवास देने की घटना का उन मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। जब राम उन्हें अपनी सारी कथा सुनाते हैं, त दशरथ और कैकेयी का अपवाद लोक में फैलता है। लोकापवाद का मनोवैज्ञा निक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उसमें बुद्धि तत्व का अभाव तथा भा पक्ष की प्रधानता रहती है। इस घटना में पहले ग्राम निवासियों की भावधारा में करुण रस की उत्पत्ति होती है। राजा दशरथ की वचन प्रियता, प्रण की अटलता, आदि बौद्धिक आदर्शों के आधार पर टिकी हुई निर्दोषता पर उनकी दृष्टि नहीं जाती। उन्हें राजा और कैकेयी समान रूप से दोषी प्रतीत होते हैं :—

सुनि सविषाद सकल पछिताहीं,
रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं। =

लोकापवाद का यह रूप लोक संस्कृति की मनोभूमि का प्रधान अङ्ग है। इस लोकापवाद का रूप कभी कभी रूढ़ि के आधार पर भी खड़ा होता है। इस रूप के दर्शन हमें सीता के बाहर रहने से उनकी अपवित्रता सम्बन्धी लोकापवाद के रूप में होते हैं।

यह सिद्ध है कि समाज की अपेक्षा लोक-समाज में भाव की प्रधानता होती है। फलतः सहानुभूति, सहृदयता और पर दुख कातरता के भाव लोक अथवा ग्राम संस्कृति में नागरिक संस्कृति से अधिक मिलते हैं। नागरिक-समाज दूसरे के दुख के प्रति सहानुभूति प्रकट करने की अपेक्षा उसके कारण, दोष निर्दोष, तथा उसके परिणाम की समीक्षा में विशेष उलझ जाता है। राम लक्ष्मण-सीता के प्रति ग्राम वासियों की सहानुभूति और उनका स्नेह उमड़े पड़ते हैं :—

= अयोध्याकाड : दोहा १०६-११० के मध्य।

राम लखन-सिय रूप-निहारी,
होहिं सनेह विकल नर-नारी।×

इसी 'ग्राम संस्कृति' के ऊपर अनेक नागरिक संस्कृतियाँ निछावर की जा सकती हैं। इसी स्पृहणीय रूप पर भगवान बुद्ध की करुणा, तुलसी का लोक संग्रह, तथा गाधीजी की सेवा आधारित हैं। कोई राम से कहता है कि हम आपको, जंगली जीवों से रक्षा करते हुए, आपके गन्तव्य-स्थल तक पहुँचा आवें! 'नारी' का जो कोमल और असहाय रूप है उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए यह बात विशेष रूप से कही जाती है। नागरिक संस्कृति में यह सहानुभूति और करुणा केवल दिखावे (formality) की बात मात्र रह गई है। सभ्य मनुष्य ने इन गुणों के साथ अनेक छलकपटों का आविष्कार किया है। किन्तु ग्राम-संस्कृति में इन चातुर्य पूर्ण छलों का आविष्कार नहीं हुआ। वहाँ के व्यक्ति का द्विविध विकास नहीं : वह 'मुँह में राम बगल में ईंट' वाली नीति से अपरिचित है। उसका सहानुभूति पूर्ण यथार्थ रूप तो लोक में अथवा ग्राम संस्कृति में ही मिलता है, देखिए एक चित्र ;—

एहि विधि पूछहिं प्रेम बस पुलक गात जलु नैन।·

यह है सहानुभूति का छल हीन प्रकाशन, इसी सहानुभूति की पृष्ठभूमि पर अतिथि-सत्कार का सांस्कृतिक आदर्श अङ्कित है। ग्राम संस्कृति में अतिथि सत्कार का बड़ा स्थान है। सच्ची सहानुभूति वहाँ कार्य कर रही होती है, जब सीता-राम लक्ष्मण किसी गाँव के समीप पहुँचते हैं तब ग्राम निवासी 'चलहिं तुरत गृह-काजु बिसारी'। उनके आतिथ्य की एक स्वाभाविक झाँकी तुलसी के शब्दों में इस प्रकार है —

एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात,
कहहिं गवाँइअ छिनकु श्रमु गवनब अबहिंकि प्रात।
एक कलस भरि आनहिं पानी, अँचइअ नाथ कहहिं मृदुबानी।

× वही : दोहा ११०-१११ के मध्य।
· अयोध्या० दो० ११२

इस प्रकार अतिथि-सत्कार में नागरिक व्यावसायिक बुद्धि की प्रधानता नहीं, सच्ची अनुभूति की व्यंजना है, रामचन्द्रजी भी इस कथन को मानकर विशेष रूप से उनका मन रखने के लिए 'घरिक बिलंब कीन्ह बर छाहीं। +

ग्राम युवतियाँ सीता जी से राम के विषय में पूछती हैं :—

कोटि मनोज लजावनि हारे,
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।

किन्तु पति का नाम लेने अथवा 'पति हैं' कहने पर लोक-संस्कृति ने न जाने कितने विश्वास गढ़ रखे हैं : पति की आयु घट जाती है आदि। सभ्य संस्कृति में इन विश्वासों के भीतर छिपी हुई 'लज्जा' को स्पष्ट कर लिया गया। किन्तु 'लज्जा' का नग्न रूप ग्राम-संस्कृति में नहीं मिलता। वहाँ 'लज्जा' विश्वासों के आवरण में लिपटी है। 'लज्जा' को कोई जानता भी नहीं। अतः पति के परिचय के स्त्री द्वारा व्यक्त करने की एक शैली लोक संस्कृति में बनी। उसका रूप तुलसी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी,
दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी।†

आगे इस परिचय का लोक सांस्कृतिक रूप इस प्रकार खड़ा होता है—

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी,
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।

इस प्रकार केवल 'सयनों' ने अपने पति का परिचय देना लोक-संस्कृति के आधार पर ही सजाया गया है। अपने देवर का परिचय सीता जी स्पष्ट रूप से पहले दे चुकी थीं।

प्रत्येक गाँव में इसी प्रकार का आतिथ्य होता गया। राम-लक्ष्मण सीता अयोध्या के आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधि थे। अतः उनका, शिष्ट तथा संस्कृत व्यवहार के भाव से, उन ग्राम निवासियों से मिलना, ग्रामवासियों के लिए

+ वही दोहा ११४
† अयोध्या दोहा ११६-११७ के बीच

सौभाग्य की बात है। इस अभिजात्य वर्ग की संस्कृति तथा ग्राम-संस्कृति के सम्मिलन की कहानी मार्ग में पड़ने वाले गावों में फैल गई। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए इस प्रसंग के चलाने की आवश्यकता थी—

राम-लखन पथि-कथा सुहाई,
रही सकल मग कानन छाई।

इसी सांस्कृतिक सम्मिलन में लोक का सांस्कृतिक हित है। इस बात की व्यंजना इस समस्त प्रसंग में मिलती है। वस्तुतः ग्राम-संस्कृति की मनोभूमि अत्यन्त स्वच्छ तथा स्पृहणीय है। इसी के आधार से सभ्यता के द्योतक सभी आदर्श लोक में प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं।

ग्राम अथवा लोक-संस्कृति के तत्वों को सभ्य-संस्कृति के विवरण में भी स्थान मिला है। नगर-संस्कृति के प्रधान स्थल 'जनक-पुर' तथा 'अयोध्या-पुरी' के वर्णन हैं, इनमें लोक संस्कृति ने दो प्रकार से स्थान पाया है: एक तो उन तत्वों का निरूपण है जो नगर तथा ग्राम संस्कृति में समान रूप से पाये जाते हैं। इस प्रकार के तत्व, संस्कारों से विशेष रूप में सम्बद्ध हैं। लोक-जीवन के सबसे प्रधान संस्कार जन्म और विवाह हैं। इन दोनों संस्कारों पर अनेक लोक-विश्वास केन्द्रित हैं। इन दोनों के साथ अनेक जातीय तत्व जुड़े चले आते हैं। किसी जाति में बच्चे का जन्म एक बड़ी घटना समझी जाती थी। विवाह जीवन के भिन्न भिन्न तत्वों को केन्द्रित कर देने वाली संस्था थी। इसलिए इन दोनों में अनेक लौकिक तथा चमत्कारिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा मिलती है।

'मानस' की सभ्य संस्कृति चित्रण में 'अवशिष्ट' तत्व

राम-जन्म

राम जन्म ही मानस में प्रधान जन्म-संस्कार है। राम के प्रकट होने पर तुलसी ने वातावरण के दिव्य-सविधान पर ही अधिक दृष्टि रखी है। चतुर्भुजी रूप में राम प्रकट होते हैं, देवता फूलों की वर्षा करते हैं, नाग, सुर, किन्नर आदि राम की वंदना करते हैं। दशरथ तथा कौशल्या दोनों भगवान् का अपने घर

में जन्म लेना मान लेते हैं। किन्तु प्रकट होने के समय थोड़े शब्दों में ही सही, वातावरण में लोक-सांस्कृतिक कृत्यों की सूचना देना तुलसी भूलते नहीं:—

नांदी मुख सराध करि, जात करम सब कीन्ह,
हाटक धेनु बसन मनि नृप विप्रन्ह कहँ दीन्ह।❀

'यहाँ 'जात-करम' करने से उन समस्त लौकिक कृत्यों की ओर निर्देश है जो 'जन्ति' के समय स्त्री-समाज की ओर से होता है। इनका विशद वर्णन गोस्वामी जी ने इस अवसर पर नहीं किया। 'जन्ति' के कृत्यों का विधान अत्यन्त ही जटिल और उलझा हुआ है। अतः उसकी ओर निर्देश करके ही कवि सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु इस ओर निर्देश कर देना ही इस बात का प्रमाण है कि कवि उस लौकिक परम्परा की ओर सचेष्ट अवश्य है। आगे चल कर कवि नगर वासियों के समारोह का वर्णन करने लगता है, उस समारोह में मंगल-कलश आदि का वर्णन लोक-सांस्कृतिक धरातल पर ही है—

वृन्द वृन्द मिलि चलीं लोगाईं, सहज सिंगार किए उठि धाईं।
कनक-कलस मंगल भरि थारा, गावत पैठहिं भूप दुआरा।
करि आरति निवछावरि करहीं, ...

आगे नाम-करण का 'संस्कार है' नाम करण संस्कार भी जन्म संस्कार की एक प्रमुख घटना है। किस समय 'नाम करण' आरंभ हुआ, किस आधार पर नामकरण होना आरम्भ हुआ, इस सबका प्रमाणिक विवेचन सरल सम्भव नहीं। किन्तु कुछ लौकिक आधार, प्रकृति के विविधि उपकरण, पची, पशु, राजा तथा अन्य लोक प्रतीक हैं। इन लोक प्रतीकों में अनेक देवता भी हैं। कितने ही विचित्र नाम इन आधारों पर रखे जाते हैं। यहाँ जिस आधार पर वशिष्ठ जी राम का नाम करण करते हैं वह आधार लौकिक नहीं है। इस नामकरण के आधार में कुछ गुणों का, कुछ भगवत्तत्व का तथा कुछ अवतार भावना का मिश्रण है।

दूसरा प्रधान सस्कार जिसकी पृष्ठभूमि लोक संस्कृति से अधिक पुष्ट है,

---

❀ बालकांड, दोहा १९३

मानस के विवाहों में लोक-संस्कृति

यह विवाह-संस्कार है। मानस में दो विवाह प्रमुख हैं : एक शिव-पार्वती विवाह तथा दूसरा राम-सीता विवाह। + इन दोनों विवाहों में लोक, सांस्कृतिक तत्व जन्म-संस्कार से अधिक उभरे हुए दीखते हैं। शंकर की बरात नगर के निकट पहुँचती है। उसकी अगवानी की जाती है। बरात की अगवानी लेना भी एक सांस्कृतिक कृत्य है। पार्वती की माता 'परिछन' करने चलती है। इस समय का चित्र कितना लोक-सांस्कृतिक है—

मैनां सुभ आरती सँवारी, सङ्ग सुमंगल गावहिं नारी।
कंचन थार सोह बर पानी, परिछन चली हरहि हरषानी।

इस 'परिछन' के जितने उपकरण हैं उन सबका सांस्कृतिक महत्व है। स्त्रियों का शुभ अवसरों पर मंगल गाना प्रायः सभी देशों की संस्कृति में मिलता है। इस 'मंगल-गान' का जितना लोक साहित्य उपलब्ध होता है उतना और किसी कृत्य का नहीं। मंगल गान के अतिरिक्त 'जेवनार' के समय 'गारी'

+ राम और सीता का विवाह स्वयम्बर की रीति से हुआ। स्वयंवर का आधार कन्या का स्वेच्छा पूर्वक-वरण था। रामायण तथा महाभारत में स्वयंवर माता-पिता की इच्छा से होता था। किन्तु सामाजिक नियमों के शास्त्रों में यह विवाह माता-पिता की इच्छा का विचार नहीं रखता था। एक प्रकार से यह पिता के लिए एक दंड-विधान था कि उसने शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट नियम का पालन करते हुए अपनी पुत्री का विवाह समय पर क्यों नहीं किया! पिता का धर्म था कि वह अपनी पुत्री का विवाह प्रौढ़ (विवाह योग्य) होने के तीन वर्ष के भीतर अवश्य करदे। ऐसा न होने पर स्वयंवर हो सकता था। (द्रष्टव्य-मनु० ६।६०-९३, याज्ञवल्क्यधर्म शास्त्र १।६४, बौधायन धर्म सूत्र ४।१।१४, विष्णु स्मृति २४।४० तथा १७।६७-६६, वशिष्ठ धर्म सूत्र १७।६७,६८ नारद सूत्र, १२। २२,२३, गौतम धर्म सूत्र १८।२०) महाकाव्यकाल में पति की योग्यता के परीक्षण की योजना पिता का कर्तव्य था।

गाना भी लोक संस्कृति का ही विधान है। उसका उल्लेख भी 'शिव-पार्वती विवाह में मिलता है—

नारि वृन्द सुर जेवत जानी, लगी देन गारी मृदुवानी।

लोक-साहित्य-परिशीलन से ज्ञात होता है कि गारी साहित्य का अधिकांश जनकपुर की नारियों के गाने के रूप में मिलता है। व्रज की एक गारी की पहली पंक्ति यह है—

जनक पुर की नारी री,
हम जुरि मिलि गावहिं गारी।

उन गारियों में प्रत्येक 'वर' रूढ़ रूप से राम, प्रत्येक समधी जनक तथा 'दशरथ' प्रत्येक 'वधू' 'सीता' बन जाती है। इस स्थल पर लोक साहित्य शोधक श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की साक्षी देना ठीक होगा: 'युग युगान्तर से राम और सीता के नाम भारतीय लोकगीतों में अभिनन्दित होते आ रहे हैं, प्रान्त प्रान्त में इस श्रेणी के गीत मौजूद हैं। 'राम' और सीता के नाम पहले पहल रूढ़ि रूप में कब परिणत होने लगे थे, बताना सहज नहीं। विवाह गान में वर यों ही राम बन गया है; वधू को सीता की पदवी मिल गई है। + इसी प्रसिद्धि के कारण तुलसी दास जी ने जनकपुरी की नारियों की गारियों का रुचि से वर्णन किया है—

जेवँत देहिं मधुर धुनि गारी, लै लै नाम पुरुष अरु नारी।
समय सुहावनि गारि विराजा, हँसत राउ सुनि सहित समाजा।

इस प्रकार की नर-नारियों का नाम ले ले कर 'गारी' गाना आजकल भी प्रत्येक प्रान्त की विवाह-जेवनारों में पाया जाता है।

शिव-विवाह का वर्णन करना तुलसी का प्रमुख उद्देश्य नहीं। राम-सीता विवाह का वर्णन बिलकुल लोक संस्कृति के आधार से हुआ है। राम का परिछन करते जब सीता-माता चलीं तब वेद-रीति के साथ 'कुल आचारु' का निर्देश किया है। इस प्रकार के कुल-आचार का मूल मुख्यतः लोक-संस्कृति है। इस विवाह में स्थान-स्थान पर 'वैदिक-लौकिक' रीतियाँ समानान्तर चलती

+ 'धरती गाती है' पृष्ठ १०२।

ई दीखती हैं। माड़वे के निर्माण में हरे बाँसों के उपयोग की बात कही गई है—

चेतु हरित मनिमय सब कीन्हे,
सरल सपरव परहिं नहिं चीन्हे।

इस प्रकार के हरे बाँसों द्वारा माड़वे के बनाए जाने का उल्लेख लोक में प्रचलित वैवाहिक गीतों में अनेक स्थानों पर मिलता है। उनको लोक-विश्वास शुभ मानता आया है। सीता जी के द्वारा फिर देवताओं की पूजा कराई जाती है। यह देव पूजा भी लोक संस्कृति का तत्व है—

आचारु करि गुरु गौरि गनपति मुदित विप्र पुजावहीं,

इसके साथ ही स्त्रियों की विविध प्रकार की 'मनौतियाँ करने का उल्लेख तुलसी ने किया है—

पुर नारि सकल पसारि अंचल विधिहि बचन सुनावहीं,
ब्याहिअहुँ चारिउ भाइ इहिं पुर हम सुमंगल गावहीं।

भाँवर पड़ने के पश्चात् का लोक-सांस्कृतिक कृत्य देखिए—

राम सीय सिर सेंदुर देहीं, सोभा कहि न जाति विधि केहीं।

'कोहबर' कृत्य के समय तुलसी लोक-सांस्कृतिक तत्वों को और भी स्पष्ट रूप में लिखते हैं। लोक-सांस्कृतिक दृश्य का चित्र—

"कोहबरहिं आने कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइकै,
अति प्रीति लौकिक रीति लागी करन मंगल गाइ कै।
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय-सन सारद कहैं,
रनिवासु हास-विलास रस बस जन्म को फलु सबु लहैं।"

जेवनार का वर्णन भी सांस्कृतिक है। 'पंच कवल' प्रथा का उल्लेख है—

पंच कवल करि जेवन लागे।

इस प्रकार के वर्णनों से हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि मानस के वैवाहिक चित्र ग्राम अथवा लोक-संस्कृति की दृष्टि से बनाए गये हैं। इनसे जहाँ वर्णनों में सजीवता तथा गति आती है, वहाँ भारतीय लोक-संस्कृति के विविध तत्वों का एक कोप सा बन जाता है। अनेकों लोक-प्रथाओं, विश्वासों

श्रौर मान्यताश्रों का स्रोत कहीं दूर लोक में है। बौद्धिक दृष्टि से श्राज जो प्रथाएँ तथा विश्वास श्रनुपयोगी दीखते हैं उनकी उपयोगिता किसी समय में सिद्ध करने की श्रावश्यकता नहीं होगी। वे स्वतः सिद्ध होकर लोक-जीवन में अपना श्रटल स्थान बना गईं।

इन संस्कारों के वर्णनों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भी श्रनेक स्थलों पर लोक विश्वासों तथा मूढ़-ग्राहों का वर्णन मिलता है। विकास की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि आरंभिक काल में मनुष्य-जीवन पशु-पत्ती-वनस्पति आदि के घनिष्ट सम्पर्क में था। प्रकृति के विविध उपकरणों से उस मानव ने अपनत्व जोड़ा था। जिस प्रकार दैविक कल्पना तथा राक्षस कल्पना के रूप में उसने सुन्दर-असुन्दर हितकर-अहितकर आदि कोटियों में प्राकृतिक शक्तियों को बाँटा था, उसी प्रकार अनेक पक्षियों तथा पशुश्रों की स्थितियों में शुभ श्रौर अशुभ की कोटियों का उसने विभाजन किया था। उसके जीवन में उसके शरीर का दाहिना भाग अधिक उपयोगी था। अतः उस अंग की क्रियाश्रों को शुभ श्रौर बाँई श्रोर के अंगों के श्रान्दोलन को श्रशुभ मानता होगा। इसी प्रकार की हरी झाड़ी को शुभ श्रौर शुष्क झाड़ी को अशुभ समझता होगा। हरी शाखा पर बैठा हुश्रा जो पत्ती शुभ समझा जाता था, उसी पत्ती का सूखा झाड़ी पर स्थित होना अथवा वामांग में स्थित रहना अशुभ समझता था। कार्य-कारण की शृङ्खला को बौद्धिक रूप न मिलने के कारण इन स्थितियों के ऊपर ही उस मानव ने अपनी सफलता श्रौर असफलता निर्भर समझी थी। इसी प्रकार के विश्वास समस्त ससार में प्रचलित हैं। अनेक कवियों ने उन विश्वासों का वर्णन भावमयता के साथ किया है। उससे वातावरण की शुभ-अशुभ व्यंजना सरल सुन्दर बन पड़ी है। सभ्य संसार में उनकी सत्यता अथवा सार्थकता पर शंका हुई श्रौर उनका निराकरण किया गया। तुलसी ने इस प्रकार के विश्वासों को अपनाया है।

अन्य वर्णनों में लोक-सांस्कृतिक अवशिष्ट विश्वास

रामचन्द्र जी की बरात सज कर जा रही है। धरती श्रौर श्राकाश के बीच

समस्त शुभ लक्षण दीख रहे हैं। इसके साथ ही शुभ शकुनों का अपने आप बनना दीखता है—

चारा चापु बाम दिसि लेई, मनहुं सकल मंगल कहि देई।
दाहिन काग सुखेत सुहावा, नकुल दरसु सब काहूँ पावा,
सानुकूल बह त्रिविधि बयारी, सघट सवाल आव बर नारी।
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा,
सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा।
मृगमाला फिरि दाहिन आई, मंगल गन जनु दीन्हि दिखाई।
छेमकरी कह छेम विसेषी, स्यामा बाम सुतरु पर देखी।
सनमुख आयउ दधि अरु मीना, कर पुस्तक दुइ विप्र प्रवीना।ø

इस प्रकार वातावरण की शुभ व्यंजना तुलसी ने लोक-मान्यताओं के आधार से की है। इन विश्वासों को आभिजात्य-वर्ग चाहे अंध-विश्वास कह कर टालता हो किन्तु लोक संस्कृति के ये विश्वास अविकसित मनुष्य के लिए जीवन के अटल सत्य तथा अभिन्न अंग हैं।

इसी प्रकार अशुभता की व्यंजना के लिए भी अपशकुनों का वर्णन तुलसी दासजी ने रावण के रण-प्रयाण के समय किया है। इस प्रकार के अशुभ समझे जाने वाले पक्षियों में गिद्ध, उल्लू, कौआ आदि पक्षी आते हैं, रिक्त-घट का आना अशुभ-सूचक है। रावण के रण-प्रयाण के समय के अपशकुन ये हैं—

चलत होहिं अति असुभ भयंकर,
बैठहिं गीध उड़ाइ सिरन्ह पर।

इन अपशकुनों की विश्वव्यापी स्थिति रावण-वध के समय दिखाई गई है। आकाश और पृथ्वी के अपशकुनों का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है—

असुभ होन लागे तव नाना, रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना।
बोलहिं खग जग आरति हेतू, प्रगट भए नभ जहँ तहँ केतू।
दस दिसि दाह होन अति लागा, भयउ परब बिनु रवि उपरागा।

ø बलकांड, दोहा ३०२

गीदड़ों और कुत्तों का रोना आदि देखकर मंदोदरी का हृदय काँपने लगता है। उसे किसी दुर्घटना या आपत्ति की सूचना इनसे मिलती है। इन अपशकुनों की बात को सत्य सिद्ध करने के लिए ही मानो रावण की मृत्यु होती है।

शरीर के विशिष्ट अंगों के फड़कने से भी शुभ अशुभ की सूचना की बात मिलती है। इस प्रकार के फड़कने में जिस बात से आदि मानव ने इन्हें अलौकिक रहस्यमय घटना माना होगा वह बिना चेष्टा किए ही किसी अंग-का फड़कना होगी। किसी दैवी विधान की सूचना इस स्वयमेव फड़कने में उसने की होगी। फिर इस फड़कने के पश्चात् किन्हीं व्यापार विशेषों की सफलता असफलता से उस दैवी विधान को मदद कर दिया गया होगा। स्त्री के दाहिने अंग के फड़कने को अशुभ सूचक समझा जाता है। मंथरा द्वारा भरी जाने पर कैकेयी अपने अशुभ सूचक अंग आन्दोलन की बात कहती है—

सुनु मथरा बात फुरि तोरी,
दहिनि आँखि नित फरकत मोरी।

पुरुषों का बामांग फड़कने पर अशुभ की सूचना मिलने की बात कही जाती है। अभिषेक की चर्चा चलने पर राम के मंगल अंग फड़कने लगते हैं, जिनको वे भरत-गमन के सूचक होने की कल्पना करते हैं—

सुनत राम अभिषेक सुहावा, बाज गहागह अवध बधावा।
रामसीय तन सगुन जनाए, फरकहिं मंगल अंग सुहाए।

स्वप्नों को भी शुभाशुभ सूचक लोक में माना जाता है। स्वप्नों पर विचार करते समय मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रतीकों को शुभ तथा अनेक प्रतीकों को अशुभ सूचक माना है। कैकेयी अपने 'कुसपनों' की बात मथरा से करती है—

दिन प्रति देखउ राति कुसपने,
कहउँ न तोहि मोह बस अपने।

'त्रिजटा' का स्वप्न अधिक प्रतीक-पूर्ण है—

सपनें बानर लंका जारी, जातुधान सेना सब मारी,
खर आरूढ़ नगन दस सीसा, मुंडित सिर खंडित भुज बीसा।

इसमें 'खर-आरूढ' 'मुंडित-सिर' प्रतीक हैं जो आज भी अशुभ माने ते हैं।

लोक-संस्कृति में अनेक विश्वास मनुष्यों के प्रति भी होते हैं, एक आँख । गंजा, काना, कूबरा, कंजा आदि मनुष्यों के सम्बन्ध में भी लोक ने भता-अशुभता जोड़ी है। इसके साथ ही उक्त मनुष्यों में मिलने वाले ाधारण स्वभाव-गुणों का भी आरोप किया गया है। एक कहावत है—

काना विप्र मिले मग माँहीं,
प्रान जाहिं कछु संसय नाहीं।

इस प्रकार के विश्वासों ने भी रामचरित मानस में स्थान पाया है। कैकेयी मंथरा से आरम्भ में कहती है कि काने, खोरे, कूबरे कुटिल और कुचाली होते हैं—

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि,
तिय विसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि।⊖

छींक के सम्बन्ध में भी अनेक विश्वास हैं। निषादराज जिस समय राम-मिलन के लिए चित्रकूट जाते हुए भरत से मोर्चा लेने के लिए तैयारी करता है उस समय छींक होती है।

एतना कहत छींक भइ बाँए,
कहेउ सगुनिअन्हि खेत सुहाए।
बूढ़ एकु कह सगुन विचारी,
भरतहिं मिलिअ न होइहि रारी।

इस प्रकार तुलसीदास जी ने अनेक वर्णनों में लोक-संस्कृति-कोष के अनेक विश्वासों, मान्यताओं, सगुनों, मुहूर्तों तथा अंधविश्वासों को अपनाया है।

इन सभी विश्वासों में तथा प्रथाओं में जीवन के कुछ न कुछ मूल्य आदिम काल में अथवा उनके निर्माण-काल में छिपे रहते थे। जीवन के मूल्यों के बल पर ही उनकी लोक-प्रियता होती थी। उनके प्रतीक रूपों के अधिक प्रचलित हो जाने पर उन मूल्यों का भाव लुप्त होता गया। कुछ समय तक लोक के

⊖ अयोध्या काण्ड, दोहा १४।

मस्तिष्क में इस प्रतीक की उपस्थिति से ही तद्‌गत मूल्य का ज्ञान हो जाता रहा। बाद में मूल्य और प्रतीक का सम्बन्ध अधिक से अधिक विच्छिन्न होता गया। उस प्रतीक के साथ सम्बद्ध जीवन का मूल्य तो विस्मृति में उतर गया और वह प्रतीक चलता रहा। उस प्रतीक का फिर दो प्रकार से विकास साधारणतः हुआ करता है—

१—अपनी उत्पत्ति के समय प्रथा-विश्वास अथवा अन्य प्रतीक जीवन के मूल्य रखने के नाते अधिक गम्भीर रहती है। बाद में उसका विकास हलके रूप में हो गया अथवा वह एक बच्चों का खेल बन गया। π इस प्रकार का विकास अनुपयोगी तथा असामयिक विश्वास तथा प्रथाओं का होता है। अथवा हलकी वस्तु का गम्भीर हो जाना।§

२—अर्थ परिवर्तन के द्वारा विकास—इसमें कोई विश्वास अथवा मान्यता नई व्याख्या अथवा अर्थ से मण्डित होती है। इस विकास में बहुधा यह देखा जाता है कि वह विश्वास अपना धार्मिक मूल्य अथवा महत्व खोकर कला का मूल्य-महत्व ग्रहण कर लेता है।

इस दूसरे प्रकार के विकास तथा पहले विकास के दूसरे भाग से तुलसी का उक्त प्रथा और विश्वासों को अपनाना सम्बन्ध रखता है। जो विश्वास कभी सभ्य जगत के परम बौद्धिक वातावरण में कबीर जैसे सुधारवादियों के थपेड़े पाकर धराशायी हो गये थे, उनको तुलसी जैसे महाकवि ने ऊँचा स्थान देकर एक गम्भीर वस्तु बना दिया। अब उनके साथ धार्मिक आस्था उतनी नहीं रह गई। तुलसी भी उस धार्मिक आस्था को फिर से लाने के इच्छुक नहीं थे। इस धार्मिक आस्था को लाने वाले जीवन के मूल्य को उक्त विश्वास और मूढ़ग्राह खो चुके थे। अतः तुलसी का स्पर्श पाते ही उनमें काव्य-कला

π The serious beusiness of ancieut sociaty, may be seen to sink into the sport of later generation, and its serious belief to linger on in nursery folklore.

[Primituive cultnre, P, 16.]

§ Folklore xxiv. 141. [Dieterich का दृष्टिकोण]

के मूल्य की स्थापना हो गई। तुलसी की व्यंजना में किसी न किसी प्रकार उन तत्वों का योग रहा है। उनके इष्टदेव की महानता से स्पर्श पाते ही वह सगुनावली सजीव हो उठती है। इस प्रकार का विकास मध्यकालीन प्रायः समस्त प्रतिभाओं में मिलता है। भारतेतर देशों में भी अनेक कवियों ने इस प्रकार के प्राचीन पौराणिक विश्वास और कथाओं को अपनाया था।

लोक-देवता

लोक-देवताओं को भी तुलसी ने अपने काव्य में स्थान दिया है। इस प्रकार के देवता प्राकृतिक देवता हैं। इन देव-कल्पना का आधार प्रधानतः प्रकृति पर व्यक्तित्व का आरोप है। प्रत्येक पर्वत, वन, समुद्र में एक मानवीय शक्ति तथा जीवन का अस्तित्व है, यह माना जाता था। फिर इस शक्ति तथा जीवन को व्यक्ति का रूप दिया गया। उसकी प्रतिष्ठा देवता के रूप में लोक-संस्कृति ने करदी। इस प्रकार का जीवनारोप केवल अनार्यों की ही नहीं, वरन् आर्यों की भी प्रवृत्ति रही। इन आर्य-अनार्य प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण भारतीय संस्कृति के मथमो मेष के समय ही हुई। भारत की सैन्धव संस्कृति का अधिकांश आर्य संस्कृति में मिला लिया गया। 'जैसे-जैसे ऋग्वेदिक काल अथर्ववैदिक काल के निकट आता गया, यह सम्मिश्रण स्पष्ट होता गया। अथर्ववेद की सभ्यता ऋग्वेद की सभ्यता से काफी भिन्न थी। इन दोनों स्वतंत्र आर्य युगों के बीच सैन्धव-सभ्यता की कड़ी थी'···'* इस मिश्रण के फलस्वरूप अनेक देवताओं का भी मिश्रण हुआ। प्रकृति पूजा दोनों ही वर्गों में समान रूप से थी। प्रकृति पूजा की प्रणालियों का भी आदान प्रदान हुआ। आज यह बताना कठिन होगया कि अथर्ववेदीय तथा उसके बाद की लोक संस्कृति में क्या क्या तत्व किस किस संस्कृति के हैं। शिवलिंग पूजा को अनार्य पूजा बताया जाता है। + इसी प्रकार अनेकों बलि-पूर्ण अनुष्ठानों का मूल भी द्रविड़ सभ्यता में माना जाता है।

रामचरित मानस के शिव-पार्वती पर विचार करते समय यही आर्य अनार्य

---

* 'भारतीय संस्कृति के निर्माण में विविधि जातियों का योग : भगवतशरण उपाध्याय : जनवाणी, सितम्बर १९४७।

+ वही।

-समस्या उठती है। दोनों पर्वत-पूजा से सम्बन्धित हैं। दक्षिण तथा मध्य भारत की आज मिलने वाली अनार्य जातियों में पर्वत-पूजा मिलती है। × इस देवी-देवता रूप में पर्वत पूजा का मूल अनार्य ही दीखता है। शिवजी का भयंकर रूप तथा शिवजी के गणों का अद्भुत रूप विशेषतः अनार्य कल्पना पर आधारित दीखता है। किन्तु पर्वतों के एक राष्ट्र की कल्पना, उसके राजा (हिमालय) के कुटुम्ब का रूप, उसकी पुत्री पार्वती (गिरिजा) का शिव से विवाह आदि की कल्पना का मूल आर्य संस्कृति में दीखता है। इसी समिश्रित रूप का प्रचार लोक-संस्कृति में रहा जिसको तुलसीदास जी ने अपनाया। उनका विवाह आर्य-विधि से सम्पन्न हुआ। वैसे शिव-पार्वती दोनों ही पर्वतीय दिव्य-शक्ति के प्रतीक हैं। इस 'गिरिजा' को पूजा में दोनों संस्कृतियों का मेल हो जाने के कारण ही उस की सांस्कृतिक महत्ता बढ़ी। उसके साथ अनेक पौराणिक गाथाएँ जोड़ी गईं। इसी सांस्कृतिक प्रतीक की पूजा का उल्लेख तुलसी ने स्थान स्थान पर किया है। सीता जी गिरिजा की पूजा करने जाती हैं—

सर-समीप गिरिजा-गृह सोहा, बरनि न जाइ देखि मन मोहा।

....

पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा, निज अनु रूप सुभग बरु मांगा।
[बाल० २२७-२२८]

हिन्दुओं के वैवाहिक संस्कार तथा अन्य मंगलमय संस्कारों में अकेली 'गिरिजा' का ही नहीं, गणेश की पूजा का भी उल्लेख है। पर कुटुम्ब इन देवों का एकही है। दोनों की पूजा सीता राम-विवाह के समय—

आचारु करि गुर गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं।

× "The Mundas and allied tribes of Chota Nagpur revere a mountain God known as Marang Buru (yhegreat mountain)·······who is warshipped with animal sacrifice" ·····" Natives of Northern India : W. Crooke: P. 229.

'गणेश' लोक संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण व्यापक देवता है। गणेश का सम्बन्ध प्राय. सभी लौकिक घरेलू अनुष्ठानों और संस्कारों से है। इस प्रकार शिव तथा पार्वती जो निश्चय ही पर्वत पूजा के प्रतीक हैं, का कुटुम्ब वह कुटुम्ब है जिसके सदस्य लोक-अनुष्ठानों में पूजे जाते हैं।

इसी प्रकृति-पूजा का एक रूप वृक्ष पूजा है। वृक्ष अथवा वन पूजा का भी घनिष्ट सम्बन्ध पर्वत पूजा से दीखता है। यह सम्बन्ध तुलसी (वनस्पति देवी का प्रतीक) तथा शालिग्राम (पर्वत पूजा का प्रतीक) के विवाह प्रथा से स्पष्ट है। जहाँ एक वृक्ष की पूजा का रूप पीपल, केला, आदि की पूजा के रूप में मिलता है, वहाँ पूरे जंगल की दैवी शक्तियों को भी माननीय रूप में चित्रित किया है। जंगल की सघनता तथा निर्जनता से एक भय की अनुभूति होती है। इस भय से रक्षा करने वाले वन देवों और वन देवियों की कल्पना की गई होगी। इसी प्रकार जब राम के वनगमन के समय कौशल्या वनों के भय और निर्जनता को याद करती हैं, तब वन-देवों की ओर संकेत करती हुई, उन्हीं के द्वारा रक्षा की मनौती करती है—

पितु वन देव मातु वन देवी [अयोध्या० दोहा ५५-५६]

जब सीता जी भी राम के साथ वन गमन के लिए उद्यत होती हैं, तब राम तथा कौशल्या जंगलों के अनेक भयों का वर्णन करते हैं। इसके उत्तर में सीता जी कहती—

वन देवी वनदेव उदारा।
करिहहिं सासु ससुर समसारा। (अयोध्या० दोहा ६५-६६)

इन प्राकृतिक देवताओं के अतिरिक्त कुलदेवताओं की पूजा का विधान भी लोक संस्कृति में मिलता है। इन कुल-देवताओं में प्रधानता पितृ पूजा की होती है। यह पितरों की पूजा समस्त देशों में पाई जाती है। इन लोक-देवताओं की पूजा भी राम से विवाहोपरान्त कराई गई है। वहाँ देव पितरों की पूजा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

देव पितर पूजे विधि नीकी,
पूजीं सकल वासना जीकी।

उक्त कुछ देवताओं के उदाहरणों से हमने देख लिया कि मानस का देव विधान भी अधिकांश लोक-संस्कृति के आधार पर है। इस देव-विधान का प्रयोग तुलसी ने सहज भाव से किया है। इस विधान में तुलसी का दृष्टिकोण न तो इन देवों की यथार्थता बताना है, न खंडन करना। लोक में जिन प्रथाओं तथा देवताओं का प्रचलन है उनका वर्णन सहज भाव से कर देने से सांस्कृतिक चित्र पूर्ण हो जाता है। उस पूर्णता को लाने में इन विवरणों का बहुत महत्व है। इसके साथ ही इन्हीं, समन्वय की दृष्टि से सजाए हुए, तत्वों के आधार पर रामचरित मानस को हिन्दू संस्कृति का प्रतिनिधि महाकाव्य कहा जाता है। हिन्दू संस्कृति का मूलाधार परम आस्तिकता है। किसी भी वर्ग अथवा वस्तु से उसका विरोध नहीं। इसी उदार आस्तिक संस्कृति का प्रतिनिधि रामचरित मानस है।

'मानस' में विविध जातियाँ—

रामचरित मानस में अनेक जातियों का उल्लेख है। मनुष्य, 'पितर' गंधर्व, अप्सरा, सर्प (नाग) राक्षस, असुर, उदकेचर, तथा वयांसि, प्राचीन भारतीय समाज के दस अंग थे। इनका वर्णन अश्वमेध के अनुष्ठान-विधान के साथ वैदिक साहित्य में हुआ है। + घोड़ा छूटने के पश्चात् दस दिन तक कथा वार्ताएँ चला करती थीं। प्रत्येक दिन उक्त जातियों में से किसी एक के साहित्य, उसके रूप तथा राजा के सम्बन्ध में चर्चाएँ होती थीं। इसे परिप्लव कहा जाता था। तुलसी ने इनमें से प्रायः सभी जातियों को अपने 'मानस' में स्थान दिया है। तुलसी के दिये हुए रूप को देखने से पूर्व, इन जातियों का भारत समाज में विकास देख लेना चाहिए।

उक्त दस जातियों के सम्बन्ध में ये सूचनाएँ मिलती हैं।

१—मनुष्य : इनका राजा वैवस्वत मनु : इनको स्वय उपस्थित होना पड़ता था : ऋग्वेद की ऋचाएँ तथा सूक्त इनका ज्ञान है।

२—पितृ : इनका राजा यम है : इनके प्रतिनिधि वृद्ध लोग हैं : यजुः इनका ज्ञान है।

+ शतपथ ब्राह्मण १३।४।३ (परिप्लवाख्यान)

३—गन्धर्व+: इनका राजा वरुण है : सुन्दर युवक इनके प्रतिनिधि हैं : अथर्ववेद इनका ज्ञान है।

४—अप्सरा×: इनका राजा 'सोम' है : सुन्दर युवतियाँ इनकी प्रतिनिधि हैं। अंगिरस वेद इनका ज्ञान है।

५—सर्प : कद्रू=पुत्र अर्बुद इनका राजा है : इनके प्रतिनिधि सर्पविद् हैं : सर्प-विद्या इनका ज्ञान है।

६—राक्षस : इनके राजा कुबेर हैं : इनके प्रतिनिधि 'सेलगा'❀ हैं। 'देवजन विद्या' इनका ज्ञान है।

७—असुर : असित धान्व इनका राजा है : 'माया' इनका ज्ञान है। 'कुसीदिन' (महाजन) इनके प्रतिनिधि हैं।

८—उदकेचर : मत्स्य सामंदो इनका राजा है : मछुए इनके प्रतिनिधि हैं : इतिहास इनका ज्ञान है।

९—वयांसि : गरुड़ (तार्क्ष्यों वैपश्यतो) इनका राजा है। 'तानीमान्य' इनके प्रतिनिधि हैं : पुराण इनका ज्ञान है।

संक्षेप में यही इन दस वर्गों की संस्कृति थी। देव, पितर और मनुष्य सदैव मित्र रहे। +गन्धर्व और अप्सरा देवों से सुसम्बद्ध हैं। राक्षस, असुर और सर्प देवों के मित्र नहीं थे। उदकेचर समुद्री जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते

+इनको वैदिक साहित्य में अर्द्ध-देव कहा गया है। ये स्त्रियों के अत्यन्त प्रेमी होते हैं तथा रहस्यपूर्ण शक्तियों से युक्त हैं। अमरकोष में इनको 'देवयोनि' कहा गया है। 'वरुण' पश्चिम दिशा का देवता है। सम्भव है गन्धर्व भी पाश्चात्य जगत से सम्बन्धित हों!

×ये गन्धर्वों की पत्नियाँ हैं।

=कद्रू कश्यप की पत्नी थी।

❀पाप करने वाले इसका अर्थ है।

+देवा मनुष्याः पितरस्त एकत आसन्। असुरा रक्षांसि पिशाचा व एकतः—वैत्तिरीय।

है तथा 'वयासि' वनीय संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। समाज का यह दस-वर्गीय विभाजन वेदों से पूर्व का ज्ञात होता है।S क्यों कि वेद में पाँच जनवर्गों का ही उल्लेख मिलता है।× इनका आगे के साहित्य में विकास होता रहा। इस समस्त विकास को देखना यहाँ अभिप्रेत नहो। तुलसी ने इन जातियों और वर्गों को, समाज के समग्र रूप के चित्र में स्थान दिया। इनकी संस्कृति और ज्ञान को भी 'मानस' की लोक संस्कृति मे स्थान मिला इस प्रकार रामचरित मानस समाज के प्रत्येक अंग के लिए आकर्षण की वस्तु बन सका।

रामचरित मानस मे वर्णित जातियों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं: दिव्य जातियाँ (गंधर्व, अप्सरा आदि) मनुष्य जातियाँ (ब्राह्मण भाट, वंदी मागध, सूत आदि) वन्य जातियाँ (निषाद, कोल, किरात आदि) इन जातियों के उल्लेख और वर्णन से उनकी संस्कृति का कुछ आभास मिलता है। वस्तुत: इन सभी जातियों का उल्लेख भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है, जिसको तुलसीदास जी ने भी परम्परा रूप में अपनाया है। किन्तु कुछ तत्व तुलसीदास जी ने अपने भी जोड़े हैं। इन जातियों का उपयोग तुलसीदास जी ने किसी न किसी प्रकार अपने सांस्कृतिक संदेश की पूर्णता के लिए किया है।

दिव्य जातियों के उल्लेख की दो प्रणालियाँ तुलसीदास जी ने अपनाई हैं: एक तो आकाश में ही उनकी स्थिति दिखा कर दुन्दुभी आदि बाजे बजाए जाने का उल्लेख किया है। दूसरे, उनकी स्थिति राम के दरबार तथा अन्य पार्थिव समारोहों में दिखाई है। पार्थिव समारोहों में उनका उल्लेख दो दृष्टियों से किया गया दीखता है: एक तो स्वर्ग में देवताओं की प्रसन्नता तथा उनका

दिव्य-जातियाँ

S आर० डा० करमरकर, ABORI, Vol XXXIII (1952) P. 33

× यास्क. ३।८ के अनुसार गंधर्व, पितृ, देव, असुर, तथा राक्षस हैं। यही औपमन्यव के विषय में कहा गया है कि वह चारवर्ण तथा निषादों के पाँच वर्ग मानता था।

समारोह दिखाने के लिए जिसमें पार्थिव समारोह पर उनका हर्षित होना दिखाया गया है—

नभ दुन्दुभी बाजहिं विपुल गंधर्व किन्नर गावहीं,
नाचहिं अपछरा वृन्द परमानन्द सुरमुनि पावहीं।
(उत्तर० दोहा ११-१२)

साधारणतः इस रूप की कल्पना लोक-संस्कृति की नहीं है। दूसरी दृष्टि यह हो सकती है कि इन दिव्य जातियों के पृथ्वी पर अवतरित रूप से समारोह दिखाया गया हो। देव-संस्कृति के पश्चात् मानव-संस्कृति के विकास के समय मानव राजाओं के दरबारों की तुलना इंद्र के दरबारों से की गई होगी। उस समय पृथ्वी पर अनेक ऐसी जातियाँ बनी जिनका संबंध दिव्य दरबार से था, अप्सरा सम्भवत् वेश्याएँ हो गईं। गायक गंधर्व कहे जाने लगे। 'गंधर्व' का प्रयोग दोनों रूपों में भारतीय साहित्य में उपलब्ध होता है।

गंधर्व

वैदिक साहित्य में गंधर्व देवता थे जिनका कार्य स्वर्ग और मर्त्य के सत्य-रहस्यों का उद्घाटन करना था + अथर्ववेद में भी गंधर्वों का उल्लेख है। आजकल यह जाति बनारस इलाहाबाद तथा गाजीपुर के आस पास पाई जाती है। × इस जाति का आजकल भी कार्य गाना-बजाना है। हो सकता है तुलसीदास जी ने इस जाति के उसी रूप से सम्पर्क प्राप्त किया हो और अयोध्या के राज-दरबार से उनका सम्बन्ध जोड़ दिया हो। जहाँ तुलसी ने मंगलाचरण में गंधर्वों की वन्दना की है, वहाँ उनकी दृष्टि में देवरूप गंधर्व ही रहे होंगे—

देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्व,
बंदहु किन्नर रजनिचर कृपा करहु अब सर्व।

किन्तु जहाँ 'गंधर्व किन्नर गावहीं' के रूप में उल्लेख है, वहाँ दीखता है कि गंधर्व-किन्नर जातियों की ओर निर्देश है। इन जातियों का पेशा वेश्या

+ Classical Dictionary, by Dowson,

× Tribes and Castes of the N. W Provinces and Oudh, P. 380.

वृत्ति तथा गाना-बजाना है। केवल इसी सांस्कृतिक तत्व का ज्ञान इस जाति के मानस के विवरण से प्राप्त होता है। राजदरबारों में इस जाति का स्थान सांस्कृतिक रूप से कम तथा वैभव की व्यंजना के रूप में अधिक है।

मनुष्य जातियों में ब्राह्मण आदि जातियों के लोक सांस्कृतिक रूप पर यहाँ विचार नहीं करना। यहाँ केवल बंदी, मागध, सूत आदि जातियों तथा उनकी मानस में व्यक्त होने वाली संस्कृति पर विचार करना है। लोक-संस्कृति में 'पितरों' तथा पूर्वजों की पूजा का भाव होता है, यह बात पहले कही जा चुकी है। अपने पितरों का बखान तथा प्रशंसा सुनकर गर्व अनुभव करना एक जातीय तत्व है। इस कार्य के करने वाली ही उक्त जातियाँ हैं। राम चरित मानस में अनेक स्थलों पर इन जातियों का उल्लेख मिलता है—

१—बंदी मागध सूतगन बिरुद बदहिं मति धीर,
करहिं निछावर लोग सब हय गय धन मनि चीर।
[बाल० दो० २६२]

२—कतहुँ बिरिद बंदी उचरहीं,
[बालकांड० दो० २६६-२६७ के बीच]

३—मागध सूत बिदुष बंदीजन,
[बालकांड० दो० ३०८-३०६ के बीच)

४—बंदि मागधन्हि गुन गन गाए,
[बालकांड० दो० ३५७-३५८ के बीच]

इनके अतिरिक्त भाटों का भी उल्लेख हुआ है। चरण, मागध, बंदी, भाट लगभग एक ही जाति के भिन्न भिन्न नाम हैं। हो सकता है कि ये सभी नाम एक ही जाति के भेदोपभेदों को व्यक्त करने वाले हों। सूत नाम भी इसी जाति का द्योतक है। इस एकता का आधार इस जाति में प्रचलित जाति-उत्पत्ति कथा है। इस प्रकार की दो कहानियाँ हैं। पहली कथा* इस प्रकार है: महादेव जी ने शेर और नांदी की देख-भाल के लिए भाटों को बनाया किन्तु शेर नित्य ही नांदी को मार देता था और शिवजी को नया बनाना पड़ता था।

* Central India, II, P 132 (by. John Malcolm)

इस भ्रम के निवारण के लिए महादेव जी ने 'चारणों' को बनाया जो 'भाट' से अधिक साहमी थे। उनकी उत्पत्ति के समय से फिर शेर शिवजी के नांदी का न मार सका। दूसरी कहानी + इस प्रकार है: एक बार ब्रह्मा ने यज्ञ किया। उस समय दो मनुष्य उपस्थित हुए। महाकाली ने देखा कि वे प्यास से मर रहे हैं, तो उसने उन्हें अपने स्तनों से दूध पिलाया और उनका नाम मागध और सूत रखा। मागध ब्राह्मण पूर्व में बसे और उनका वंश भाट ब्राह्मण कहलाया। सूत पश्चिम में बसे, और उनका वंश भाट कहलाया। एक और कहानी है। जब काली ने राक्षसों का विनाश कर दिया तब अपने पसीने से उसने एक मूर्ति बनाई और उसमें प्राण फूँक दिए। यह मूर्ति इसलिए बनाई कि वह काली की विजय का गान कर सके। इन उत्पत्ति-कथाओं से सूचना मिलती है कि उत्पत्ति एक स्थान पर होते हुए भी शाखाएँ भिन्न हुईं। साथ ही उनका निर्माण काली ने अपनी विजय-गाथा गाने के लिए किया। रामचरित मानस में आए हुए ऊपर लिखे उद्धरणों में इसी गुण-गान तथा 'विरुद' बखानने का स्पष्ट उल्लेख है।

इसी गुण गाने की वृत्ति से प्रेरणा लेकर उन्होंने अनेक काव्यों की रचना की है। इन जातियों ने कौशल, विदेह, कुरु, पांचाल राजाओं की कीर्ति गाई। उन्हीं वीर-कार्यों का गुणों से पूर्ण करके उक्त जाति ने महाकाव्यों की नींव डाली। + इस कथन के अनुसार विदेह तथा अयोध्या के राज-दरबारों में भाटों की उपस्थिति की बात कहना, एक ऐतिहासिक महत्व भी रखती है। तुलसीदास जी ने विशेषतः विदेह के राज दरबार में ही इनके द्वारा गुण-गान करने तथा विरुद बखानने की बात कही है। इस वर्णन में जहाँ जातिगत सूचना मिलती है वहाँ लोक मानस की अपने पूर्वज तथा अपनी प्रशंसा सुनने की प्रवृत्ति की ओर भी निर्देश करते हैं।

+ Tribes and Castes of N. W. Provinces and oudh (W. Crooke) P. 20 पर उद्धृत.

+ Risley, Tribes and Castes 1, 98.

वन्य जातियाँ

वन्य जातियों में उल्लेख तो बहुत सी जातियों का है, जैसे कोल, किरात भील आदि। पर विशद चित्रण निषाद् जाति का मिलता है। निषादों की संस्कृति का मानस-गत रूप देखने से पूर्व इस जाति की उत्पत्ति और विकास पर एक विहंगम दृष्टि डाल लें। सबसे पहले निषादों का उल्लेख अन्तिम संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है।β वहाँ बहुधा निषाद शब्द का प्रयोग जातिवाचक नहीं है। वहाँ साधारणतः इस शब्द का अर्थ उन जातियों के समूह से है जो अनार्य थीं और आर्यों के शासन में नहीं रहती थीं। इस तथ्य की सत्यता यास्क के कथन से पुष्ट होती है। जो निषादों को चारों वर्णों से पृथक मानता है।* वाजसनेयी संहिता में आए निषाद् शब्द + का अर्थ महीधर ने भील माना है जो अभी तक मध्य प्रदेश और विन्ध्या घाटी में रहती हैं। वेबर यह मानता है कि निषाद यहाँ के आदिम (Aboriginal) निवासी थे।+ इन समस्त विवरणों से ज्ञात होता है कि निषाद अनार्य जाति के लोग थे। ये जंगलों में रहते थे। 'मनु' ने इनका सामाजिक कर्तव्य यह लिखा है कि वे मछली मारें और समाज को उन मछलियों को दें।× पालि ग्रन्थों में कहा गया है कि ये बनों की शिकारी जाति है तथा मछुए भी हैं।= वाल्मीकि रामायण में उन्हें असंस्कृत संस्कृति वाला कहा गया है, साथ ही जंगली भी कहा गया है।% इस प्रकार निषादों का वर्णन करके यह भी कहा

β तैत्तिरीय संहिता, IV, ५, ४, २, मैत्रायणी संहिता, २, ६, ५, ऐतिरेय ब्राह्मण VIII, II

† Vedic Index, Vol. I, p 453

* निरुक्त (यास्क) III, 8.

+XVI, 27.

+Indische studien, 9, 350.

×Manu X, 48

=Muirs Sans. Texts 301, 303.

%आदिकाण्ड, Canto I, अयोध्याकाण्ड, 51

गया है कि गुह निषाद-राज था। महाभारत में निषादों का एक राष्ट्र बताया गया है जिसकी स्थिति सरस्वती तथा पश्चिम विन्ध्य में बताई गई है।❀ रामायण में निषादों की स्थिति शृंगवेरपुर में बताई गई है। बृहत्संहिता (वराहमिहिर) में निषाद राष्ट्र की स्थिति मध्यदेश के दक्षिण-पूर्व में लिखी है। निश्चय रूप से तुलसी ने रामायण में दिए हुए निषादों के वर्णन को आधार बनाया होगा। वहीं मिलने वाले निषाद राष्ट्र का विचार लेकर ही गुह राज की कल्पना उन्हीं की होगी। किन्तु तुलसी ने उनकी संस्कृति का बड़ा ही सजीव चित्र खड़ा किया है।

निषाद् संस्कृति के चित्रण में अनार्य संस्कृति के चिन्ह तो कम ही मिलते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि जो कभी आर्यों के शासन तथा अधिकार से बाहर थे, वे आर्यों की संस्कृति से प्रभावित होकर सुसंस्कृत तथा सभ्य हो गये होंगे निषादों के वर्णन से तुलसीदास जी जिस भी संस्कृति की सूचना देते हों, वह संस्कृति भव्य है।

यह हम देख चुके हैं कि वाल्मीकि रामायण में निषाद् राज को शृंगवेरपुर का बताया गया है। उनकी स्थिति अनुमानतः गंगा के उत्तर, प्रयाग के सम्मुख दीखती है। अतः अयोध्या के प्रसिद्ध राजवंश का प्रभाव उन पर रहा होगा। जहाँ वाल्मीकि जी का उद्देश्य आर्य-विजय दिखाना था, वहाँ अनेक अनार्य वन्य जातियों को भी आर्यों से पराभूत होता हुआ दिखाना भी वे चाहते थे। किन्तु तुलसी ने लोक की आतिथ्य भावना को लेकर ही उनकी संस्कृति का चित्रण किया है। राम को वन में आया हुआ सुनकर निषादराज भेंट लेकर आया है—

यह सुधि गुह निषाद जब पाई, मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई।
लिए फलमूल भेंट भरि भारा, मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा।

वह अपनी जाति को नीच बताता है। किन्तु राम के सम्पर्क से वह धन्य हो जाता है। इस कथन में आर्यों की संस्कृति से निषाद के पराभूत होने की बात मिलती है। यह वाल्मीकीय मोटिव है, जिसको भक्ति भाव से अभिमंडित करके तुलसी ने इस प्रकार रखा है—

❀ III. 130, 4

नाथ कुसल पद पंकज देखें, भयउ भाग भाजन जन लेखें,
देव धरनि धनु-धाम तुम्हारा, मैं जनु नीचु सहित परिवारा।

समस्त स्वागत-विधान में तुलसीदास जी ने भक्तिमयता रखी है। प्रभाव शक्तिमत्ता का नहीं है। वरन् राम के शील और शिष्टता का है। निषादों की जाति के वर्णन में तुलसीदास जी का दृष्टिकोण वाल्मीकि जी से भिन्न है। निषादराज तथा अन्य वन्यजातियों को लगभग उसी साँचे में ढाला है जिसमें मार्ग के अन्य ग्राम-वासियों को, इससे यह ध्वनि निकलती है कि निषादों पर लोक-संस्कृति का प्रभाव पड़ चुका था। उस उदार तथा सरल संस्कृति के सभी अंगों को इस जंगली जाति ने अपना लिया था। जबकि वाल्मीकि जी की दृष्टि में शुद्ध आर्य संस्कृति से वे प्रभावित हुए थे। लोक संस्कृति से प्रभावित होने के कारण ही उनका समस्त स्वागत तथा अतिथि-सत्कार पहले लिखे जा चुके अन्य ग्राम-वासियों के स्वागत-सत्कार से मिलता है। पहले गुह ने उनके सोने के लिए साँथरी बनाई—

गुह सँवारि साँथरी डसाई, कुस किसलय मय मृदुल सुहाई।
सुचि फल फूल मधुर मृदुजानी, दोना भरि भरि राखेसि पानी।

इस चित्र में सत्कार भाव पूर्व का सा ही है। सांथरी, फल फूल, भेंट, दोना आदि के रूप में इस जाति की संस्कृति की सूचना भी मिल जाती है। निषाद राजा है तो क्या, है तो वनवासी ही। उसका विकास अभी पत्तों के दोनों, सांथरी तक ही हुआ था। इस वर्णन में इस जाति की पूर्व संस्कृति सजीव हो उठी है। निषाद-द्वारा 'पर्ण-कुटी' का निर्माण भी उसी वन्य संस्कृति का द्योतक है। गुह पर्ण कुटी बनाता है—

कोल-किरात वेष सब आए, रचे परन तृन-सदन सुहाए।
[अयोध्या १:२-१३३]

इसके साथ ही राम को वन-पथ दिखाने का यह काम करता है। निषादों के दो पेशे प्राचीन साहित्य में मिलते हैं : एक तो शिकार खेलना तथा दूसरा मछली पकड़ना। जंगलों में रहने के नाते शिकारी होना तो स्वाभाविक था।

मछुआ होने की सूचना दो बातों से मिलती है : एक तो भरत को भेंट देते समय निषाद मछलियाँ भी भेंट करता है—

> अस कहि भेंट सँजोवन लागे, कंदमूल फल खग-मृग-मागे।
> मीन-पीन पाठीन पुराने, भरि भरि थार कहारन्ह आने।

इस भेंट में वन्य भौतिक संस्कृति और भी स्पष्ट हो जाती है। इसमें उनका शिकारी जीवन तथा मछुआ जीवन स्पष्ट हैं। दूसरी सूचना उसके केवट होने से मिलती है। ऐसा लगता है कि निषादों के पास मछली पकड़ने के लिए ही नाव होती होंगी, उसी नाव में बिठा कर केवट ने राम को पार किया होगा। उनका पेशा चोरी भी प्राचीन साहित्य में मिलता है। उसकी ध्वनि 'लेत न भूषन बसन चुराई' से मिल जाती है।

ऊपर निषादों के जीवन-यापन का भौतिक चित्र तुलसी ने उपस्थित किया है। निषादों का जीवन कठोर था। उसमें कोमल भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं था। कठोर जीवन के साथ ही वह जाति इतनी नीच समझी जाती थी कि *लोग उसकी छाया से भी घृणा करते थे*—

> लोक-वेद सब भाँतिहिं नीचा,
> जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।

इतनी नीच जाति थी, जिसका जीवन इतनी कठोरता का जीवन था।

निषाद संस्कृति के चित्रण का यह यथार्थ भाग है। इस संस्कृति के चित्रण के साथ तुलसीदास जी का एक सांस्कृतिक सन्देश छिपा हुआ है। उस सन्देश *का प्रभाव इस यथार्थ पृष्ठभूमि के साथ एकदम सजीव हो उठा है। नीत्शे का* विचार था कि जितना कठोर जीवन होता है उतनी ही मानसिक कठोरता उस *जाति में पाई जाती है। इस बात को हम प्रथम अध्याय में देख चुके हैं।* तुलसीदास जी निषादों की संस्कृति के माध्यम से नीत्शे को एक प्रकार से उत्तर *देते हैं कि कठोर जीवन में भी कोमलता रहती है।* उसका जीता जागता उदाहरण निषादराज है। निषाद के कोमल हृदय की झाँकी कहिए—

सुमंत वापस लौटते समय राम से बात करता है, उस संवाद का निषाद पर प्रभाव—

सुनि रघुनाथ सचिव संवादू, भयउ सपरिजन विकल निषादू।

राम सीता को भूमि पर शयन करते हुए देखकर निषाद की करुणा फूट पड़ी है—

विविधि बसन उपधान तुराई, छीर फेनु मृदु बिसद सुहाई।
तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं,
निज छवि रति मनोज मदु हरहीं।
ते सिय राम साँथरी सोए, श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोए।

केवट सवाद के प्रत्येक शब्द में इतना प्रेम लिपटा हुआ था कि शब्द सीधे उच्चरित नहीं होते थे। राम पर भी उन शब्दों का प्रभाव पड़ा था—

सुनि केवट के बैन प्रेम-लपेटे अटपटे,
बिहँसे करुना ऐन चितइ जानकी लखन तन।

जब राम सीता के आगमन की सुधि वन्य कोल किरात पाते हैं तो उनके हर्ष की सीमा नहीं—

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई, हरषे जनु नव निधि घर आई।
कन्दमूल फल भरि भरि दोना, चले रंक जनु लूटन सोना।

निषाद, कोल, किरात जैसी वन्य जातियों के मानसिक जगत की करुणा तथा सहानुभूति की अजस्र धारा के दर्शन कराने के लिए उक्त झाँकियाँ पर्याप्त हैं। तुलसीदास जी ने इस संस्कृति के चित्रण में निषादों की भौतिक संस्कृति और लोक-संस्कृति से प्रभावित मानसिक स्थितियों का दिग्दर्शन कराया है। कितना ही कठोर जीवन हो उसमें एक करुण प्रेम की रेखा अवश्य रहती है। उसी के माध्यम से वन्य से वन्य, कठोर से कठोर जाति के हृदय को परिवर्तित किया जा सकता है। राम की इन जातियों पर जो विजय दिखाई गई है, वह अस्त्र-शस्त्र की नहीं, शक्ति की नहीं, सत्यता और प्रेम की विजय है। राम जिस लोक संस्कृति की धारा का प्रतिनिधित्व यहाँ कर रहे हैं, उसमें निषाद, शबरी, वाल्मीकि जैसे नीच जाति के लोग भी परम पवित्र हो जाते हैं। स्पष्ट उक्त संस्कृति में न कहीं वैदिक तत्व ही दीखते हैं और न शास्त्रीय दर्शन ही, उनमें हृदय के सहज सरल भावों के परिष्कृत रूप से ही संस्कृति बनती

है। इसी भावना की परिष्कृति मे सर्वोदय की भावना के बीज हैं। इसी सहज सरल लोक संस्कृति की आरती उतारना प्रत्येक जन का कर्तव्य है। इसमें अंध विश्वास भी स्थान पाए हुए हैं, अनेक मान्यताओं की भी विगर्हणा नहीं की गई। रूढ़ियों का भी खंडन, खंडन की दृष्टि से नहीं किया गया। इन सब तत्वों का समीकरण होकर एक लक्ष्य पर दृष्टि रहती है। यही रामचरित मानस का सांस्कृतिक संदेश है।

अब एक और जाति अवशिष्ट रहती है। वह है वानर जाति। वानर जाति को बन्दरों के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु हो सकता है कि उसका बन्दर-जाति के रूप में चित्रण उस जाति की अविकसित वन्य अवस्था का द्योतक रहा हो। हनुमान की पूँछ के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण किया जा सकता है हनुमान जी पवन-पुत्र अथवा कहिए वायु के अवतार थे। पूँछ का हिलने जुलने से वायु की व्यंजना की गई हो। श्वेत-यजुर्वेद में जहाँ एक वृषभ की बलि का वर्णन किया गया है, वहाँ कहा गया है कि उस बैल की पूँछ को वायु ग्रहण करता है। उसके अन्य अंग अन्य देवताओं को जाते हैं। + इस प्रकार पूँछ वायु के प्रतीक के रूप में हनुमान से कभी जुड़

+ "The shoulder belongs to Maruts, the first rib cartilages to the All Gods, the second to the Rudras the third to the Adityas; the tail belongs to Vayu the hind quarters to Agni."............[Yajurveda, Book xxv verse 6 Tr. by Griffith. P. 266-267]

. इसकी टिप्पणी म लिखा गया है—

"So at the offering of the typical sacrificial Bull Vata the God receives the tail, he stirs the plants and herbs therewith."

गई हो ! गौरेशियो (yorresio) ने लिखा है:

वानर जाति

"जो सेना राम ने एकत्रित की थी, वह अधिकांश विन्ध्याचल के पास पास की जातियों से बनी थी। किन्तु जिन जातियों को राम ने एकत्रित किया था, उन जातियों को रामायण में बन्दर जातियाँ लिखा गया है। यह दो कारणों से हो सकता है : एक तो उनके जंगलीपन से प्रेरित होकर उनको बन्दर कह दिया गया हो, अथवा संस्कृत बोलने वाले आर्यों को उस समय उनका अधिक ज्ञान नहीं रहा हो" = इस कथन के प्रमाण में विलकिन्स का कहना है। "कि इस समय तक विन्ध्या चल की अतिप्राचीन (Abouginal) जातियों में राम सीता सम्बन्धी अनेक अवदान (Legend) प्रचलित हैं, यद्यपि न तो वे हिन्दू हैं, और न हिन्दुत्व के विषय में अधिक जानते ही हैं। उनका साम्य हिन्दुओं से नहीं है। उनका वर्ण काला है; उनके बाल घुँघराले हैं; होठ मोटे हैं, उनका साम्य अफ्रीका की जातियों से है।" × अनेक जाति वैज्ञानिकों ने उन्हें जातिहीन माना है। अनेक प्राचीन तत्व उनके वर्णन में मिलते हैं। बालि का अपने छोटे भाई की स्त्री का छीन लेना, सुग्रीव का बालि की स्त्री तारा से विवाह कर लेना, 'गदा' हथियार का रखना, 'सप्त तालों' के गिराने से राम की शक्ति की परीक्षा आदि अनेकों विश्वास उस वानर जाति की अति प्राचीनता के द्योतक हैं। यह जाति इतनी नीच समझी जाती होगी कि उसके विषय में यह विश्वास, प्रचलित हो गया—

प्रात लेइ जो नाम हमारा,
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा। [लंका० दो० ६-७ के बीच]

इस जाति का उद्धार राम ने किया। यही उनकी कृपालुता का सबसे बड़ा प्रमाण है—

= Qooted by W. J. Wilkins : Hindu Mythology; P. 145.

× Hindu mythology, Eoot not on page 143, (Wilkins)

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर,.
कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर।

[लंका० दोहा ७]

वालि को मार कर जो रावण के वर्ग का था, राम ने सुग्रीव को अपनी ओर मिला लिया था। उसके पश्चात् रावण पर आक्रमण करने की योजना हुई। इसके साथ ही राम जिस सांस्कृतिक संदेश को लेकर घर से चले थे, उसका प्रसार असभ्य-असंस्कृत जातियों में राम ने किया। इसके अतिरिक्त राम जिस संस्कृति में पले थे उसकी उदारता, व्यापकता और महानता की व्यंजना भी इस जाति के वर्णन से होती है।

राक्षस

राक्षस जाति भी परम नृशंस और अत्याचारी थी। राक्षसों के सम्बन्ध में लोक का विश्वास है: अनेक भयंकर रूपों के होते हैं, अत्याचारी और निष्ठुर, जो देवों तथा ऋषियों के यज्ञों का विध्वंस करते हैं। स्त्री का अपहरण करते हैं।+ यह घृणास्पद नाम वाल्मीकि और तुलसी ने अनार्य, नृशंस जातियों के लिए प्रयुक्त किया है। इन अवगुणों के कारण जहाँ घृणा का भाव उत्पन्न होता है, वहाँ उनमें अनेक गुणों की स्थापना भी की गई है जिनसे उनके प्रति हमारी सहानुभूति होने लगती है। मारीच की बातें सुनकर उससे सहानुभूति हुए बिना नहीं रह सकती। वह कपट-मृग बनने के लिए तैयार तो हो जाता है किन्तु उसकी मानसिक स्थिति इस प्रकार की है—

+ धर्म शास्त्रों में राक्षस विवाहों का आधार अपहरण बताया गया है। (द्रष्टव्य मनु० ३।३५; याज्ञ० धर्म शास्त्र १।६१; आपस्तब धर्म शास्त्र २।५।१२।२; गौतम धर्म सूत्र ६।१२; वशिष्ठ धर्म सूत्र १।३४; बौद्धायन धर्म सूत्र १।११।२०।८; नारद सूत्र १२।४३ कौटिल्य अर्थ शास्त्र ३।२; शांखायन ४।६; काम सूत्र भाग १, अध्याय ५; आश्वलायन गृह्य सूत्र १।६।८ आदि)। तुलसी का रावण सीता का अपहरण करता है। अहिरावण राम-लक्ष्मण का अपहरण करता है। यह अपहरण कला की दक्षता है।

"निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं,
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं।
निर्वान दायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बसकरी,
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी।
[अरण्य० दो० २६ से ऊपर]

इससे भी पूर्व वह राम से विरोध न करने के लिए भी कहता है। कुम्भकर्ण जैसे महा भयावह राक्षस के मुख से भी हम संधि करने की बात सुनते हैं—

अजहूँ तात त्यागि अभिमाना,
भजहु राम होइहि कल्याना।
[लंकाकाड० दो० ६३ से ऊपर]

रावण अभिमानी के मन में भी सीता हरण से पूर्व यह बात आती है—

खरदूषण मोहि सम बलवंता,
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता।
सुर-रंजन भंजन महि भारा,
जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा।
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ,
प्रभु सर प्रान तजें भवतरऊँ।

राक्षसों के हृदय में इस प्रकार के विचार तथा भाव रखने से अभिप्राय यह है कि राक्षस जैसी अत्याचारी जातियों में भी सद्विचार हो सकते हैं। उन्हीं सद्विचारों के आधार से उनको संस्कृत बनाया जा सकता है। उन्हीं के आधार पर सुग्रीव और विभीषण को राम अपने न्याय के पक्ष में मिला लेते हैं। यही सांस्कृतिक सन्देश है।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोक-संस्कृति के सरल धरातल पर गोस्वामी जी की सांस्कृतिक समन्वय की साधना सिद्ध होती है

येक संस्कृति में विनाशात्मक तथा सृजनात्मक शक्तियाँ कार्य करती हैं। न्दर असुन्दर का संघर्ष होता है। व्यक्ति और समाज, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि विग्रह होते हैं। इस संघर्ष से जातियाँ अकुला उठती हैं। समाज का चेतन कर्तव्य विमूढ़ सा दीखता है। उपचेतन विक्लांत रहता है। इस सांस्कृतिक तर्संघर्ष के साथ-साथ बाहरी संस्कृतियों से भी मुठभेड़ होती रहती है। स समय सांस्कृतिक समस्या और भी जटिल हो जाती है। महान् प्रतिभाओं के सम्मुख भी यह प्रश्न उठ खड़ा होता है। कुछ अधूरी प्रतिभाएँ उक्त संघर्ष में किसी एक पक्ष को पुष्ट करतीं तथा दूसरे का खंडन करती हैं। वे भूल जाती हैं कि यह सांस्कृतिक समस्याओं का हल नहीं है। महान् प्रतिभाएँ संस्कृति की संघर्ष शील शक्तियों में से किसी का पक्ष गृहण नहीं करतीं। उनमें कार्य करते हुए जीवन के विविध मूल्यों का सहानुभूति पूर्ण अध्ययन करके उनमें से विधायक मूल्यों को चुन लेती हैं। ये विधायक मूल्य मनुष्य ही नहीं, वन-मनुष्य, राक्षस, पशु-पक्षी आदि सभी में समान होते हैं। इनकी खोज महान् प्रतिभाएँ गहरी मनोवैज्ञानिक पैठ के द्वारा करते हैं। इस प्रकार एक वह सर्व साधारण धरातल मिल जाता है, जहाँ सभी की स्थिति में समानता है। उस धरातल को ही वस्तुतः लोक संस्कृति कहते हैं। यहाँ पर जटायु राम से सहानुभूति के कारण रावण से युद्ध कर सकता है, संपाती मार्ग निर्देश कर सकता है; कागभुशुंडि ज्ञान-कथाएँ कह सकता है। लोक साहित्य में संस्कृति के इसी रूप के दर्शन मिलते हैं। वहाँ कुत्ता की स्वामिभक्ति की कहानी है। हंसों और कौओं के सन्देश ले जाने की बातें हैं। यदि इस धरातल पर बुद्धिवाद की धारा फूट पड़े तो सारी तपस्या भंग हो जाती है। अतः इस धरातल पर भावात्मकता का राज्य रहता है। भावात्मकता के धरातल पर गरीब अमीर, उच्च नीच सब समान हैं। वहाँ बुद्धि जन्य भेद भाव नहीं। इसी भावात्मक धरातल पर टिकी लोक-संस्कृति की भारतवर्ष में प्रधानता रही। इस लोक-संस्कृति का ही दूसरा नाम हिन्दू संस्कृति है। यह 'हिन्दू' धर्म कम है, संस्कृति अधिक। इसका मन्तव्य कभी दूसरी जातियों को अपने में मिलाने का नहीं रहा। फिर भी अनेक जातियां शक, हूण आदि आईं और इस संस्कृति

में अपने आप स्थान बनाकर रहने लग गईं। इस मिश्रण से कोई विरोध भी नहीं रहा। इस प्रकार यह भाव प्रधान लोक संस्कृति अजस्र रूप से प्रवाहित रही।

किन्तु बाद के युगों में जब बुद्धिवाद के ऊपर आश्रित अनेक संस्कृतियों से इसका सामना हुआ तब भेद भाव उत्पन्न होने लगा। खंडन मंडन का दौर चला, वाद-विवादों का जमाव रहने लगा। इससे बीच की खाई बढ़ती गई। अब एक ऐसी प्रतिभा की आवश्यकता अनुभव होने लगी जो इन संघर्षों से ऊपर उठ कर निर्विकार भाव से बोल सके। जो लोक-संस्कृति के भावात्मक ऐक्य के लिए क्षेत्र निर्माण कर सके। सभी विरोधी तत्वों के बीच एक कड़ी बनकर तुलसी की प्रतिभा का जन्म हुआ। ऐसे क्षेत्र का निर्माण तुलसी ने लोक संस्कृति के आधार पर निर्मित किया, जहाँ ग्राम-नगर, सभ्य-असभ्य, देव-राक्षस सभी के बीच एकता का धागा दीखने लगा; अन्ध विश्वास तथा मूढ़ ग्राह विकास के विरोधी रूप में नहीं, भावात्मक शृङ्खला में सुन्दर कड़ी बन गए। अरण्यकांड में मिलने वाले वैदिक ऋषियों से लेकर वन पथ में मिलने वाले भोले ग्रामीणों तक की, निषाद आदि वन्य जातियों से लेकर राक्षसों तक की संस्कृति को उस लोक-सांस्कृतिक धरातल पर तुलसी ने सजा दिया; उनके अन्तर में कोमल करुण धारा बहती दिखाकर सबको एक कर दिया; विरोधी तत्वों को जोड़ने वाली कड़ी को भाव विचारों के क्षेत्र में हम भक्ति कह सकते हैं तथा काव्य के क्षेत्र में सौन्दर्य वृत्ति।

इन विरोधी तत्वों का प्रभाव कवि के अन्तर्जगत पर भी पड़ता है। यह बाह्य जगत की संघर्ष संवेदना के माध्यम से कवि के अन्तर्जगत का संघर्ष बन जाता है। जिस प्रतिभा में बल नहीं होता वह इस संघर्ष को दबा नहीं सकता। उस संघर्ष के घोष को जब वह व्यक्त करता है तब वह उस अभिव्यक्ति को आदर्श नहीं बना पाता। महान् प्रतिभा उस संघर्ष को दबाती है। इस मानसिक संघर्ष से मुक्ति पाकर जब कलाकार निर्द्वन्द्व भाव से कुछ गा उठता है, तब उसका स्वर अमर होता है। उसके द्वारा निरूपित आदर्श को समाज

स्वीकार करता है। इसी अमर आदर्श, लोक-संस्कृति के मध्यकालीन नेता गोस्वामी तुलसीदास थे। इन्होंने राम-कथा चुनी जिसमें अनेकों विषम-संस्कृतियों का समन्वय ही प्रधान लक्ष था। 'मानस' की अभिव्यक्ति भी लोक-संस्कृति के अनेक तत्वों से बल पाकर, तथा लोक-प्रतीकों के आधार से भव्य बन गई। इसी अभिव्यक्ति प्रणाली के द्वारा लोक तक उनकी लोक-संस्कृति कल्पना पहुँच सकी।

पंचम-अध्याय

मानस के काव्य का लोक-सांस्कृतिक रूप

[१]

दूसरे और तीसरे अध्याय में रामकथा का विकास देखा गया है। विकास की व्याख्या करने पर हमें विकास की तीन स्थितियाँ स्पष्ट दीखती हैं : प्रथम स्थिति में राम सीता तथा अन्य प्रकृति देवताओं के कल्पना प्रसूत व्यक्तित्व मिलते हैं। देवों का परस्पर सम्बन्ध बहुत कुछ प्रकृति व्यापारों को ही प्रदर्शित करता है। परस्पर सम्बन्धों को जोड़ने वाली कड़ियाँ इस कल्पना को पौराणिक 'गाथा (Myth) का रूप दे देती हैं। पर यह गाथा अपने से अतिरिक्त विशेष कुछ नहीं। दूसरी स्थिति में यह प्राकृतिक गाथा अपने से अतिरिक्त कुछ विशेष ध्वनित करने लगती है। प्रथम स्थिति के व्यक्तित्व आदर्श तथा प्रतीकात्मक रूप ग्रहण करने लगते हैं। उन देवों का मानवीय रूप विशेष उभर कर आता है। प्रथम स्थिति की सूचना देने वाले कुछ ही तत्व रह जाते हैं। 'सीता' की पृथ्वी-गर्भ से उत्पत्ति, हनुमान जी के वायु से सम्बन्ध को दिखाने वाली पूँछ + की कल्पना आदि इसी प्रकार के तत्व हैं। दूसरी स्थिति में नवीन तत्व जीवन के नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों के रूप में मिलते हैं। प्राकृतिक-गाथा में जीवन के मूल्यों की स्थापना करने से वह धर्म गाथा बनने लगती है। इस प्रकार की मूल्य-स्थापना, राम कथा में, वाल्मीकि-युग में हुई। 'राम', सीता आदि आदर्श अनुकरणीय व्यक्तित्व चित्रित किए गये। अनेक

+ बैल को बलि में पूँछ के वायु के बट आती है। [यजु० अनुवाद Griffith. p 266-67]

जीवन-मूल्य, आचार-सिद्धान्त तथा मर्यादाएँ उस प्राकृतिक गाथा की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित होने लगे। तीसरी स्थिति बौद्धिक स्थिति है। इसमें मानव की आलोचना प्रवृत्ति बौद्धिकता के प्रकाश में प्रबल हो उठती है। इस स्थिति में उन सत्य-मूल्यों तथा आदर्शों को गाथाओं से अलग कर दिया जाता है तथा उन मूल्यों पर स्वतन्त्र विचार-विवेचन आरम्भ होता है। स्पष्टतः काव्य का घनिष्ट सम्बन्ध विकास की दूसरी स्थिति से है।

प्राचीन युग से चली आने वाली गाथाओं में सत्य, मूल्य, आदर्श की स्थापना से जो काव्य-रूप खड़ा होगा, वह निश्चय ही महाकाव्य का रूप है।

महाकाव्य : विकास

यही कारण है कि प्राचीन देशों की संस्कृतियों के विकास की दूसरी स्थिति में महाकाव्यों का सृजन हुआ। ग्रीस में इलियद्, ओडीसी बनते हैं : भारत में 'रामायण' का रूप खड़ा होता है। इन्हीं महाकाव्यों का विकास आगे के युगों में होता है। इस विकासोन्मुख महाकाव्य में स्पष्टतः दो तत्व हो जाते हैं : एक गाथा भाग और दूसरा आदर्श-भाग। लोक की मनोभूमि कल्पनाशील अधिक होती है। अतः इस मनोभूमि का लगाव गाथा-भाग से इसलिए रहता है कि गाथा उसकी कल्पना की भूख को तृप्त करती है। आदर्शों की आत्मा इस गाथा के ढाँचे में रहती अवश्य है किन्तु लोक मानस में उसकी ललक देर से उत्पन्न होती है। अतः आरम्भिक महाकवियों को उस गाथा को लोक-मनोभूमि के अनुकूल बना कर प्रथम उसे अमर करना होता है। राम की धर्म-गाथा को अमर करने का श्रेय आदि कवि वाल्मीकि को है। उनकी घोषणा यह है :—

> यावत् स्थास्यन्ति गिरयः,
> सरिताश्च महीतले।
> तावत् रामायणकथा,
> लोकेषु प्रचरिष्यति।

इस कथा को अमर करने में अनेक मूल्यों की स्थापना का भी निश्चय हाथ है। किन्तु कथा अथवा गाथा-भाग की ओर विशेष दृष्टि है। लोक मानस

की कल्पना के अनुकूल इस गाथा को बना कर वाल्मीकि जी इसे अमर कर गए।

आगे के युगों में उस गाथा को सजाने-सँवारने के उद्योग दूसरे प्रकार के हुए। गाथा के गठन, उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार तथा उसके रूप शृङ्गार की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। एक ओर महाकाव्य की योजना को शास्त्रीय रूप दिया जाने लगा। दूसरी ओर उनके प्रभाव को व्यापक और, स्थायी बनाने के लिए छन्द तथा अलङ्कारों का विधान आरम्भ हुआ। किन्तु यह उद्योग लोक-मनोभूमि के अधिक समीप नहीं था। भाषा लोक के स्तर से ऊँची उठने लगी। गाथा का तत्व, जिससे लोक कल्पना तृप्त होती थी, गौण होने लगा। काव्य सौन्दर्य तथा नियोजन प्रधानता पाने लगा। इस विकास की स्थिति के द्योतक कालिदास, भवभूति आदि हैं। एक बात स्मरण रखनी है कि इस स्थिति में राम-चरित्र के आचार-धर्म मूलक मूल्यों की प्रधानता भी उतनी नहीं हुई। केवल रूप-योजना प्रधान हुई। इस प्रकार राम कथा जो लोक की निधि थी धीरे धीरे उससे छिनने लगी। इस पर लोक को कितना क्षोभ और सताप हुआ, यह आज सोचने की बात नहीं। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध लोक में प्रतिक्रिया आवश्यक थी।

लोक की अकुलाहट अनेक कवियों के रूप में व्यक्त हुई। इस प्रतिक्रिया के कितने ही द्योतक चिह्न अतीत के गर्भ में लुप्त हो चुके हैं। राहुल जी ने इस प्रकार के एक द्योतक चिह्न का उद्धार किया है। स्वयभू का उद्धार हुआ। उसका परिचय उसी के शब्दों में लीजिए :—

वायरणु कयाइ ण जाणियउ, नहिं वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ।
णा णिसुणिउ पच महाय कव्वु, णउ भरहु ण लक्खणु छंदुसव्वु।
णउ वुज्झिउ पिंगल-पच्छारु, णउ भामह दडिय, लंकारु।
वे वे साय तो, 'वि णउ परिहरमि, वरि रयडावुत्तु कव्वु करमि।
सामाण भास छुड मा विहडउ, छुडु आगम-जुत्ति किंपि घडउ।
छुडु होंति सुहासिय-वयणाइँ, गामेल भास परिहरणाइँ।
एँहु सज्जण लोयहु किउ विणउ, जं अबुहु पदरिसिउ अप्पणउ ×

× यह स्वयभू के परिचय का मूल रूप है। पृ० ११ लीटर०

इस परिचय से स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्वयंभू लोक क्रान्ति का अग्रदूत इस दिशा में था। वैसे स्वयंभू की प्रतिभा महान् थी। उसका ज्ञान और अनुभव गर्व की वस्तु है। पर इस प्रतिभा का बीज लोक-मानस में पनपा। उसका सारा ज्ञान लोक-शैली में व्यक्त हुआ। उसका 'भापा' में काव्य करने का संकल्प उसकी प्रतिभा के लोकाभिमुख रूप को स्पष्ट करता है। फिर भी स्वयंभू गाथा को अधिक आकर्षक बनाने में उद्योग शील था। उस आकर्षण में लोक तत्वों की प्रमुखता थी। शैली को सँवारने की शास्त्रीय परम्परा की प्रतिक्रिया के होते हुए भी उसके 'पउमचरिय' की यह रूपरेखा बनी :—

अक्खर-बास जलोघ मनोहर, सु-अलंकार छंद-मत्स्योधर।
दीर्घसमास प्रवाहहिं बंकित, संस्कृत प्राकृत-पुलिनालंकृत॥
देशीभापा दोउ तट उज्ज्वल, कवि दुष्कर घन शब्द-शिलातल।
अर्थ-बहुल कल्लोलहिं सज्जित। आशा-शत सम ओघ समर्पित।
राम-कथा सरि एहु सोहन्ती। +

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयंभू ने राम-कथा के नियोजन को लोक-सम्मत बनाया। फिर भी शास्त्रीयता का प्रलोभन कुछ लगा ही रहा। इस लोक क्रान्ति का आगे विकास हुआ।

+ हिन्दी काव्यधारा: पृ० २७ पर से स्वयंभू के मूल का अनुवाद दिया गया है। राहुल सांकृत्यायन द्वारा इस प्रकार दिया गया है :—

व्याकरण किछु ना जानियऊ, ना वृत्ति-सूत्र वकखानियऊ।
ना सुनेउं पाँच महान काव्य, ना भरत न लक्षण छन्द सर्वं।
ना बूझेउँ पिंगल प्रस्तारा, ना भामह-दंडि अलंकारा।
व्यवसाय तऊ ना परिहरऊँ, वरु रयड़ा कहेउँ काव्य करऊँ।
सामान्य भाप यदि ना गढ़ऊँ, यदि आगम युक्ति किछु गढ़ऊँ।
यदि होइँ सुभाषित वचनाई, ग्रामीण-भाप परिहरिणाई।
एँहु सज्जन-लोगहुँ का विनऊ, जो अबुधि प्रदर्शेउ आपनऊ।
[हिन्दी काव्यधारा, पृ० २४-२५]

तुलसी तक आते-आते इस लोक क्रान्ति का स्वरूप विशद हो गया। इस क्रान्ति ने जहाँ शास्त्रीय संस्कृत भाषा के प्रासाद को डगमगा कर 'भाषा' की स्थापना की, शास्त्रीय काव्य-नियोजन के स्थान पर लोक सम्मत काव्य नियोजन की प्रतिष्ठा की, वहाँ आभिजात्य वर्ग का शास्त्रीय दर्शन तथा वेदांत लौकिक धरातल पर उतारा गया। रामानन्द लोक-दर्शन तथा धर्म के अग्रदूत के रूप में हिन्दी के क्षेत्र में सचेष्ट हुए। इस क्रान्ति से निश्चय ही आभिजात्य वर्ग तिलमिला उठा होगा। इसके साथ ही धर्म-गाथा-विकास की भी आगे की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। केवल गाथा के सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति के चमत्कार पर ही ध्यान नहीं रहा। गाथा के आत्मा-स्थान में विराजमान आदर्श तथा मूल्य मुखरित होकर अपनी स्थिति की सूचना देने लगे। लोक-दार्शनिकों ने उन आदर्श तथा मूल्यों को नव जन्म दिया। नवीन स्फूर्ति, नव जागरण तथा नया संदेश लेकर वे मूल्य देश के इस-नव प्रभात में चहक उठे। इस समस्त क्रान्ति और उद्वलन के सागर से युग के सार-भूत रूप में तुलसी को उदय होते जनता ने देखा। जनता ने, उसके अभिनन्दन में अपना रुद्ध हृदय खोल दिया : इस महाकवि, लोक-नायक के स्वागत में उसने श्रद्धा के फूल बिखेरे। स्वयंभू की 'राम-कथा-सरि एहु सोहंती' अब 'मानस' बन गई : लोक का 'मानस' रामचरित 'मानस' से एकाकार हो गया।

'तुलसी' का जन्म लोक की क्रान्ति से हुआ। जिस लोक ने तुलसी को जन्म दिया था, उसके एक एक अणु से तुलसी का घनिष्ट सम्बन्ध था। बुद्धि-जीवी वर्ग की आभिजात्य कृतियों तथा दर्शन ने भोली-साधारण जनता का शोषण, एक प्रकार से, किया था। उस शोषण के फल-स्वरूप साधारण वर्ग पीछे छूटता जा रहा था। तुलसी ने उस साधारण, भूली, भोली जनता का सहानुभूति से हाथ पकड़ा : उसे अपने साथ ले चले। उन्हें ज्ञात था कि राम कथा की परम्परा विशिष्ट ज्ञानी वर्ग में अटक गई थी। वहाँ 'श्रोता बकता ज्ञाननिधि' थे। किन्तु 'कलिमल ग्रसित विमूढ़' जनता उस ऊँचाई से राम कथा को नहीं समझ पाती थी : कथा को चाहे समझले किन्तु उन मूल्यों से अवगत नहीं हो पाती थी। साधारण जनता को तुलसी ने उस कथा का कुछ प्रसाद देने का संकल्प किया उससे कहा :—

जे एहि कथहिं सनेह समेता, कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता।
होइहहिं रामचरन अनुरागी, कलिमल रहित सुमंगल भागी॥

इसमें 'स्नेह-सहित' सुनने की बात कही। किन्तु जनता में ऐसा भी वर्ग था जिसे न राम में स्नेह था, न कविता मे प्रेम था। उनके लिए भी यह 'राम चरित-मानस' द्वार बन्द नहीं करता :—

कवित रसिक न राम-पद नेहू।
तिन कहँ सुखद हास रसएहू॥

धर्म-गाथा के विकास की उस स्थिति के लोग भी समाज में थे जो गाथा में सन्निहित आदर्श तथा प्रतीक को ही महत्व देते थे। उनके लिए :—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा।
अति पावन पुरान श्रुति सारा॥

यह इसलिए कि काव्य के शास्त्रीय आलोचक चाहे शैली-गत शास्त्रीय सौन्दर्य न पा सकें, उन्हें इसकी आत्मा का प्रोद्भासित रूप अवश्य ही आकर्षित करेगा। इस प्रकार तुलसी ने राम-चरित मानस को सर्वजनीन कृति बनाया। इसमें वर्ग-भेद लुप्त हो गया। पिछड़ी जनता को आश्वासन मिला। किसी से विरोध न रखते हुए, सबके प्रति सहानुभूति रखते हुए समन्वय मार्ग पर चलते हुए तुलसी, उदारमना लोक नायक बन गए।

इतनी सांस्कृतिक भूमिका के साथ 'रामचरित मानस' का जन्म होता है। लोक के धरातल पर 'राम चरित मानस' को महाकाव्य बनाना है। शास्त्रीय महाकाव्य की प्रवृत्ति के अवशिष्ट चिह्न महाकवि केशव भी एक ओर बैठे शास्त्रीय रूप-रेखा तथा आभिजात्य वर्ग की भाषा के चकनाचूर होने पर पश्चाताप करते हुए कह रहे हैं—

'भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
ते भाषा कविता करी, जड़ मति केशवदास।

महाकवि केशव फिर भी शास्त्रीय ढर्रे पर 'रामचन्द्रिका' का प्रकाश फैला रहे हैं। 'रामचन्द्रिका' में रामकथा के साथ जितने जीवन के मूल्य जुड़े थे, वे

घुटन अनुभव कर रहे हैं। काव्य की आधार-भूत कथा पंगु भी हो गई है। केवल विविध छन्द तथा अलंकारों में रामकथा के स्वाभाविक विकास को जकड़ देने का प्रयत्न है। तुलसी जिस लोक-संदेश तथा क्रान्ति को लेकर चले थे, उसके लिए तो आवश्यकता इस बात की थी कि वे अपने महाकाव्य को लोक के साँचे में ढालें। जायसी की शैली कुछ-कुछ लोक शैली थी। पर उसका विधान मसनवी ढँग पर था। अत. तुलसी का वह भी आदर्श नहीं बन सकता था। तुलसी ने रामचरित मानस का विधान लोक-सम्मत बनाया।

तो, 'राम चरित-मानस' एक लोक महाकाव्य है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि इसकी कथा का नियोजन कुछ इस प्रकार का है कि वह लोक की वस्तु बन गया है। महाकाव्य के सम्बन्ध में जितनी भी मान्यताएँ हैं, शास्त्रों ने उसके विधान में जितने तत्व आवश्यक बताए हैं, उन सब का निर्वाह कुछ इस ढंग पर है कि, लोक अनुभव करे कि 'रामचरित मानस' में उसकी उन्मुक्त कल्पना, उसके हृदय की सरलता, तथा स्वाभाविकता ही मूर्तिमान हुई है। इस प्रभाव के उत्पन्न करने में रामचरित मानस के कथा नियोजन, काव्य विधान और जीवन के सूत्रों को सहज सजाने की प्रवृत्ति का हाथ है।

मानस : एक लोक महाकाव्य

आदिम मनुष्य सत्य और कल्पना में अन्तर नहीं कर पाता था। अतः किसी भी काल्पनिक धर्म गाथा में उसका पूर्ण विश्वास उसी प्रकार का होता था, जैसा किसी सत्य घटना म आगे विकास हुआ। पर सभी वर्गों का समान रूप से विकास नहीं हुआ। जो बुद्धिजीवी वर्ग था वह कल्पना कहानी में सत्य की भाँति विश्वास नहीं कर सकता है। सत्य और कल्पना में अन्तर करना उसे खूब आ गया। किन्तु दूसरा वर्ग कुछ पीछे भी रह गया। उसे वर्तमान कहानी चाहे कल्पना प्रसूत लगे और वह समझ ले कि यह सत्य नहीं, कहानी है, पर प्राचीन युग से चली आने वाली धर्म अथवा पुराण गाथा में वह कल्पना और सत्य का अन्तर नहीं कर पाता। अत जो प्राचीन कल्पना-गाथाएँ काव्य के क्षेत्र मे बची रह गईं, उनमें आए हुए परा-प्राकृतिक दृश्य, अति मानवीय चमत्कार अथवा अविश्वनीय घटनाएँ, इस वर्ग को सत्य ही प्रतीत होते

है। बुद्धिजीवी वर्ग इन कथाओं के ढेर में से सत्य को चुनता है। किन्तु कुछ अविकसित मस्तिष्क कुछ संस्कारों के कारण, जिनमें धार्मिकता का भी प्रधान हाथ है, परम्परागत कथाओं को सत्य ही समझता है। अतः जन साधारण के लिए लिखे जाने वाले महाकाव्य की परम्परा इसलिए दिखाना आवश्यक होता है कि उस कथा में लोक का विश्वास दृढ़ हो जाय। तुलसी ने भी इसी लोक मनोवृत्ति को तुष्ट करने के लिए 'रामकथा' की परम्परा संक्षेप में बताई—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा, बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा, राम भगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा, तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।

× × × ×

औरो जे हरि भगत सुजाना, कहहिं सुनहिं समुझहिं विधि नाना।
मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत,
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउ अचेत।

इस परम्परा को दिखाकर 'भाषा बद्ध करबि मैं सोई' से उस परम्परा में अपना स्थान निर्धारित करते हैं। इस प्रकार लोक के परम्परा प्रेम की प्रवृत्ति को तुलसी तुष्ट करते हैं।

एक बात यहाँ विशेष ध्यान देने की यह है कि यह परम्परा कहने सुनने की परम्परा है। जिन कवियों ने इस कथा को कविता में कहा उनका इस परम्परा में उल्लेख नहीं है। लोक कहानियाँ कही सुनी ही जाती हैं। अनेक लोक कवि लोक कहानियों को पद्य बद्ध भी कर लेते हैं। पर वह पद्य बद्ध रूप लिखा नहीं जाता। उसकी मौखिक परम्परा ही चलती है। इस प्रकार का एक महाकाव्य उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा मध्यदेश में 'ढोला' नाम से प्रचलित है।

"ढोला अभी तक नहीं लिखा गया, वह ग्रामीणों के कण्ठों पर ही विराज रहा है'+ किन्तु रामचरित मानस की मौखिक परम्परा ग्रामीणों की नहीं,

---

+ डॉ० सत्येन्द्र, 'ढोला . एक लोक महाकाव्य' :
हंस, नवम्बर १९४६

भक्त और ज्ञानियों की निरूपिता है। ऐसी परम्परा में संवादों के रूप में ही राम कथा चलती है। अतः रामायण में भी चार संवादों की योजना है—

सुठि सुन्दर संवाद वर विरचेउ बुद्धि विचारि,
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि।

ये चार संवाद याज्ञवल्क्य भरद्वाज, शिव-पार्वती, भुसुंडी-गरुड़ तथा तुलसी-जनता संवाद हैं।

इन चार संवादों में शिव पार्वती, तथा भुसुंडी-गरुड़ संवाद लोक-मनोभूमि के अधिक निकट हैं। अधिकांश लोक-कथाओं की भूमिका में शिव-पार्वती विराजमान हैं। 'गौरा-पारवती' सम्बन्धी अनेक कहानियाँ प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हैं। कहीं वे उँगली चीर कर किसी मृतक को जीवित करते हैं, कहीं किसी का दुख निवारण करते हैं। 'शिव-पार्वती' लोक-देवता किस प्रकार बन गए, इसको पहले देखा जा चुका है। अनेक विद्वान् शिव पार्वती की कल्पना तथा पूजा को द्रविड़-मूलक मानते हैं। इनके संवादों के फलस्वरूप अनेक कथाएँ लिखी गईं। 'राम-कथा' का शिव-पार्वती से घनिष्ठ सम्बन्ध आर्य-प्रवृत्ति तथा उनके उत्कर्ष का द्योतक है। जब 'राम' दक्षिण के अनार्य प्रदेशों की विजय यात्रा करते हैं तब शिवजी की पूजा करना विशेष महत्व की बात है। हाँ, तो शिव तथा पार्वती की प्रतिष्ठा लोक-कथाओं में है। गुणाढ्य के बृहत्कथा कोष की भूमिका इस प्रकार है: पार्वती जी ने एक दिन शिवजी से एक नवीन कथा कहने को कहा। उन्होंने बृहत्कथा कोष का मूल रूप सुनाया। पुष्पदन्त नामक गण ने यह कथा सुनी और अपनी पत्नी जया से वह कथा कही। जया ने वह कथा पार्वती से दुहराई। पार्वती जी ने पुष्पदन्त को शाप दिया कि वह अपने पद से गिर जाय और जब तक उसका उद्धार न हो जब तक कि वह उसी कथा को 'कणभूति' नामक यक्ष से न कहदे। इस प्रकार भूमिका चलती है। यक्ष भी शाप से पीड़ित था। पुष्पदन्त का एक साथी माल्यवान बीच में बोला। उसे भी शाप मिला। वह स्वर्ग छोड़ दे और तब तक उसका उद्धार न हो जब तक कि वह कणभूति से कथा न सुनले। पुष्पदन्त वररुचि कात्यायन होकर कौशाम्बी

में अवतरित हुआ। अन्त में विंध्या जाकर कणभूति से विद्याधरों के सात राजाओं की कथा कही। मुक्त हुआ। माल्यवंत गुणाढ्य के रूप में अवतरित हुआ। उसने विंध्या में जाकर कणभूति से वररुचि द्वारा कही हुई कथा सुनी।

रामचरित मानस में शिव-पार्वती रहते हैं। शिवजी पार्वतीजी से कथा भी कहते हैं। इस कथा की परम्परा गुणाढ्य की भाँति शाप के आधार पर नहीं चलती। पहले सती से कथा कही गयी। उसे शंका हुई। इस शंका के फल स्वरूप सती का दाह होता है। फिर वह पार्वती रूप में अवतरित होती है। फिर वह शिवजी से राम-कथा सुनकर सन्तोष पाती है। यहाँ तक की परम्परा में बृहत्कथा की परम्परा का कुछ आभास मिलता है। किन्तु आगे की परम्परा का आरम्भ इस प्रकार होता है—

सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा, राम भगत अधिकारी चीन्हा।

भुसुंडि के प्रसंग में आकर शाप-वाली कथा-परम्परा कुछ स्पष्ट होती है। भुसुंडि शाप वश अनेक जन्म ग्रहण करता है। जन्म-जन्म में राम-कथा का श्रवण-गायन उसका कार्य है। एक बार भुसुंडि लोमश ऋषि के आश्रम में पहुँचते हैं। वहाँ सगुण-निर्गुण के प्रश्न पर विवाद होता है। भुसुंडि शापित होते हैं। वे कौआ हो जाते हैं पीछे लोमश ऋषि अपनी भूल का अनुभव करते हैं।

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा,
रामचरित मानस तब भाषा।

तब वे भुसुंडि को राम-कथा सुनाते हैं—

रामचरित सर गुप्त सुहावा।

किन्तु साथ ही इस गाथा को 'गुप्त' बताया जाता है—

रामचरित सर गुप्त सुहावा॥

इस गुप्त कथा का तत्त्व गुणाढ्य के पुष्पदन्त के कथा सुनाने मात्र से शमित हो जाने से मिलता है। अतः ज्ञात होता है कि शिव तथा पार्वती में गुप्त कथा हुई थी जिसको पुष्पदन्त ने सुना; उसने वह कथा अपनी पत्नी जया से कहदी। इस पर वह अभिशप्त हुआ। किन्तु रामचरित मानस के भुसुंडि-प्रसंग में इस 'गुप्त-कथा' को एक दूसरा ही रूप दिया गया है। कथा गुप्त है

अवश्य, किन्तु इसे अधिकारियों को सुनाया जा सकता है। जो भक्ति के मार्ग पर चलते हों तथा भक्ति में विश्वास रखते हों, वे ही इस कथा के सुनने के अधिकारी हैं—

> राम भगति जिन्ह के उर नाहीं,
> कबहुँ तात कहिए तिन्ह पाहीं।

इस प्रकार लोक कथाओं की भूमिका में शिव पार्वती प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 'गुप्त-कथा' कही सुनी। उसको कोई व्यक्ति सुन लेता है। वह दूसरे से उसको कहता है। इस पर शाप लगता है। यह लोक कहानी योजना के विकास की प्रथम स्थिति की द्योतक घटना है। विकास की दूसरी स्थिति रामचरित मानस में है। शिव पार्वती से गुप्त कथा कहते हैं। उसको लोमश ऋषि प्राप्त करते हैं। किन्तु इस कथा को सुनने के अधिकारी राम भक्त ही हैं। अतः लोमश ऋषि परीक्षा करके जब गरुड़ की भक्ति का परिचय प्राप्त कर लेते हैं, तभी वे इस कथा को गरुड़ को सुनाते हैं—

> तोहि निज भगत राम कर जानी,
> ताते मैं सब कहेउ बखानी।

और इसी कथा को गरुण जी भी सुनने के इसलिए अधिकारी हैं कि वे राम भक्त हैं। इस कथा को भुसुण्डि अपने आश्रम में पक्षियों से कहते रहते हैं—

> करौं सदा रघुपति गुन गाना,
> सादर सुनहिं विहग सुजाना।

इस प्रकार रामचरितमानस की कथा की भूमिका की शैली लोक गाथाओं की शैली ही है। पक्षियों का कहानी सुनना तथा सुनाना आदि भी समस्त देशों की कहानियों में विद्यमान है। इस प्रकार का वातावरण प्रारम्भिक विकास की सूचना देता है। वहाँ पक्षी बोल सकते हैं। यह प्रकृति के विविध उपकरणों का मानवीकरण है। आज भी पक्षी बोलते हैं, वृक्ष बोलते हैं किन्तु उस बोली को बौद्धिकता से सम्पन्न जीवन का आलोचक नहीं समझ पाता। कवि बहुधा कल्पना जीवी होता है। वही अपनी कल्पना के आधार से पक्षियों की बोली

को सुनता-समझता है। इसलिए कवि के विषय में कहा गया है कि वह स्थूल रूप में इस विकसित संसार में रहता है। पर उसकी विचार-पद्धति अभी आदिम ही बनी हुई है। उसमें वही आदिम कल्पना शक्ति निवास करती है। + आदिम मनुष्य की इस विचार पद्धति में प्रधानता ऐन्द्रिक-संवेदना और कल्पना की रहती थी। इसी प्रकार की पद्धति कवियों के विचारों की होती है। अतः उन्हें इस दृष्टि से आदि मानव कहा जा सकता है। × इस पद्धति को जो कवि जितना ही अक्षुण्ण रखेगा, जनसाधारण के साथ वह उतना ही घुल-मिल जायगा। क्योंकि जन साधारण का बौद्धिक विकास आभिजात्य वर्ग से कम होने के कारण उसकी मानसिक प्रक्रिया में कल्पना का प्राधान्य रहता है। यह प्रवृत्ति जिस काव्य-कथा से अधिक तुष्ट होती है, वह अधिक लोक-प्रिय हो जाती है। तुलसी ने लोक की इस प्रवृत्ति को अच्छी तरह से समझा था। इसलिए उन्होंने रामचरितमानस के कथा विधान को लोक मन के अनुकूल बनाया। यह विधान इसीलिए अन्य शास्त्र-सम्मत महाकाव्यों से कुछ विचित्र हो गया है।

[२]

आज के कवि का मस्तिष्क उन्हीं प्राचीन प्रकृति-गाथाओं को, रूपकों के आधार पर, गढ़ने वाले आदि मानव के मस्तिष्क का विकसित रूप है। उस मस्तिष्क में कल्पना का प्राधान्य था, तर्क का अभाव था, विश्लेषण की शक्ति कम थी, संश्लेषण ही उसकी बुद्धि की प्रक्रिया थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि उसके मन में प्रकृति तथा सृष्टि की अनेक शक्तियों के प्रति एक भय तथा प्रेम की मिश्रित भावना रहती थी। तर्क-बुद्धि ने कालांतर में इन सभी तत्वों को भूमिसात् करना आरम्भ किया। किन्तु लोक के अचेतन मस्तिष्क में वे तत्व अपना कुछ स्थान बनाए रहे। कवि के मस्तिष्क का विकास उसी आदिम

+ It is a 'higly developed mind working in a primitive way (G. E. Woodbury, Inspiration of Poetry p. 13.)

× Ribot, 'Creative Imagination', P. 118

मस्तिष्क से हुआ है। अन्तर इतना हो गया कि जीवन के कुछ गम्भीर प्रश्नों, आदर्शों तथा मूल्यों ने कुछ स्थान बना लिया। किन्तु सोचने की शैली में बौद्धिक आंधी में भी बचे हुए कुछ आदिम तत्व बने रहे। इन तत्वों की खोज आज के कवि-मानस में भी हो सकती है। और प्रधानतः तुलसी जैसे कवियों में तो ये तत्व विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं।

आदिम मस्तिष्क में जो भय और प्रेम की मिश्रित भावना थी। उसने कालांतर में कवि कृतियों के 'मंगलाचरण' में अभिव्यक्ति पाई। मंगलाचरण में अनेक देवों की वन्दना इसलिए की जाती है कि वे अनिष्टों से बचाएँ। उनके प्रति एक प्रेम उत्पन्न होता है। जिन देवताओं को मंगलाचरणों में स्थान मिला है उनमें प्रधान हैं, *गणेश, शिव, विष्णु, तथा शारदा।* विशिष्ट वर्गों ने इन्हीं देवताओं को मंगलाचरण में स्थान दिया है। इसके विपरीत लोक कवियों ने अनेक निम्नकोटि के देवी-देवताओं को भी स्थान दिया है। इसका कारण यह है कि लोक-मानस उच्च देवताओं के आध्यात्मिक रूप को समझने की क्षमता *विशेष नहीं रखता था। इन देवताओं में प्रधान हैं भैरव, भवानी,* दुर्गा, भुमियां आदि। तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में अन्य विशिष्ट वर्गीय कवियों से अधिक देवों की वन्दना इसीलिए की कि वे अपनी कृति को लोक-कृति का रूप देना चाहते थे। विशिष्ट वर्ग के देवताओं के सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि उनमें से शिव, गणेश आदि तो लोक के प्रत्येक अनुष्ठान में पूजे ही जाते हैं। उनकी वन्दना दोनों रूपों में है। किन्तु साधारण वर्ग के देवताओं की वन्दना के कुछ उदाहरण देते हैं :—

देव-दनुज नरनाग खग, प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदौं किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्ब॥

इस उदाहरण में नाग देवता, प्रेत, पितर, आदि जन साधारण के देवता हैं। इन देवताओं की विशेषता यह है कि यदि इनको अनुष्ठानों द्वारा स[ंतुष्ट] नहीं किया जाता है तो ये अनिष्ट करने लगते हैं। आजकल ग्रामों में पि[तर] प्रेत, भूत आदि अनेक देवता किसी के 'सिर' आ जाते हैं। उससे अनुष्ठान वचन लेकर विदा होते हैं। इस प्रकार के कृत्यों में तर्क-बुद्धि सम्भव विश्वास नहीं करता। किन्तु लोक महाकाव्य के रूप-निरूपण में ये सभी देवता

नसी को आवश्यक दीखे। इनकी वन्दना ने 'मानस' के मंगलाचरण में स्थान
या। किन्तु दनुज, रजनिचर आदि दूसरे वर्ग की शक्तियों की वन्दना क्यों
? स्पष्टतः इन शक्तियों में मूर्तिमान भय की कल्पना आदि मानव ने की।
ह आदि मानव के विकास की उस स्थिति की सूचना देते हैं जब विश्लेषण
या विभाजन की प्रक्रिया आरम्भ हुई। एक वर्ग सुख देने वाली शक्तियों का
ना : यह देव वर्ग था। दूसरा वर्ग इनके विरोधी रूप में परिकल्पित हुआ :
ह राक्षस वर्ग था। मनोवैज्ञानिक रूप में ये मन की सृजनात्मक तथा विनाशा-
त्मक प्रवृत्तियों का मानवीकरण था तथा इनका संघर्ष मानव के मानसिक संघर्ष
ा मूर्तिमान रूप। देव-वर्ग में कुछ आदर्शों की स्थापना की गई। यह विभाजन
ार्य बौद्धिक वर्ग में हुआ। किन्तु कवि के सोचने की शैली संश्लेषणात्मक ही
ी। उस कवि सृष्टि में इस विभाजन का ठहरना कठिन था। कला समग्रता
ी द्योतक इसीलिए कही गयी है : तुलसी ने राक्षस और रजनीचरों की वंदना
रके इस संघर्ष को मिटाने की चेष्टा की पर इससे संघर्ष क्या मिट गया?
केवल वन्दना करने से कलाकार की तुष्टि नहीं हुई। किस कड़ी से इन विना-
ात्मक तथा सृजनात्मक शक्तियों को जोड़ कर एक किया जाय : यह समस्या
ही। इस कड़ी के न होने से सुन्दर-असुन्दर का सामजस्य कैसे होगा? और
यदि सुन्दर-असुन्दर का भव्य सामंजस्य ही कला न करा सकी तो वह कला ही
क्या! सौन्दर्यबोध ही प्रत्येक कवि का मूल है। यही शस्त्र है जिससे वह असु-
न्दर और कुरूप को हरा सकता है। यही सौन्दर्य-बोध तुलसी में भक्ति बन
गया है। अतः तुलसी भक्ति के माध्यम से इस कड़ी का यह रूप निर्धारित
करते हैं :—

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
वंदौं सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥

राम सौन्दर्य के प्रतीक हैं। इस सौन्दर्य ने भक्ति का रूप ग्रहण किया।
इसी के माध्यम से समस्त संसार के विषमान्वयों को जोड़ा जा सकता है। इस
प्रकार आदि मस्तिष्क की संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के विकास का परिष्कृत रूप
तुलसी में मिलता है। भक्ति वह 'मूल्य' है जिसका निर्माण उच्चवर्ग में नहीं,

साधारण वर्ग में हुआ या उसके लिए हुआ। यह रूपता-कुरूपता को जोड़ने वाली एक कड़ी बन गई।

देव-राक्षसों के बीच ही यह समन्वय स्थापित नहीं कराया गया, असज्जन और सज्जन के बीच भी एक कड़ी तुलसी ने मंगलाचरण में जोड़ी। खलों की वन्दना की :—

> बहुरि वंदि खलगन सति भाये।
> जे बिनुकाज दाहिने बाँए॥

इसके साथ ही कहा, 'बंदौं प्रथम असज्जन' चरना। यहीं से तुलसीदास जी की विचारधारा के सामाजिक धरातल पर बहने की सूचना मिलती है। जिस संश्लिष्ट विचार पद्धति के परिष्कृत-विकसित रूप ने देव और राक्षसों में समन्वय कराया वह अब समाजोन्मुखी हो गया। कला का सामाजिक कार्य है, समाज के 'मूल्यों' को प्रत्येक घटक तक प्रेषित करना। इस प्रेषणीयता की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अनेक विरोधी-वर्गों को एक धरातल पर लाया जाय तब उनके विरोध से ऊपर उठ कर, सर्वसाधारण संदेश दिया जाय। इन विरोधी तत्वों को मिलाने वाला एक सिद्धान्त है। प्रत्येक मनुष्य में तथा पदार्थ में एक पवित्रता की रेखा अवश्य है। उस पर कलुष जम गया है। इसके साथ ही मनुष्य, यदि देवता नहीं हो गया है तो उसमें कुछ दोष भी हैं। इस सिद्धांत के धरातल पर सभी एक हैं :—

> 'जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।'

किन्तु फिर भी कुछ को निन्दा मिलती है, कुछ को प्रशंसा इसका क्या रहस्य है? यह एक संयोग की बात है :—

> 'ग्रह भेषज जल-पवन-पट पाइ कुजोग सुजोग।
> होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलक्खन लोग॥
> सम प्रकास तम पाख दुहु, नाम भेद विधि कीन्ह।
> ससि सोषक पोषक समुझि, जगजस अपजस दीन्ह॥

इस प्रकार उस आदिम संश्लिष्ट विचार प्रणाली में सामाजिक आवश्यकता मिल कर, यह रूप खड़ा हुआ। तुलसी के मंगलाचरण में इसी संश्लेषणात्मक

वृत्ति के विकास के अविकल दर्शन होते हैं। भुसंढि प्रसंग में 'राम-भगत' के सम्मुख हो 'गुपत-कथा' प्रकट करने का आदेश है। पर तुलसी ने समस्त समाज को उसके लिए उपयुक्त समझा। 'मंगलाचरण' में तुलसी की जो मनोभूमि प्रकट हो रही है, वह भक्ति की साधना से 'समन्वय' प्राप्त करने की इच्छा से नद्धित है। यही यथार्थ लोक-मनोभूमि है। बौद्धिक वर्ग की मनोभूमि इस मनोभूमि से कम उदार और कम लचीली है। अतः जो सिद्धान्त उस वर्ग में बन जाते हैं, उनमें बहुत कम विकास होता है। वे सिद्धान्त जब लोक-मनोभूमि में उतर आते हैं, तब वे विकास की उपयुक्त स्थिति में हो जाते हैं। यही लोक मनोभूमि तुलसी की है।

देवों के ठोस-व्यक्तित्व का प्रभाव भय के रूप में दीखता है। कल्पना ने संश्लेषण की भूमि पर, समानता के आधार से अनेक तत्वों को मिलाकर एक कर दिया। पशु और मानव को कई स्थानों पर मिला कर एक कर दिया गया। यही 'गणेश' की रूप-कल्पना का आधार है। तुलसी भी उसी आदि स्थिति की कल्पना को 'मंगलाचरण' में स्थान देते हैं :—

> जिहि सुमिरत सिधि होइ गणनायक करिवर बदन।
> वंदौं अवधपुरी अति पावनि।
> सरजू सरि कलि कलुप नसावनि॥

अवधपुरी और सरजू को देवत्व इसलिए प्राप्त हो गया है कि उनका संसर्ग राम से होगया था। इसमें 'टोना' की प्रवृत्ति स्पष्ट है। यहाँ तक का विकास स्थूल रहा।

आगे सूक्ष्मता आती है। जहाँ कल्पना के आधार पर उस मस्तिष्क ने स्थूल उपकरणों का मानवीकरण किया, वहाँ अब वह अपने मानसिक भावों को भी मानवीय रूप देने लगा। भय, प्रेम, क्रोध आदि, सबका स्थूल रूप खड़ा हुआ। इस सबसे ज्ञात होता है, कि उस आदि अवस्था में मानव कितना कल्पना शील था। प्रेम 'कामदेव' बन गया। उसका स्वरूप भय हो गया। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त × में तथा शतपथ ब्राह्मण में सृष्टि के सृजन के मूल

× (X, 129, V, 4)

तीन कारणों में से इच्छा शक्ति को एक माना है। म्योर ने सर्वप्रथम यह निर्देश किया कि इस इच्छा शक्ति को सबसे पहले स्थूल व्यक्तित्व-युक्त अथर्ववेद में किया गया।+ इस प्रकार जो मन का एक विकार था, उसको स्थूल-व्यक्तित्व मिला। कल्पना यहीं नहीं ठहर गई। उसके कुटुम्ब की, उसके अस्त्र शस्त्रों को, उसके सौन्दर्य की कल्पना की गई। यह रूप बौद्ध साहित्य में अधिक उभरा। वह हाथी पर चढ़ता है, जिसका नाम 'गिरिमेखला' है, उसके साथ उसकी पुत्रियाँ और पत्नियाँ रहती हैं : उनमें से तीन हैं तृष्णा, अरति और रति (ललित विस्तार) 'बुद्ध चरित' में उनका नाम तृष्णा, प्रीति और रति दिया गया है। उसने 'बोधिसत्व' को अपने 'वज्रासन' से विचलित करना चाहा, पर वह असफल रहा। उसने अपना चक्र उनके ऊपर फेंका, किन्तु वह फूलों का हार बन गया।= इस प्रकार केवल मानसिक भावों को लेकर कामदेव की गाथा तथा कुटुम्ब बने। पौराणिक साहित्य में बुद्ध के स्थान पर शिवजी हैं। इसी कामदहन प्रसग को तुलसीदास जी ने अपनाया। उसमें विकास की समस्त स्थितियों का बोध होता है : पहला मनोभावना का स्थूल रूप बना।—

अस कहि चलेउ सबहि सिरनाई।
सुमन धनुप कर सहित सुहाई॥

साकार कामदेव में विश्वास उस कल्पना के युग में तो रह सकता था। अब बौद्धिक विकास में फिर उसे अनंग होना था। भगवान बुद्ध के साहित्य में वह अनंग नहीं हो पाया था। आगे की स्थिति में उसका अनंग होना भी एक सुन्दर कल्पना के द्वारा दिखाया गया। बौद्धिक वर्ग इस कार्य को सीधे सीधे करता, किन्तु कवि कल्पना ने उसका जो रूप खड़ा किया, उसका आभास इन पंक्तियों से मिलता है :—

+ IX, 3.

= विशेष विवरण के लिए : Kern, Mannual of Indian Buddhism, P. 20.

भयउ ईस मन छोभ बिसेखी, नयन उघारि सकल दिसि देखी।
सौरभ पल्लव मदन बिलोका, भयउ कोप कंपेउ त्रयलोका॥
तब सिव तीसर नयन उघारा, चितवत काम भयउ जरिछारा॥

इस प्रकार काम दहन हुआ। रति को संतोष इस प्रकार दिया गया :—

अबतें रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनंग।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन प्रसंग॥

कामदेव का नाम 'अनंग' हो गया। यह कार्य वस्तुतः तर्क-बुद्धि का ही है। किन्तु कवि में तर्क-बुद्धि, कल्पना से परिवेष्टित होकर ही कार्य करती है। अतः शिवजी के तीसरे नेत्र से उसके जलने की बात कही गई (शिवजी के तीसरे नेत्र की कल्पना भी उस लोक-प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखती है जिससे ब्रह्मा के चार मुँह और रावण की बीस भुजाओं की कल्पना का सम्बन्ध है। इस तीसरे नयन की कल्पना योरुप के देशों के लोक-साहित्य में भी मिलती है। आयरलैंड में बेलर (Balor) नामक एक देव के विषय में कल्पना है कि वह एक तीसरा विनाशात्मक नेत्र रखता है। जो उस नेत्र के सम्मुख आ जाता है वह मुरझा जाता है। +) इस विवेचन से यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि "रामचरितमानस" के माध्यम से विकास की अनेक स्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि कवि के सोचने की पद्धति उस आदि कल्पनाशील मस्तिष्क का ही विकसित रूप है। अत. पुरानी स्थितियों के कुछ चिह्न मिल जाना दुष्कर बात नहीं।

भावनाओं का मानवीकरण इस प्रकार सम्पन्न होता था। आगे के विकास में कार्यों के कारणों को मानवीकृत किया गया। काव्य एक कार्य है। इसके कारण मानसिक जगत की कुछ प्रेरणाएँ हैं जिनको बाह्य वातावरण ने उभारा है। उन प्रेरक शक्तियों को मानवीकृत किया गया। उसी को 'शारदा' नाम दिया गया। समस्त संसार में इस प्रकार की काव्य-देवियों की कल्पना है। भारतीय शारदा है; अँगरेजी की मौजेज़ा है। उस शारदा की वन्दना 'तुलसी' ने मंगलाचरण में की है :—

+ 'Celtic Myth and Legend' p. 49.

'पुनि बन्दौं सारद सुर-सरिता।'

इस प्रकार 'रामचरित मानस' की भूमिका में जैसे अनेक लोक तत्व दृष्टिगत होते हैं, वैसे ही उसके 'मंगलाचरण' तथा वन्दना में वे तत्व दिखाई दे जाते हैं जो वस्तुतः 'लोकतत्व' हैं। लोक तत्वों की अनेक विकास-स्थितियों का भी ज्ञान इससे होता है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि कवि-कल्पना में लोक तत्व मिलकर कितने सबल और प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। वस्तुतः लोक-कल्पना जनित तत्वों को जब बौद्धिक तूफानों के थपेड़े लगते हैं तब वे पलायन करके 'कवि' की कृतियों में स्थान पाते हैं। वहाँ कवि उनमें नये 'मूल्यों' की स्थापना करके उनको अमर कर लेता है। तुलसी ने ऐसे कितने ही तत्वों को नया मूल्य देकर अमर बनाया है। इन्हीं लोक तत्वों और लोक-शैली में रामचरित मानस की लोक-प्रियता के तत्व छिपे हैं। 'मंगलाचरण' करना जहाँ शास्त्रीय विधान था। वहाँ उसे लोक शैली में ढाल देना 'तुलसी' का काम था।

[२]

तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में 'भाषा' को बड़ी दृढ़ता से अपनाया है। संस्कृत अपने मूल स्थान से चलकर अनेक विकास-स्थितियों को पार कर आई थी। उसका एक-एक अंग 'संस्कृत' कर दिया गया था। अतः उसके आगे के विकास का मार्ग कुछ अवरुद्ध सा लगने लगा। लचीलापन कड़ाई बन गया। इसके साथ ही उसकी उपयुक्तता कल्पना के उन्मुक्त विहार के लिए कम रह गई थी: वह दार्शनिक तथा वैज्ञानिक शब्दावली से युक्त विशेष हो गई। इन्हीं सब कारणों से संस्कृति का लोक-जीवन से सम्बन्ध टूट गया था। साथ ही संस्कृत अपने विकास की तीसरी स्थिति में थी। पहली स्थिति में भाषा काव्यमय रहती है। किन्तु उसकी यह काव्यमयता अनजान ही रहती है। यद्यपि कल्पना से यह भाषा बोझिल होती है, तथापि उस मानव के लिए यही जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। दूसरी स्थिति में कल्पना उसे सुन्दर और समृद्ध करती है। इस समय उसकी प्रतीकात्मकता और रूपकात्मकता बढ़ जाती है। अतः काव्य के लिए यह अवस्था सबसे अधिक उपयुक्त होती है। तीसरी स्थिति में इसकी विशदता और चित्रात्मकता कम हो

जाती है। शब्द एक निश्चित अर्थ से बँध से जाते हैं। काव्य के प्रयोजन के लिए एक प्रकार से यह भाषा मृत सी हो जाती है। यदि कवि प्राचीन कल्पना शक्ति के आधार पर इसे काव्य के उपयुक्त बना लेता है, तभी यह पुनरुज्जीवित (काव्य के लिए) होती है। संस्कृत इसी तृतीय अवस्था में लगभग आ चुकी थी। यह रूढ़ रूप में एक वर्ग से बँध गई थी। "यदि हम संस्कृत साहित्य की ओर दृष्टि फेरें तो देखेंगे कि सन् ईसवी के बाद का संस्कृत साहित्य उत्तरोत्तर पंडितों की चीज बनता गया। इस साहित्य में लोक जीवन से हटे हुए, एक कल्पित जीवन और कल्पित संसार का आभास मिलता है।" + उधर लोक-भाषा अपभ्रंश भी उग्र रूप में नीचे-नीचे बहती आ रही थी। इस भाषा का संस्कार-परिष्कार संस्कृत की भाँति नहीं हुआ था। अतः यह विकास की प्रथम और द्वितीय स्थितियों में ही थी। यही कारण है कि इसकी उपयुक्तता काव्य कल्पना के लिए बनी रही। यही कारण है कि मध्यकालीन कवियों ने इस लोक भाषा को दृढ़ता से अपनाया। स्वयंभु कहता है—

देसी भासा उभय तडुज्जल। ×

स्वयंभू की काव्य-धारा के दोनों तट देश-भाषा के बने थे। सम्भवतः दोनों तट उसके बाह्य तथा आभ्यंतर रूप हैं। इसी 'भाषा' को तुलसी भी दृढ़ता से अपनाते हुए कहते हैं—

भाषा बद्ध करबि मैं सोई।

साथ ही उस 'भाषा' में कविता करके, उसके प्रभाव का प्रसार करना ही कवि का उद्देश्य था। सम्भवतः कवि 'भाषा' को इसीलिए पकड़ता है कि उसका लोक प्रभाव व्यापक है। इसी 'प्रभाव' को प्रकट करने की मानौती भी कवि करता है—

सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर, जौं हरगौरि पसाउ।
तौ फुर होउ कहेउँ सब, भाषा-मनिति प्रभाउ।

+ हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ०-१०।
× देशी भाषा दोहा तट उज्वल।

इस प्रकार के दृढ़ संकल्प के साथ तथा 'भाषा-भनिति प्रभाउ' में विश्वास करते हुए तुलसी अपनी आत्मा तथा लोक की आत्मा (भक्ति) को भाषा बद्ध करने में तत्पर होते हैं । इस भाषा के सौन्दर्य का निखार तुलसी के हाथों होता है। भाषा का सौन्दर्य शब्दों की शक्तियों और अलकार विधान पर निर्भर करता है। अलंकारों का भी विकास हुआ। अलकारों का मूल समाज वैज्ञानिकों ने मानवीकरण माना है। रामचरितमानस में मानवीकरण के अनेक उदाहरण हैं। हिमालय पर्वत का मानवीकरण मिलता है, उसकी पुत्री 'पार्वती' है, पार्वती के विवाह में अनेक पर्वत आमन्त्रित होते हैं। पर्वत ही नहीं, नदियाँ भी आमंत्रित होकर आती है । विदा करते समय का दृश्य—

तुरत भवन आये गिरि राई, सकल सैल, सर लिए बोलाई !
आदर दान विनय वहु माना, सब कर विदा कीन्ह हिमवाना।

भारतीय मानवीकरण की विशेषता यह है कि समस्त कुटुम्ब की कल्पना की जाती है। अन्य देशों के मानवीकरणों में भी कुटुम्ब की कल्पना मिलती है पर इतनी विशद रूप में नहीं । कवि का कौशल मानवीकरण में वहाँ दीखता है, जहाँ वह मानव के समस्त स्वभाव तथा गुणों का आरोप हिमालय पर करता है। एक कुटुम्ब तथा विवाह का वातावरण प्रस्तुत करने में कला है । कहीं कहीं मानवीकरण कुटुम्ब रूप में नहीं, व्यक्ति रूप में भी हुआ है। उसमें भी केवल ध्वनि मात्र सुनाई पड़ती है। 'गंगा' का मानवीकरण इसी प्रकार का है। गंगा का आशीर्वाद ही सुनाया जाता है। 'आकाश वाणी' भी इसी प्रकार का मानवीकरण कहा जा सकता है।

इस 'मानवी करण' की प्रवृत्ति में जहाँ हमें आदि लोक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, वहाँ कवि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसका उपयोग करता दीखता है । काव्य के नायक के प्रभाव को प्रदर्शित करना ही समुद्र के मानवीकरण का लक्ष्य है। 'गंगा' के द्वारा आशीर्वाद दिलवा कर 'सीता' की विनय की सचाई का परिचय दिया गया है। इस प्रकार जो मानवीकरण आदि मानव लगभग निरुद्देश्य रूप में करता था, वह-सोद्देश्य होने लगता है। यही आदि कल्पना-पद्धति का काव्य रूप है । 'मानवीकरण' इस प्रकार अपना रूप

बदल कर या तो काव्य में रह जाता है, अथवा लोक-जीवन में अपना स्थान बनाए रहता है। लोक-धर्म का अधिकांश मानवीकरण पर आधारित है। वहाँ स्वर्ग, नरक, मृत्यु, भाग्य, नदी, पर्वत, सब का मानवीकृत रूप ही उपलब्ध होता है। मानवीकरण में रूप का आकार रहता है। उसका ठोस रूप सामने आता है। आगे के विकास में अथवा मानवीकरण के साथ ही वह प्रतीक बन जाता है।

प्रतीकों का भी एक इतिहास है। मानव ने पहले अपनी कल्पना के द्वारा कुछ *प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण किया। भयंकरता का मानवीकरण भी* हुआ और सुन्दरता का भी। फिर इसके पश्चात् इन मानवीकृत ठोस रूपों का वर्गीकरण आरंभ हुआ। इस प्रकार 'टाइप्स' बने। सुन्दरता के द्योतक व्यक्ति देवता हो गये। भयंकरता, राक्षस बन गई। फिर इन वर्गों के साथ मानव की पवित्रता-अपवित्रता, मंगलमयता-अनिष्टकारिता, जीवन-मृत्यु, आदि भावनाएँ सम्बद्ध हुईं। इस प्रक्रिया में दो तत्व कार्य कर रहे थे: एक तो साधारणीकरण दूसरा सूक्ष्मीकरण (abstraction) साधारणीकरण कल्पित व्यक्तियों का हुआ; सूक्ष्मीकरण गुणों का हुआ। प्रथम कल्पित व्यक्ति साधारणीकरण और सूक्ष्मीकरण का योग समझे जाने लगे। यह मानव का चेतन उद्योग था। इस प्रकार आदर्श व्यक्ति बने (आदर्श + व्यक्ति) उस मानवीकरण का रूप कल्पित ही रहा। इस प्रकार इन मानवीकृत केन्द्रों के आसपास मानव की विकसित भावनाओं की भीड़ इकट्ठी होने लगी। ये स्थूल प्रतीक बने। इस प्रकार स्थूल प्रतीकों को तुलसी के 'गौरी' प्रतीक से समझा जा सकता है। 'गौरी' मन्दिर में विराजमान एक मूर्ति है। यह 'नारी' के लिए आदर्श है। उस मूर्ति के पास पास मानव के नारी सम्बन्धी आदर्श-भाव चक्कर काट रहे हैं—

जय जय जय गिरिराज किसोरी, जय महेस मुख चंद चकोरी।
जय गज बदन षड़ानन माता, जगत जननि दामिन दुति गाता।

इन दो पंक्तियों में 'पत्नीत्व' और 'मातृत्व' नारी के दो महान् उद्देश्यों का आदर्श उपस्थित कर दिया गया है। सतीत्व का प्रतीक गौरी है, इसको और भी स्पष्ट किया जाता है—

पति देवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख,
महिमा अमित न कहि सकहिं, सहस सारदा सेष।

इस प्रकार के प्रतीकों में कल्पना और यथार्थ का समन्वय रहता है। दोनों में एक दूसरे के प्राण निवास कर रहे हैं। इस प्रकार के प्रतीक केवल कल्पित व्यक्तियों के ही बिन्दु पर खड़े किए गये हों, सो बात नहीं है। इतिहास के व्यक्तियों के आस पास भी आदर्शों का ताना बना बुन कर प्रतीक बनाए गये। इस प्रकार के प्रतीकों में 'राम' 'कृष्ण' आदि आते हैं। ये ऐतिहासिक व्यक्ति हैं या नहीं, इस पर विचार नहीं करना। इतना समझ रखना है कि इनको ऐतिहासिक यथार्थता लोक मानस ने दे रखी है।

आगे की स्थिति में उन व्यक्तियों की स्थूलता, सूक्ष्मता में परिवर्तित होने लगती है। तर्क-पद्धति के थपेड़े से कल्पना का ताना बाना विच्छिन्न होने लगता है। बौद्धिकता के प्रकाश में केवल गुणों की तथा आदर्शों की प्रतिष्ठा हो जाती है। उस व्यक्तित्व के डूब जाने पर भी उसका 'नाम' केवल प्रतीक रूप में रह जाता है। यह नाम प्रतीक भाषा की देन है। उस नाम के स्मरण से ही लोक के अर्द्धचेतन में डूबे हुए आदर्श उन्मज्जित होने लगते हैं। इस प्रकार का एक प्रतीक 'राम नाम' मानस में बहुत ही विशद रूप से प्रतिष्ठित है। इस प्रकार प्रतीक के साथ जो 'नाम' और 'रूप' जुड़े थे, उनमें से रूप लुप्त हो जाता है। प्रतीक रूप में नाम प्रतिष्ठित हो जाता है। उसका रूप यह है—

नाम राम को कलपतरु, कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाँगते, तुलसी, तुलसीदास।

इस नाम प्रतीक के साथ समस्त कल्याण भावनाएँ इकट्ठी हो गई। यही कारण है कि राम का यह 'नाम प्रतीक' युग युग से चलता आ रहा है। इस प्रतीक की पुनर्स्थापना आज भी 'हरिजन-बस्ती' में एक महान् पुरुष कर चुका है।

तुलसी की 'भाषा' इस प्रकार के प्रतीकों से भरी पड़ी है। अन्य प्रतीक का स्रोत पुराण है, लोक है, लोकोक्तियाँ हैं। प्रतीकों की भीड़ ने भाषा को सबल और पुष्ट बना दिया है। पुराणों के प्रतीक भी लोक से भिन्न वस्तु नहीं हैं। इस प्रतीक पूर्ण भाषा के दर्शन करिए—

हरिहर जस राकेस राहु से, पर अकाज भट सहसबाहु से।
जे परदोष लखहिं सहसाखी, परहित घृत तिनके मन माखी।
तेज कृपानु रोष महि पेसा, अघ अवगुन धन धनी धनेसा।
उदय केतु सम हित सबही के, कुम्भकरन सम सोवत नीके।

इस प्रकार से मानस की भाषा प्रतीकों से भरी पड़ी है। इनसे अभिव्यक्ति लोक-सुलभ हो गयी है। अभिव्यक्ति के प्रभाव में भी इनका स्थान है। इसके साथ ही भाव और अर्थ को प्रकट करने में प्रयत्न-लाघव की दृष्टि भी प्रतीकों के साथ जुड़ी रहती है। अभिव्यक्ति में विशदता, सरिलिष्ट, और व्यापकता आने के साथ ही, इन प्रतीकों की आत्मा से लोक-संस्कृति झाँकती दीखती है। प्रत्येक 'प्रतीक' की अपनी एक सास्कृतिक कहानी है। वह कहानी लोक के अर्द्ध-चेतन मानस में पहले से है केवल एक इंगित कर देने से वह कहानी एक शृङ्खला की भाँति हिल उठती है। एक कड़ी दूसरी कड़ी को आन्दोलित करती हुई कथा को चेतन में उपस्थित कर देती है, फिर यथास्थान सुरक्षित हो जाती है। यह सारी प्रकिया एक क्षण में हो जाती है। कवि की कला और कौशल इन्हीं प्रतीकों को यथास्थान सगति बैठाने में है। उसकी अनुभूति और उसके ज्ञान का विस्तार उसके प्रतीकों के स्रोतों से सिद्ध होता है। ऊपर प्रतीकों के पौराणिक स्रोत की ओर एक निर्देश किया गया है। लोक के धरातल पर अभिव्यक्ति की शैली उतर आए, इसके लिए अनेक लोक विश्वासों को प्रतीक रूप में गृहण करके अलकार बना दिया गया है।

(लोक में विश्वास है कि किसी व्यक्ति को यदि साँप डसले तो 'भरनी' गाने से उसका विष उतर जाता है। तथा साँप वश में हो जाता है। इस भरनी'+ के विश्वास को गोस्वामी जी प्रतीक रूप देते हैं। राम-कथा भरनी के समान है जो कलियुग रूपी साँप को वश में कर लेगी।

राम-कथा कलि पन्नग भरनी।
पुनि बिवेक-पावक कहँ अरनी॥

+ 'भरनी' साँप को वश में करने का एक राग अथवा मंत्र स्पष्ट होता है।)

इस 'मंत्र' के प्रतीक का एक स्थान पर और उल्लेख है :—

मंत्र महामनि विषय व्याल के।

एक विश्वास लोक का यह है कि श्यामा गाय का दूध अत्यन्त गुणकारी होता है। उसी विश्वास को तुलसी प्रतीक रूप में गृहण करते हैं :—

स्याम-सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा-ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

तुलसी ने इन प्रतीकों का गृहण अपनी 'गिरा ग्राम्य' (लोक-भाषा) को पुष्ट करने के लिए ही किया। यही 'भाषा-भनिति-प्रभाउ' में सहायक हो सकते हैं। इन प्रतीकों का आधार प्रसिद्ध 'कवि-समय' भी हैं। अनेक स्थलों पर मीन, चातक, चकोर, भ्रमर, कमल चिन्तामणि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, आदि कवि-समय आये हैं। कविसमयों में भी जो विश्वास अन्तर्हित हैं वे बौद्धिक वर्ग की वस्तु नहीं कहे जा सकते। लोक-विश्वास ही प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित हैं। तुलसी के अलंकारों का लौकिक स्रोत ही सबसे अधिक पुष्ट है। अनेक उदाहरण, यहाँ देना सम्भव नहीं। ऊपर के उदाहरणों से उस स्रोत का आभास मिल जाता है। अनेक उपमान इसी स्रोत से निःसृत होकर तुलसी के काव्य में अनजाने ही आकर स्थान गृहण कर लेते हैं : इस विवेचन से इतना ही तात्पर्य है कि तुलसी ने जिस 'भाषा' को अपनाया, उसके शृङ्गार के लिए मानवीकरण, प्रतीक, कवि समय, उपमा तथा रूपक भी लोक-स्रोत से लिए। या तो उनका रूप ही लोक-निर्मित है, अथवा उनकी आत्मा में लोक की झंकार है। किसी न किसी प्रकार लोक से उनका सम्बन्ध अवश्य है। यही मानस की लोक-सांस्कृतिक शैली है, जिसमें सारा 'महाकाव्य' नियोजित है।

भाषा तथा शैली के प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व एक शब्द 'मानस' के छन्दों के विषय में कह देना आवश्यक है। रामचरित मानस के प्रमुख छन्द ये हैं :—

पुरइन सघन चारु चौपाई, जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई।
छंद, सोरठा, सुन्दर दोहा, सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा॥

इनमें से दोहा और चौपाई लोक के अपने छन्द बन गये थे। अन्य छन्द इस लोक-छन्द विधान में पल्लोपन की भाँति ही आए हैं। रामचरित मानस के

छन्दों का वे प्रमुख अङ्ग नहीं कहे जा सकते। दोहा और चौपाई ही प्रमुख है। दोहे का इतिहास बताता है कि यह सदैव से लोक-छन्द के रूप में प्रतिष्ठित रहा। हिन्दी के जन्म के समय ही दोहा सबसे अधिक लोक-प्रिय छन्द पाया जाता है। प्राकृत काल में गाहा या गाथा छन्द का प्रयोग सर्वाधिक होता था। अपभ्रंश काल में वह स्थान दोहा को मिला। म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा [माध्यकालीन भारतीय संस्कृति] लिखते हैं : 'वस्तुतः अप-भ्रंश किसी एक देश की भाषा नहीं किन्तु मागधी आदि भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाओं के अपभ्रंश या बिगड़े हुए रूपवाली मिश्रित भाषा का नाम है······ पुरानी हिन्दी भी अधिकांश इसी से निकली है······इसमें दोहा छन्द प्रधान है।' श्रीराहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा में' जितना सिद्ध साहित्य संक-लित किया है, उसका अधिकांश दोहा-साहित्य है। साथ ही यह भी उस संक-लन से स्पष्ट है कि चौपाई भी सिद्धों का लोक-प्रिय छन्द था। यह भी स्पष्ट है कि सिद्धों का कार्य तथा प्रचार क्षेत्र लोक ही था तथा उनकी प्रतिभा भी लोक प्रतिभा थी। अतः उन्होंने लोक में प्रचलित छन्द ही अपनाया होगा! अथवा उनके द्वारा ये दोहे चौपाई लोक में प्रचलित हो गये होंगे। प्रबन्ध काव्य के लिए दोहे-चौपाइयों का मिश्रित प्रयोग स्वयभू रामायण में मिलता है। जायसी ने भी इसी मिश्रित पद्धति को अपनाया। यह पद्धति लोक-गाथाओं के लिए उपयुक्त समझ कर ही तुलसी ने भी अपनायी।

[४]

कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला।

हरिऔध

ऊपर तुलसी की कला का बाह्य शृङ्गार देखा गया। यह शृङ्गार उस-'कला' का है जिसे पाकर हिन्दी कविता धन्य हो उठी थी। आज के युग में कला के बाह्य-कलेवर की सामाजिक मूल्यों को चित्रित और प्रेषित करने की क्षमता और उपयुक्तता पर ही विचार किया जाना चाहिए। आज कला समाज से विरक्त होकर अपना विकास नहीं कर सकती। तुलसी ने इस सत्य को अपने समय में पूर्ण रूपेण हृदयंगम कर लिया था। इसी सत्य को प्रमाण मानकर उन्होंने

अपनी कला के बाह्य कलेवर की अमरता के लिए लोक से वे तत्व लिए जो उसकी प्रेषणीयता की शक्ति को तीव्र करदें। कृत्रिम उपाय चाहे कलेवर पर मणियों की भाँति चमक उठें: अलंकारों की चमत्कृति से आँखें भर जाँय, किन्तु स्वाभाविकता कुछ और ही बात है। यह स्वाभाविकता से निश्चित सौन्दर्य जीवन की अपनी वस्तु होता है। अतः कृत्रिम उपकरणों के विषय में तुलसी को यह दृष्टिकोण रखना पड़ा :—

कबित होउँ नहिं बचन प्रबीनू, सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना, छंद प्रबंध अनेक विधाना॥
भाव-भेद-रस-भेद अपारा, कवित दोष-गुन विविध प्रकारा।
कवित्त विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

उक्त सभी विषयों से क्या सचमुच तुलसी अनभिज्ञ थे? नहीं, उनका पूर्ण-रूप से उन्हें ज्ञान था। उनका प्रयोग इतने सजीव ढंग से सम्भवतः प्रत्येक कवि के लिए सुलभ नहीं। किन्तु प्रश्न दृष्टिकोण का है। तुलसी की दृष्टि में कला में ये सभी गौण थे। प्रधान दृष्टि कला की आत्मा के विस्तार पर है। कला की आत्मा में सामाजिक जीवन के प्रचलित और शाश्वत मूल्यों को सँजो देना ही तुलसी की कला का मर्म है। इन्हीं मूल्यों को तथा आदर्शों को समाज के प्रत्येक स्तर तक पहुँचा कर ही कवि की आत्मा सन्तुष्ट हो सकेगी। कवि की आत्मा की तुष्टि लोक-मंगल की भावना के अधिकाधिक प्रसार में अन्तर्हित है। अतः लोक-मंगल रूप ध्येय को प्राप्त करना ही तुलसी की कला का चरम लक्ष्य है। 'कला' युग-युग तक मानव-कल्याण की साधना में सहयोग देती रहे—यही तुलसी की प्रतिभा की साधना है :—

कीरति भनिति भूति भल सोई,
सुरसरि सम सब कर हित होई।

यही 'सब कर हित' तुलसी का 'स्वान्तः सुख' है।

कलाकार जीवन की विषमताओं के विष का पान करके प्रथम स्वयं 'शिव' बने और उस विष को पचा कर समन्वय का वह अमृत उँडेल दे जिससे जग-जीवन में 'शिवत्व' के बीज अंकुरित, पल्लवित हो जाँय और आदर्शों की वह बेलि फैल जाय जिससे त्रस्त मानव कुछ शीतलता अनुभव कर सके। जो कवि

इस प्रकार आदर्शों का ताना बाना यथार्थ के प्रति सहानुभूति रखता हुआ, नहीं बुन देता, उसकी प्रतिभा की साधना अधूरी है। 'लोक' उसका ऋणी नहीं होगा। 'बुध' जन इस प्रकार के कवियों के आगे नत-मस्तक नहीं हो सकते। इसी सत्य को गोस्वामी जी ने आत्मसात् कर लिया था। इसी ओर निर्देश है :—

जे कवित्त नहिं बुध आदरहीं,
ते श्रम वादि बाल कवि करहीं।

इस प्रकार हम तुलसी के काव्य-कला विषयक दृष्टिकोण से अवगत हो जाते हैं। उनकी दृष्टि लोक हित पर थी। उसी दृष्टि से उनका समस्त काव्य पूर्ण है। यही कारण है कि तुलसी के काव्य की गुंजार आज जनजन में भर उठी है। लोक उस काव्य की आरती उतार रहा है। आज भी आवश्यकता है, कि आरती उतारने योग्य साहित्य लिखा जाय। आरती उसकी उतारी जाती है जो अन्धकार से आच्छन्न जीवन को एक ज्योतिर्मय सन्देश दे सके। 'मानस' की आरती के साथ सभी एक कंठ से गा उठें :—

'आरति श्री रामायन जी की'।

———

मानस में
नारी-समस्या की लोकवार्ता

●

तुलसी ने नारी पर जो कुछ लिखा है, वह अनेक दृष्टियों से अध्ययन का विषय रहा है। नारी विषयक स्पष्टोक्तियों के विरोध में शिक्षित नारी-समाज के आन्दोलन-प्रदर्शन भी रहे हैं। लोक के सबसे अधिक निकट और उसके सबसे बड़े कवि प्रतिनिधि की जन-जन व्यापी लोकप्रियता को इस सबसे एक ठेस लगी है। डा० नगेन्द्र जैसे अन्तर्दृष्टा समीक्षक ने तुलसी के नारी विषयक विचारों के प्रति यह लिखा : 'तुलसीदास के रामचरित मानस तथा अन्य ग्रन्थों में, विभिन्न प्रसंगों में ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं जो किसी भी देशकाल की नारी के प्रति किसी रूप में भी न्याय नहीं करतीं। उन्होंने नारी की प्रकृति, उसके चारित्र्य, बुद्धि विवेक, आचार व्यवहार सभी की निन्दा की है।' = इस निष्कर्ष का आधार तुलसी की नारी विषयक वे स्पष्टोक्तियाँ हैं जो किसी पात्र द्वारा या स्वयं कवि द्वारा व्यक्त हुई हैं। किन्तु इस प्रकार की नीत्यात्मक उक्तियाँ आप्त और आर्ष से विशेष सम्बन्धित होती हैं और परम्परा के बल पर बढ़ी होती हैं। × इसमें कलाकार का समग्र व्यक्तित्व प्रतिबिंबित नहीं होता। समाज और उसकी मान्यताओं के प्रति चेतन ही इस प्रकार के कथनों के लिए

= विचार और विश्लेषण (दिल्ली, १९५५) पृ० ४१

× यह बात डा० नगेन्द्र ने स्वयं मानी है : 'वास्तव में तुलसी की कई कटूक्तियाँ उनकी अपनी न होकर संस्कृत नीति वचनों का सीधा अनुवाद है। वही पृ० ४२

उत्तरदायी है। शास्त्रानुशासन और लोक परम्परा इन दो तत्वों से तुलसी
ी नारी सम्बन्धी सिद्धान्तोक्तियों का जन्म हुआ है। कवि के व्यक्तित्व की
विकल झलक तो उन चित्र-योजनाओं में है जिनकी रचना कवि प्रतिभा,
ावक कल्पना, अन्तरात्मा की व्यंजना से बने हैं। किसी कवि के विचारों का
िश्लेषण चरित्र-चित्रों में अन्तर्हित ध्वनि के आधार पर होना चाहिए। स्फुट
क्तियाँ केवल एक पक्ष को व्यक्त करती हैं: शास्त्र और लोक की मान्यताओं
ा पक्ष। अतः केवल इन पर आधारित अध्ययन अधूरा ही रहेगा। अध्ययन
ोनों दृष्टिकोणों से होना ठीक है: तभी कवि के साथ पूर्ण न्याय हो सकेगा।

लोक, शास्त्र और नारी

स्पष्ट सिद्धान्तोक्तियों की पृष्ठभूमि में लोक और शास्त्र की धारणाएँ और
ान्यताएँ हैं। अतः पहले इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में तुलसी की उक्तियों को
देख लेना चाहिए। लोक तथा शास्त्र का विधान भी यों ही नहीं बन गया था: उसका भी आधार विकास की भिन्न स्थितियाँ हैं जिनमें नारी के सम्बन्ध की धारणाओं और मान्यताओं का विकास हुआ। आरंभ में नारी और पुरुषों के रूप में ही समाज का विभाजन था। इस आरम्भिक विकास-स्थिति में नारी की हीनता की घोषणा हो गई थी। इसकी ध्वनि अनेक लोक-कथाओं में गूँजती हुई रह गई है।

नारी को पुरुष से भिन्न जाति का माना जाता था। आज भी 'नारी-जाति' के कर्त्तव्य और अधिकारों की बात की जाती है। 'मानव' या 'मनुष्य' नाम भी इस बात की सूचना देते हैं कि आरम्भिक सृष्टि का मुख्य प्रतिनिधि पुरुष था। नारी की स्थिति पुरुष के पश्चात् हुई। इसकी ध्वनि अनेक लोक कथाओं और धर्म गाथाओं में मिलती है। कहीं कहीं पुरुष और नारी साथ साथ उत्पन्न हुए भी माने गए हैं। = कुछ लोक-वार्ताओं में यह ध्वनित है कि पुरुष की सृष्टि स्वयं ईश्वर ने की और स्त्री-सृष्टि का कार्य 'शैतान' को सौंप दिया गया। ×

= Dictionary of Folklore, Vol. II, P. 1180

× वही।

सभी देशों की लोकवार्ता में सामान्यतः नारी की मानसिक शक्ति और शारीरिक क्षमता का विश्लेषण करके उसे हीन बताया गया है। नारी की अधमता की मान्यता का बीज, विकास की इसी स्थिति में है। तुलसी की एक उक्ति में नारी जाति की अधमता व्यंजित है :—

> अधम तें अधम अधम अतिनारी।
> तिन्ह महँ मैं मति मन्द गँवारी ॥+

लोक ही नहीं 'वेद' की दृष्टि से भी नारी हीन है :—

> कहँ हम लोक-वेद विधि हीनी।
> लघु तिय कुल करतूति मलीनी ॥

जैसे एक जाति किसी अन्य जाति के सम्बन्ध में ऊँच-नीच का विचार रखती है, उसी प्रकार के विचार नारी के सम्बन्ध में व्यक्त किए जाते रहे हैं। इस अधमता, हीनता और अबलात्व का आरोप नारी पर कब और क्यों किया गया ?

मानव के इतिहास का अधिकांश भोजन संग्रह का इतिहास है। भोजन संग्रह में पुरुष और नारी का कार्य समान नहीं रह सकता था। अतः कार्य का विभाजन हुआ। नारी, प्रजनन और पोषण के कार्य से सम्बद्ध होने के कारण पुरुष से भिन्न स्थिति में थी। ये कार्य नारी के कार्य-विस्तार और उसकी प्रगति की दूरी पर रुकावट का कार्य करते थे। फलतः घर और भोजनशाला उसके समस्त व्यापारों की सीमाएँ बन गए। ऋग्वेदीय 'जायेदस्तम्' + तथा 'गृहिणी गृहमुच्यते' की भावना इसी स्थिति में उत्पन्न हुई। घर के आसपास रहकर अन्न-संकलन और वनस्पति चयन के कार्य उसके अन्न-संग्रह कार्यों की इति

+ रा० म० अरण्यकाण्ड : शबरी-प्रसंग।

+ ऋ० १०।५३।४ [जाया (=स्त्री) + इत्+अस्तम्=स्त्री ही]

बन गए % उसकी गति की सीमाओं का इतना संकुचित होना उसकी ज्ञान प्राप्ति पर भी रोक बन गया। उसे निरीक्षण, अनुभव और विज्ञान की प्राप्ति का अवसर ही नहीं मिलता था। अतः मस्तिष्क का विकास भी निश्चित सीमाओं के भीतर ही हुआ। यही नारी की बौद्धिक हीनता का सबसे बड़ा कारण था। लोक और शास्त्र में नारी की बौद्धिक हीनता घोषित की गई। तुलसी में उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई :—

'नारि सहज जड़ अज्ञ।'

किन्तु पुरुष की स्थिति नारी से नितांत भिन्न थी। वह आखेटक था। उसके हथियारों का प्रभाव विस्तृत था। उसकी गति अप्रतिहत थी। प्रकृति के निरीक्षण का उसे अधिक अवसर मिलता था। भिन्न परिस्थितियों में अपने को ढालने के कारण उसके मस्तिष्क का भी प्रशिक्षण होता था और ज्ञान की सीमाएँ भी बढ़ती थीं। फलतः उसका अनुभव नारी से अधिक था। विस्तृत गति के लिए अधिक बल और विषम परिस्थितियों में अपने रक्षण के लिए अधिक सूझबूझ की उसे आवश्यकता थी। इनकी प्राप्ति के लिए उसने साधना भी की : सफल भी हुआ। यह, समस्त ज्ञान, बल तथा उसके प्रयोग पर मनुष्य के एकाधिकार की भूमिका थी। अपने इस चित्र के सम्मुख जब नारी के चित्र को उसने देखा तो उसे महान् अन्तर दीखने लगा : नारी उसे 'अबला' और 'सहज जड़, अज्ञ' दीखने लगी। अपना चित्र उसे पौरुष और गौरव से पूर्ण दीखा। अपने कार्यों की तुलना में नारी के कार्य उसे नगण्य दीखने लगे : अपने कार्यों को उसने अधिक प्रतिष्ठा के कार्य समझा। यह स्थिति आखेट युग की स्थिति है।

कृषि-युग में कुछ परिवर्तन हुआ। पहले कृषिकार्य में मनुष्य के श्रम से ही उत्पादन सम्भव था। उत्पादन के साथ मनुष्य के उद्योग का ऐसा गठबन्धन

% आज की कृषक नारी भी अन्न-प्राप्ति में यही दो कार्य करती है। साग-भाजी का भी चयन करती है तथा खेत कटने के पश्चात् खेत से 'सिला-बीनना' (अवशिष्ट अन्न के दानों का कलन) भी उसी का कार्य है।

मनुष्य के आत्मगौरव को उद्दीप्त करने के लिए पर्याप्त था। अबतक 'उत्पादन' नहीं था अन्न प्राप्त करना था। किन्तु नारी की प्रकृति में उत्पादन है। नारी की महत्ता उसकी प्रजनन शक्ति और संरक्षण शक्ति के कारण थी। यही दो तत्व थे जो मनुष्य को प्राप्त नहीं थे। इस प्रकार केवल इसी आधार पर नारी पुरुष से बढ़ सकती थी। किन्तु पुरुष को 'पालन' का कार्य करना होता था: यदि वह जाति के निर्वाह के लिए आवश्यक उपकरण न जुटाए तो जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा। इस आधार पर पुरुष ने नारी तथा कुटुम्ब के अन्य सदस्यों को अपने से निम्न और हीन घोषित किया। इन सदस्यों में पुत्र, दास, शिष्य, छोटे भाई आदि सभी आजाते हैं। अतः शास्त्रकार ने इनको समान रखा: मनुस्मृति ने इन सब के लिए समान दंड विधान निश्चित किया। = यदि स्त्री, पुत्र दास शिष्य और सगे भाई अपराध करें तो उन्हें रस्सी से बाँध कर डंडे से मारना चाहिए। + किन्तु जीवन के लिए अपेक्षित सामग्री के जुटाने मात्र से सन्तुष्ट न होकर, जब कृषक के रूप में पुरुष 'उत्पादक' भी हो गया, तो नारी की उत्पादन शक्ति उसके लिए विशेष गौरव की वस्तु नहीं रही। नारी का कार्य अन्न-सकलन ही रहा। इस प्रकार कृषि-युग में नारी की स्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया: पुरुष की स्थिति में विकास हुआ। आगे चल कर पुरुष ने अपने श्रम के स्थान पर पशु-श्रम का उपयोग करना आरम्भ कर दिया। अब उसके आश्रितों में 'पशु' और बढ़ गया। पुरुष यदि कृषिकार्य के विशेष श्रमसाध्य भागों से सम्बन्धित था, तो नारी मिट्टी के बर्तन, टोकरी बुनना, कपड़ा बुनना, दूध का कार्य करना आदि कम जोखिम के कार्यों में प्रवृत्त थी। साथ ही उद्यान-कला में नारी का महत्व बड़ा हाथ था। इसका विकास, बीज और कद संकलन से ही हुआ। ✠ इस प्रकार कृषि युग में पुरुष

= मनुस्मृति ८।२९९; अग्नि पुराण, २२६।४८, ४६

\+ भार्यापुत्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः
कृतापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा।
(मनु० ८।२९९)

—✠ Encyclopodia of Social Sciences, Vol. 15, p. 439.

और नारी की स्थिति यह बनी : पुरुष अधिक साहसिक कार्य करता था। नारी साधारण कृषिकार्य में हाथ बटाती थी। उद्यान-कला में नारी का विशेष योग था। किन्तु साहसिक कार्यों को महत्वपूर्ण और असाहसिक कार्यों को कम महत्वपूर्ण समझा जाता था। इस युग में भी नारी की हीन-व्यवस्था के बीज पनपे ही। घुमंतु जातियों में स्त्री पुरुष लगभग समान थे। कृषि-कार्य ने मनुष्य को स्थिर कर दिया था।

कृषि युग के पूर्व समाज का विभाजन नारी और पुरुष के रूप में था। अब विभाजन की दिशाओं में वृद्धि हुई। रक्त, व्यवसाय तथा वर्ण के आधार पर समाज का विभाजन हुआ। इस विभाजन के साथ ऊँच-नीच की भावना भी जुड़ी रही। इन वर्गों की व्याख्या राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक आधारों से भी की जा सकती है। चतुर्वर्ण-व्यवस्था के समय नारी की स्थिति में कुछ सुधार होने की आशा दीखती है। उच्च वर्गीय स्त्री निम्नवर्गीय पुरुषों से कुछ श्रेष्ठ हो सकती थीं। निम्नवर्गों के लिए कुछ अदेय अधिकार उच्चवर्गीय नारियों को प्राप्त हुए होंगे। राजवंश की महिलाओं का शूद्राओं से उच्च स्थान बनना स्वाभाविक था। ब्राह्मणियों की स्थिति भी कुछ गौरवपूर्ण बनी होगी। ऐसा समस्त देशों में हुआ।* किन्तु सामान्यतः नारी को पशु, और शूद्र की कोटि में ही रखा गया। इतनी विस्तृत पृष्ठभूमि का प्रतिनिधित्व तुलसी की यह अर्धाली करती है—

ढोल गंवार सूद्र पसु नारी,
ये सब ताड़न के अधिकारी।

बौद्धिक दृष्टि से हीन, 'अशौच' से युक्त, मनुष्य द्वारा शासिता नारी का यही स्थान भारतीय शास्त्र में बना। नारी और शूद्र की समानता की व्यंजना

* अफ्रीका की कुछ जातियों में एक प्रथा है कि समस्त जाति कुछ द्रव्य एकत्रित करके एक नारी का क्रय करती है और उसके उपभोग का अधिकार जाति के प्रतिनिधि, प्रधान को होता है। वह समस्त जाति की पत्नी समझी जाती है [वही पृ० ४४१] भारत में 'राजमाता' की मान्यता भी ऐसी है। वह प्रजा की माता समझी जाती है।

शतपथ ब्राह्मण में मिलती है।† वहाँ विधान है : प्रवग्र्य (की क्रिया) देने के अवसर पर स्त्री, शूद्र, कुत्ते और काले पक्षी को न देखे। पाराशर स्मृति में लिखा है : "जो व्यक्ति शिल्पी, कारीगर, शूद्र अथवा स्त्री को मारे उसे दो प्राजापत्य व्रत करने चाहिए।"θ मनु जी ने द्विज के शारीरिक शौच के लिए तीन बार आचमन करने का, तथा स्त्री और शूद्र की शुद्धता के लिए एक ही बार जल के छूने मात्र का विधान किया है।꣸ मनुस्मृति में यह भी लिखा है कि स्त्री और शूद्र का जूठा खाने पर सात दिन जौ का दलिया खाना चाहिए। यही प्रायश्चित है। + पारस्कर गृह्य सूत्र ने समावर्तन के पश्चात् स्त्री, शव, शूद्र, कुत्ते और काले पक्षी को न देखने और उससे न बोलने का आदेश दिया है। × बौधायन के अनुसार सफलता के निमित्त व्रत करने वाले ब्रह्मचारी को स्त्री और शूद्र के साथ संभाषण नहीं करना चाहिए÷ इस प्रकार स्त्री, और शूद्र को चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के समय में समान रखा गया।

पुरुष ने अपने प्रयत्न और श्रम से जब ज्ञान उपार्जित किया तब शारीरिक शक्ति, 'मूल्य' के रूप में कम महत्वपूर्ण हुई। पुरुष के बल पर नारी का अधिकार होना प्रकृतितः सम्भव नहीं था। उपार्जित ज्ञान में से वह बाँट सकती थी। पुरुष की गौरवपूर्ण स्थिति इसको स्वीकार नहीं कर सकती थी। अतः स्त्री के ज्ञानार्जन के अधिकार के सम्बन्ध में रोक लगाने का प्रयत्न किया गया। घर की व्यवस्था, पालन पोषण तथा अन्न-संकलन से नारी को यों ही छुट्टी कम मिलती थी। पुरुष ने उस एकाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए व्यवस्था की। तथाकथित निम्न वर्गों को वेद-पाठ, श्रवण तथा स्मरण से वंचित करने में 'शास्त्र' प्रवृत्त हुआ। माख्यायन गृह्यसूत्र के अनुसार शूद्र अथवा रजस्वला

† शतपथ ब्राह्मण, १४।१।१।३१
θ पाराशर स्मृति ६।१६
꣸ मनुस्मृति ५।१३६
+ वही ६।१५३
× पारस्कर गृह्य सूत्र २.८.३. (बम्बई, १६१७)
÷ बौधायन धर्म सूत्र ४.५.४. [काशी, संस्कृत प्रकाशन]

स्त्री के निकट वेद पाठ नहीं किया जा सकता। + बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार स्त्री और शूद्र के समीप वेद-पाठ करने से कोटि कल्पों तक नरक-यातना भोगनी पड़ती है। × सांख्यायन में रजस्वला स्त्री को शूद्र के समान माना गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि सामान्यतः स्त्री शूद्र से उच्चतर मानी जाती थी। किन्तु 'पुराण' ने यह भेद मिटाकर सामान्य नारी के सम्मुख वेद-पाठ का निषेध किया। पर ज्ञानोपलब्धि का मार्ग पूर्णरूपेण अवरुद्ध नहीं किया गया। वेद के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञान-शास्त्रों में स्त्री को कुछ अधिकार प्राप्त था। आपस्तम्ब के अनुसार 'वेदत्रयी' तो नारी की पहुँच से बाहर थी, पर उसे अथर्व का उपदेश पाने का अधिकार था। +

स्त्रीपुशूद्रेष या विद्या सा निष्ठा समाप्तिः।
तस्यामप्यधिगता या विद्याकर्म परितिष्ठतीति।

तस्य वेदस्य शेषोयं या विद्या स्त्रीपूशूद्रेषु येत्युपद शन्ति धर्मज्ञाः।

आरम्भ में वेदों की गणना में अथर्व नहीं था। पुराणों के अध्ययन का अधिकार चाहे स्त्री को हो, पर वेद सुनने तथा उसके समीप वेद पाठ निषिद्धि थे। पुराणों के द्वारा भी इस नियम का समर्थन हुआ। = गूढ़ज्ञान पर नारी का अधिकार नहीं था। यही बात तुलसी की पार्वती की विनय में अभिव्यक्त हुई है—

जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।
दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥
गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं।
आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥ ‡

पार्वती गूढ़ अध्यात्म तत्व पर नारी होने के नाते अधिकार नहीं रखतीं। पर दासी और आर्त होने के नाते उस तत्व को जानना चाहती हैं।

+ सां० गृ० सू० ४.७.४७ [S.B.E.Vol.XXIX]
× बृ० पु० १४।१४३
+ बुह्लर द्वारा सम्पादित 'आपस्तंब धर्मसूत्र :' (बम्बई, १८६४)
= बृहन्नारदीय पुराण, १४।१४३
‡ रा० मा० बालकांड : मंगलाचरण

'दासी' के रूप में नारी की मान्यता अन्तर्राष्ट्रीय है। सारे संसार में व पुरुष के अधीन मानी जाती है। बल-बुद्धि-प्रमत्त मानव की अक्ष, अबला और जीवन निर्वाह के लिए पुरुष सुखापेक्षी नारी को अपने अधीन समझने और रखने की बात यों ही समझ में आ जाती है। उसके लिए नारी गृहिणी, दासी, आर्थिक और यौन उपलब्धि ही थी। उसकी स्वतंत्रता में पुरुष को अपनी तानाशाही के लिए भय दीखने लगा। अतः नारी की स्वतन्त्रता लोक और शास्त्र दोनों में अमान्य हुई। जीवन की प्रत्येक स्थिति में नारी को पराधीन रहना चाहिए।† कुमारावस्था में पिता + युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में उसे रहना चाहिए। × लोक और शास्त्र की इस मिश्रित परम्परा की ध्वनि तुलसी के शब्दों में मिलती है—

जिमि सुतंत्र होइ बिगरइ नारी+

कुमारावस्था में कुमारी के आचार पर दृष्टि रखने वाला पिता है और उसके कौमार्य की रखवाली उसका भाई करता है। वृद्धावस्था में पुत्राधीन रहना पोषण की दृष्टि से है। पर, पति के साथ रहना एक अत्यन्त जटिल अधीनता का सूचक है। वहाँ अधिकार, कर्तव्य और स्थिति के सम्बन्ध में अनेक संघर्ष हो सकते हैं। आर्थिक पराधीनता का सामना भी नारी को करना होता है। शास्त्र ने 'नारी' को 'अधन' माना है। = स्त्री पुत्र और दास जो कुछ कमाते हैं, वह सब स्वामी की सम्पत्ति है। यही बात शुक्रनीतिसार में दुहराई गई है। ╥ रोम

---

† अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्

+ भ्राता का धात्वर्थ भी रक्षा करने वाला है। वह अपनी बहन का संरक्षक है। यह रक्षण वीरोचित होने कारण भाई को 'वीर' भी कहा जाता है।

× याज्ञवल्क्य, आचार अध्याय, ८५

+ मानस : किष्किन्धा काण्ड : वर्षा वर्णन।

= मनु ८ ४१६

╥ शु० ४।५।२६५

में भी गृह स्वामी को बच्चों, स्त्रियों और दासों पर अनियंत्रित अधिकार प्राप्त थे।*

भारत में ही नहीं ग्रीस + और रोम ÷ में भी नारी की परतंत्रता घोषित हुई। राजनैतिक क्षेत्र भी नारी के लिए वर्जित क्षेत्र था। यह क्षेत्र तो पुरुष के बल और महत्व का क्षेत्र था। 'हीन' और 'अधम' नारी (जैसा कि पूर्व-स्थितियों में विचार था) क्या राजनीति में भाग ले सकती थी? इस क्षेत्र के सम्बन्ध में सामान्य नारी की यह धारणा बन चुकी थी—

कोउ नृप होउ हमें का हानी।
चेरी छोड़ि न होइहिं रानी॥

अन्य देशों में भी स्त्री की इस क्षेत्र के लिए अयोग्यता मानी जाती रही। ग्रीस में प्लेटो ने नारी के सम्बन्ध में उदार विचार रखे थे। × किन्तु अरस्तू ने इसके विपरीत बात कही। मनुष्य प्रकृतितः स्त्री की अपेक्षा उच्च है। अतः वह शासन करे और स्त्रियाँ शासित रहें। = इस प्रकार सभी देशों में स्त्री के लिए राजनैतिक क्षेत्र का प्रवेश-द्वार बन्द रहा।

---

* W. A. Hunter, Introduction to Roman law (London, 1934) p. 24.

+ Ency. of Social sciences, Vol. 15,, P. 442 पर उद्धृत।

÷ In Rome at the time of the drawing up of Twelve Tables, a wowan passed into the family and power of her husband at marriage and had no means of emancipatnig herself from 'manus' (वही)

× "Plato argued that since as far as the state is concerned, there is no difference between the natures of man and wowan, (quoted, Ency, of Social Sciences,. Vol. 15, P. 442)

= वही, पृ० ४४२

कुछ विद्वान् इस विचार के हैं कि आदिम युग में मातृसत्तात्मक युग था। इसका आधार यह है कि कुछ आदिम जातियों में आज भी मातृ-सत्ता को श्रेष्ठ माना जाता है। ∴ किन्तु एस्कीमो तथा अंडमान की आदिम जातियों में भी पुरुष की ही सत्ता उच्च है। % यदि किसी समाज में नारी की महत्ता पाई जाती है तो उसका कारण नारी की पुरुष की अपेक्षा दीर्घ आयु हो सकता था। युद्ध में संलग्न समाज में यह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक तत्व है। पर इस तत्व का उपयोग नारी ने बहुधा नहीं किया और उसकी सार्वदेशिक परतंत्रता ही रही। नारी की समाज में क्या स्थिति समझी जाती रही है तथा लोक और शास्त्र का नारी के प्रति क्या दृष्टि कोण रहा है, यह इस संक्षिप्त विकास-पथ से स्पष्ट हो जाता है। तुलसी में शास्त्र तथा लोक के दृष्टिकोण का आना स्वाभाविक था क्योंकि नारी की समस्या का वह भी एक सबल और सर्वमान्य पक्ष था। समस्या के नारीपक्ष पर यदि कुछ मिल सकता है तो तुलसी के नारी-चित्रों में। इस पक्ष पर कुछ आगे विचार किया जायगा।

[२]

नारी-समस्या का दूसरा पहलू मनोवैज्ञानिक है। पुरुष ने नारी के मूल स्वभाव तथा उपार्जित स्वभाव में कुछ तत्व जोड़ कर उसकी हीनता सिद्ध की है। बल और महत्ता के आधार पर खड़ी हुई नारी-हीनता की मान्यता इन तत्वों से पुष्ट हुए बिना दुर्बल ही रहती। अतः कुछ अवगुणों का आरोप किया गया। शास्त्र ने नारी में मूल आठ अवगुण माने। × साहस, अनृत, चपलता, माया, भय, अविवेक, 'असौच' तथा 'अदोया'—

∴ आसाम के खासी और नायरों में मातृ-सत्ता को श्रेष्ठ माना जाता है।

% Ency. of Social Sciences, Vol, II, P, 439,

× अनृत साहस माया मूर्खत्वमतिलोभता,
अशौच निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः।

नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं,
अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस, अनृत, चपलता, माया,
भय अविवेक असौच अदाया।

वस्तुतः ये आठ अवगुण जन्मजात नहीं कहे जा सकते। इनका विभिन्न परिस्थितियों में विकास हुआ। इन समस्त अवगुणों को हम निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं—

क—मानसिक शक्ति से संबंधित : चपलता, अविवेक।
ख - हृदय से सम्बन्धित : अदाया
ग—जाति के रक्षण से सम्बन्धित : भय, साहस, माया, अनृत
घ—घृणा की दृष्टि से : असौच

'चपलता' में मस्तिष्क के निग्रह का अभाव ध्वनित है। यह अभाव मानसिक प्रशिक्षण की कमी का परिणाम है। व्यावहारिक प्रशिक्षण तो नारी पर प्रकृति तथा मनुष्य के द्वारा आरोपित पराधीनता है। सांस्कृतिक प्रशिक्षण, उच्च ज्ञान के लिए नारी को अनधाकिरणी बता कर समाप्त कर दिया गया। अतः मानसिक अस्थिरता रहना परिस्थिति जन्य तथ्य बन गया। पुरुष ने उसे दोष माना। नारी के सम्बन्ध के साहित्य का अधिकांश इसी आधार पर नारी का चित्र संजोता आया है। रामचरित मानस की 'सती' इसी 'चपलता' की शिकार बनी। यही चपलता नारी के सौन्दर्यवादी कवि के लिए गुण भी बनी। विहारी ने लिखा—

'पलपल पर पलटन लगे जाके अंग अनूप'

इसमें बाह्य चंचलता मानसिक चंचल की बाह्याभिव्यक्ति है। नारी के चंचल नयन, चचल भौंहें आदि आकर्षक माने गये। पर यही 'चंचलता' नारी के व्यावहारिक जीवन में अभिशाप भी बनती रही। कैकेयी के सम्बन्ध में दशरथ कहते हैं—

सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ,
सब विधि अगहु अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई,
जानि न जाइ नारि गति भाई।

मनुष्य ही नहीं, जिसने सारी सृष्टि के स्त्री-पुरुषों के मन और शरीर की सृष्टि की है, वह ब्रह्मा भी नारि के स्वभाव को नहीं जान सकता—

विधिहुँ न नारि हृदय गति जानी

उसी नारी की मानसिक जटिलता और अस्थिरता ब्रह्मा के सम्मुख भी एक समस्या बन जाती हैं। इसमें भी एक रहस्य है। कुछ लोक-कथाओं में कहा गया है कि ईश्वर ने पुरुष को स्वयं बनाया और नारी की सृष्टि का भार 'शैतान' पर छोड़ दिया। + इसके साथ ही नारी की रहस्यमयता के सम्बन्ध में कई कहानियाँ आदिवासी जातियों में मिलती हैं। ×

अविवेक भी परिस्थिति-जन्य ही है। पुरुष को अपने वनीय, कृषि और औद्योगिक जीवन में खाद्य-अखाद्य, भलाई-बुराई तथा हानि-लाभ में अन्तर करना आवश्यक था। नारी की परिस्थिति ऐसी थी कि भले बुरे में अन्तर करना एक दोष बन सकता था। नारी यदि भले-बुरे का विचार करने लगती तो समाज में क्रान्ति मच जाती। उसे अपने पति के गुण-अवगुणों पर विचार नहीं करना था। वह तो उसका साध्य है—

वृद्ध रोगवस जड़ धन हीना,
अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेउ पति कर किएँ अपमाना,
नारि पाव जमपुर दुख नाना॥ =

+ Dictonary of Folklore, Vol. II, P. 1180

× वही।

= रा० मा० अरण्य० : अनुसूया-प्रसंग

पति की बुराई को देखने का अर्थ परित्याग (divorce) होता। इससे समाज की नीवें हिल सकती थीं।

नारी माता भी है। माता को जाति के रक्षण-पोषण का कार्य सौंपा गया है। पुत्र-रक्षा उसके मातृत्व का आधार है। अतः पुत्र-रक्षा के अवसर पर भले-बुरे का भेद-भाव छोड़ देना ही माता का प्रकृतिगत कर्तव्य हो जाता है। इस प्रकार का अविवेक कैकेयी में दीखता है। पुत्र के आस पास षड्यंत्र का जाल मंथरा द्वारा जब निर्देशित हो गया, तब 'माता' कैकेयी का 'अविवेक' स्वाभाविक था। उस अविवेक ने जो कराया, वह दोष के अतिरिक्त और क्या हो सकता है।

'माया' और 'अनृत' नारी की अपनी रक्षा के लिए दुर्गयन्त्री के अतिरिक्त कुछ नहीं। नारी को इतने जटिल वातावरण में रहना होता है कि उसका अस्तित्व भँवर में पड़ जाता है। कुमारी के रूप में वह 'पवित्रता' की रक्षा के लिए मानसिक संघर्ष को झेलती है। पत्नी रूप में उसके सम्मुख पति खड़ा होता है जो देव है, बलवान है, उसका स्वामी है, उसका ही नहीं समस्त घर का स्वामी है, तथा स्वतंत्र है। माता के रूप में उसे अपने बच्चे की अनेक संकटों से रक्षा करनी होती है। एक ओर पति की ओर कर्तव्य है, दूसरी ओर बच्चों के प्रति। इस जटिल परिस्थिति ने उसे माया और अनृत को व्यक्तित्व की रक्षा के साधनों के रूप में अपनाने की प्रेरणा दी। माया का उपयोग अपने मन के निश्चय को पूर्ण कराने के लिए ही नारी करती है। विकास में पुरुष नारी का शारीरिक पूरक तो बन सका पर मानसिक पूरक न बन सका। शरीर की पूरकता भी इस प्रकार की रही 'तुम और दुर्बल बन जाओ' और मैं उसके पूरक के रूप में सबल हूँ।' शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दुर्बल नारी ने 'माया' की शरण ली। 'माया' का आधार मुख्यतः पुरुष के सम्मुख यह प्रदर्शन करना होता है कि "तुम प्रेम नहीं करते, इस बात को मैं आज समझी हूँ। यदि प्रेम करते हो तो मेरे मन की यह बात पूरी करदो।" कैकेयी ने इसी माया की शरण ली थी। मंथरा की माया थी—

ऊतरु देइ न लेइ उसासू,
नारि चरित करि ढारइ आँसू।

इसी के आधार पर उसने कैकेयी से वह कराया जो साधारण असम्भव था।

'अनृत' के दो पक्ष हैं। एक तो यह भय के कारण हो सकता है। 'सती का अनृत भय के कारण था —

सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ,
भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ।

और झूँठ बोल दिया—

कछु न परीक्षा लीन्ह गोसाईं,
कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं।

दूसरे रूप में 'अनृत' मुखरित न होकर, 'माया' के साथ लगा करता है। यहां उसकी अभिव्यक्ति कार्य के रूप में होती है। मंथरा का आँसू ढारना, 'उसास' भरना, सब अनृत प्रदर्शन ही था। दोनों दृष्टियों में स्वरक्षा सन्निहित है। पुत्र रक्षा में भी अनृत का उपयोग किया जा सकता है।

'अशौच' का आरोप तो स्वाभाविक है। जो कार्य हरिजन का होता है, वह कार्य नारी को भी सम्पन्न करना होता है। साथ ही 'मासिक धर्म' को पुरुष ने सदा ही अशुचि माना और इन दिनों में उसके स्पर्श का भी निषेध किया गया। पुरुष में इस अशुचिता का अभाव था। इसीलिए उसने सुरक्षा पूर्वक इसका आरोप नारी पर कर दिया इस आरोप का प्राकृतिक आधार पर भी रहा। मासिक प्रकृति प्रदत्त वस्तु है। वस्तुतः वह समय अशुचिता का है या नहीं, इस प्रश्न को यहाँ नहीं उठाना। + प्रश्न तो आरोप का है। इस आरोप को 'अनुसूया' के शब्दों में अभिव्यक्ति मिली—

'सहज अपावनि नारि।'

'अदाया' की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि अत्यन्त जटिल है। एक ओर नारी की कोमलता है दूसरी ओर नारी की प्रस्तरोपम कठोरता। यही नारी का

+ संसार की कुछ जातियों में यह अशुचिता नहीं भी मानी जाती है।

विषमान्वय पूर्ण व्यक्तित्व है। अंग्रेजी कवि पोप ने कहा : नारी का हृदय विषमान्वयों से पूर्ण है। + नारी जिस समय एक कार्य-प्रणाली को निश्चित कर लेती है। फिर, उसे उसका क्या मूल्य चुकाना होगा, यह नहीं सोचती। नारी के लिए पुरुष ही जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है। प्रेमी पुरुष के सम्मुख अत्यन्त नम्रता और रसार्द्रता के साथ नारी को सर्वस्व समर्पण करने में देर नहीं लगती। पर यदि उसे यह विश्वास होने लगे कि उसने अपना विश्वास अपात्र पर डाला है, तो उसका हृदय पत्थर हो सकता है। कैकेयी को मंथरा ने दशरथ के प्रेम के प्रति सशंक कर दिया था। फिर उसे सौतिया डाह से भर दिया। यह प्रतियोगिता का प्रश्न था। शूर्पणखाँ की 'माया' थी जो उसके दृढ़ निश्चय और अमर्ष का परिणाम थी। दृढ़ निश्चय ने उसे सुन्दर बनने के लिए प्रेरित किया और अमर्ष ने और बदले की भावना ने उसे निर्दय और भयकर रूप प्रकट करने के लिए बाध्य किया।

नारी के विषय में यह विश्वास चला आ रहा है : पुरुष यौन वृत्ति रखता है पर यौनवृत्ति नारी के समस्त व्यक्तित्व पर शासन करती है। पुरुष की अपेक्षा नारी में इस वृत्ति का अधिक विकास हुआ माना जाता है। स्त्री को प्रकृतितः अधिक भावुक और कामुक बताया गया है। इस वृत्ति के अधिक विकास के कारण नारी चंचला-चपला है। इस क्षेत्र में नारी विश्वास पात्रा नहीं हो सकती। उसके सम्बन्ध में लोक शास्त्र सम्मत अविश्वास का इतना भयंकर रूप बना :—

> भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
> पुरुष मनोहर नरखत नारी॥
> होइ बिकल सक मनहिं न रोकी।
> जिमि रवि मनि द्रवि रविहि बिलोकी॥

+ And yet, believe me, good as well as ill
Wooman's at heart a contradiction still,
[Pope, Moral Epistles]

इस विचार को लेकर अनेक वार्ताएँ उत्पन्न हुईं। वैदिक साहित्य का यम-यमी संवाद बहन का 'भ्राता' के सौन्दर्य पर आसक्त हो जाने की बात कहता है। भारत ही नहीं अन्य देशों में भी ऐसी भावनाएँ मिलती हैं। किन्तु तुलसी की ऊपर की पंक्तियों में केवल नारी की मनोभूमि का विश्लेषण है। उसकी अभिव्यक्ति की बात नहीं है। इससे ध्वनित है कि नारी मन को तो नहीं रोक सकती पर शरीर को रोक सकती है। अभिव्यक्ति को भी रोक सकती है।

'काम' के साथ नारी का सम्बन्ध गहरा है। यह नारी के लिए शक्ति बन जाता है। इस शक्ति के आधार पर वह पुरुष से बल-प्रतियोगिता कर सकती है। इसको यों भी कह सकते हैं कि काम की समस्त शक्ति की वाहिका नारी है: काम का बल नारी है।—

"लोभ के इच्छा, दंभ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष वचन बल मुनिवर कहहिं विचारि॥

(३)

ऊपर जो नारी के रूप का वैज्ञानिक चित्र दिया गया है, उसके सम्बन्ध में एक और विश्वास लोक में प्रचलित है। नारी में ये सारे गुण स्वाभाविक, जन्मजात और मूलबद्ध माने जाते हैं। 'सहज' और 'सुभाऊ' शब्दों में यही भावना अन्तर्हित है:—

१—सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ,
२—सहज अपावनि नारि।
३—सभय सुभाउ नारि कर साँचा,
४—नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं।

अब समस्या यह रह जाती है कि क्या नारी के मन और शरीर में ये 'गुण' जन्मजात हैं? आज का प्राणिशास्त्री, मनोविज्ञानी, तथा नृ विज्ञानी भी इस धारणा के साथ सहमत होते दीखते हैं: उनके दिमाग छोटे होते हैं, उनमें बुद्धि कम होती है, वे भावुक अधिक होती हैं आदि। वास्तव में कुछ अन्तर पुरुष और नारी में परिस्थितियों ने उत्पन्न कर दिए हैं: इन्हीं अन्तरों की अभिव्यक्ति

होती है तथा उसी के आधार पर अन्तरों के सामाजिक परिणाम होते हैं। इस समस्त रूपरेखा को नीचे के चित्र से समझा जा सकता है।

जीव विज्ञान विषयक यौन अन्तर	अभिव्यक्ति	सामाजिक परिणाम	तुलसी
१. पुरुष नारी से आकार में बड़ा	१. पुरुष में कठिन कार्य करने की अधिक क्षमता	१. नारी पर पुरुष का शासन: इसी दृष्टि से दोनों में कार्य विभाजन	१. पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।
२. स्त्री प्रजनन कार्य करती है : बच्चों का पालन करती है।	२. यह कार्य नारी के कार्य विस्तार में बाधक।	२ मनुष्य से भिन्न प्रशिक्षण।	२. जदपि जो पिता नहिं अधिकारी।
३. पुरुष की पेशियाँ अधिक बलिष्ट होती हैं।	३. पौरुष प्रदर्शन की इच्छा : इसका दंभ।	३. मनुष्य का मनोरंजन ऐसे खेल जिनमें शारीरिक कला आवश्यक होती है।	३. नारी का मनोरंजन 'कला' हो जाता है। 'मानस' की नारियाँ गायिका भी हैं और चितेरी भी।
४. मनुष्य का बड़ा आकार, अधिकशक्ति प्रयोग, अधिक कार्य	४. अधिक भोजन की आवश्यकता।	४. लक्ष्य प्राप्ति के लिए सबल चेष्टा : अभयता।	४. नारी में भय 'सभय सुभाउ नारि कर साँचा।

५. नारी में पुरुष की अपेक्षा कम बलः अबला	५. शारीरिक दृष्टि से मनुष्य की समानता में अयोग्य।	५. अन्य साधनों द्वारा लक्ष्य प्राप्ति।	५. क-'काम के केवल नारि' (बल) ख-'साहस' अनृत माया। अदाया।'
६. मनुष्य अपने ज्ञान से पूर्ण विज्ञ	६. नारी के साथ कोमलता का व्यवहार करने की प्रवृत्ति	६. अपने पौरुष और नारी की हीनता की घोषणाः आधार नियम।	६. ढोल गँवार शूद्र पशु नारी।
७. दोनों में शारीरिक गठन भिन्न।	७. आराम और उपयोगिता की दृष्टि से भिन्न वेश भूषा।	७. वस्त्र विन्यास क्रम में अन्तर	
८. नारी में प्रौढ़त्व पुरुष से पहले विकसित।	८. पुरुष से पहले विवाह योग्य	८. पुरुष से छोटी अवस्था में विवाह की अनुज्ञा	८. शिवजी से पार्वती जी अवस्था में छोटी थीं।
९. स्त्री का गर्भिणी होना।	९. यौन संबंधों में अधिक जोखिम पिता का अनिश्चय।	९. अविवाहित अवस्था तथा विवाहित होने पर आधार सम्बन्धी कठोर नियम।	९. एकइधर्म एक व्रतनेमा। काय, वचन मन पति-पद प्रेमा।

इस प्रकार लोक और शास्त्र में नारी और पुरुष की स्थिति बनी। इसी आधार पर कार्यों का विभाजन हुआ। गुण दोषों का विभाजन हुआ। इसी वातावरण में पुरुष और नारी में भेद हुआ और दोनों के लिए शास्त्र ने भिन्न विधानों की रचना की। नारी का यह चित्र आदि काल से चला आ रहा है। किन्तु आरम्भ से ही नारी अपनी स्थिति के प्रति जागरूक रही है। क्रान्ति

अत्यन्त मंद और शिथिल रही। नारी के इस चित्र को तुलसी ने 'मानस' में प्रस्तुत किया। पर चित्र का यथार्थ पहलू शेष है। इस चित्रण में आरोप और दंभ कार्य कर रहा है। यथार्थ चित्र को यदि कवि प्रस्तुत नहीं करे तो वह युग-कवि नहीं हो सकता। अतः तुलसी के नारी-प्रश्न का अध्ययन करने में तुलसी के उन नारी-चित्रों को नहीं छोड़ा जा सकता जिनके सजाने में शास्त्र की अनुज्ञा से स्वतन्त्र होकर प्रतिभा संलग्न हुई है। वहाँ नारी और पुरुष का संतुलन भी है: समानता भी है। अन्यथा 'सब कर हित होई' का संदेश कैसे पूर्ण होता। इस चित्र की झाँकी कितनी भव्य और महत्व पूर्ण होगी।

[४]

नारी और पुरुष का संघर्ष वस्तुतः यथार्थ और आदर्श का संघर्ष है। नारी यथार्थ का प्रतिनिधित्व करती है और पुरुष आदर्श का प्रतिनिधि है। आदर्श की निश्चित रूपरेखा शास्त्र निर्धारित करता है और उसकी रक्षा के लिए नियम भी वही बनाता है। पुरुष का नारी के प्रति दृष्टिकोण आदर्श से समन्वित है। किन्तु नारी का जीवन अधिकांशतः यथार्थ धरातल पर ही चलता है: पत्नी के रूप में, माता के रूप में वह यथार्थ से संबद्ध रहती है। 'घर' यथार्थता का गढ़ है: 'बाहर' आदर्श का। 'घर' की सम्राज्ञी नारी है और 'बाहर' का सम्राट पुरुष। बिना 'यथार्थ' के आदर्श पंगु है और बिना आदर्श के यथार्थ अंधा। इस दृष्टि से भी पुरुष और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। सती के बिना शिवजी की वही दशा हुई जो यथार्थ के बिना आदर्श की हो जाती है :—

जबतें सती जाइ तनु त्यागा।
तबतें सिव मन भयउ बिरागा॥

वैराग्य की व्याख्या है: भौतिक यथार्थ का परित्याग और आदर्श के सूक्ष्म-तम चरम की प्राप्ति के लिए प्रयत्न। वैराग्य के क्षेत्र में यथार्थ की प्रतिनिधि स्वरूपा नारी मूर्तिमान माया कह कर त्याज्य करदी जाती है। योग तथा निवृत्ति पथ की यह सबसे बड़ी बाधा मानी गई। नारी के अवगुण यथार्थ की देन हैं। पुरुष की भौतिक शक्ति संघर्ष से आती है और आदर्श की शक्ति, साधना से। भौतिक संघर्ष जन्य शक्ति की तुलना में नारी 'अबला' बनी और साधना से

उद्भूत आदर्श शक्ति की तुलना में 'हीन' और 'अधम'। आदर्श के 'उन्नत भाग' में यथार्थवती नारी की स्थिति यह आती है —

मुनि सुनि कह पुरान श्रुति संता।
मोह विपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलाश्रय झारी।
होइ ग्रीषम सोषय सब नारी॥
काम-क्रोध मद मत्सर भेका।
इन्हहि हरषप्रद बरषा एका॥
दुर्वासना कुमुद समुदाई।
तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥
कर्म सकल सरसीरुह वृन्दा।
होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई।
पलुहइ नारि सिसिरऋतु पाई॥
पाप उलूक निकर सुखकारी।
नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना।
बनसी सम त्रिय कहहिं प्रवीना॥

नारी 'मां' है फलत मोह, ममता, काम उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएँ हैं। धर्म, पुण्य, सत्य, शील आदि 'आदश' हैं अत 'यथार्थ' के प्रभाव से इनका ध्वंस होना स्वाभाविक है। जप-तप नियम मनोनिरोध पर आधारित 'आदर्श' की साधना के पथ हैं। यथार्थ की रगड़ मनोनिरोध में बाधक है। समस्त ससार के तपमार्गी धर्म-पथ—क्या इस्लाम, क्या कैथोलिक और क्या योगमार्ग—नारी के परित्याग की बात कहते हैं। रोम के चर्च के 'फादर्स' इसी नारी विरोधी सिद्धान्त के पोषक थे।*

---

* The vigorous denunciations of the freedom of Roman women by the early Christian Church fathers

जब नारी मूर्तिमान 'प्रकृति' है तो निवृत्तिपथ के पथिक की वह कसौटी भी बन जाती है और पतन द्वार भी। नारद जैसे तरी को नारी में व्याप्त प्रकृति से बचाना ही सबसे बड़े कल्याण की बात है। एक बार नारद के मार्ग में देव प्रेरित काम आया। काम की सबसे बड़ी शक्ति 'नारी' है नारीगत वैभव की प्रतिनिधि नारियाँ प्रकट हुईं —

रंभादिक सुरनारि नवीना,
सकल असमसर कला प्रवीना।

और इस नारि-शक्ति के विस्तार का यह परिणाम हुआ—

भए काम बस जोगीस तापस पाँवरन्हि की को कहै,
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।

पर नारद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा—

काम कला कछु मुनिहि न व्यापी,
निजभय डरेउ मनोभव पापी।

इस प्रकार नारी के रूप में प्रदर्शित काम की पराजय हुई। इस पर नारद को गर्व हुआ। नारद क्या है एक पुरुष, एक मुनि और द्रष्टा। 'पुरुष' पर 'मुनि' का शासन था। पुरुष में छिपे यथार्थ को मुनि में प्रतिष्ठित आदर्श ने तार तार कर दिया था। द्रष्टा परिणाम को समझता है। गर्व को नारद ने

---

were an outgrowth of the attitude of the latter toward sex which in many instances was undoubtedly pathological. The ascetic ideal of Christianity according to which sexual activity was carnal and marriage was a concession to flesh resulted in the regarding of women as the chief vehicle of sin—in Tertullian's words "the devil's gateway"—a view embodied in the penitentials.'

[Ency. of Social Sciences, Vol. 15, p. 439]

भारत में भी नारी को नर्क का द्वार बताया गया है।

विजयोपहार के रूप में प्राप्त किया। दृष्टा गर्व और काम के संघर्ष के उस परिणाम को न देख सका। गर्व में विजय का दर्प है जो विजित काम शक्ति को अत्यन्त भयंकर रूप में संघर्ष करने को ललकारता है। अतः परित्यक्त नारी-वैभव फिर सम्मुख आता है और नारद के 'पुरुष' की पराजय 'मुनि' की पराजय में बदल जाती है—

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी,
बड़ी बार लगि रहे निहारी।

आसक्ति प्रयत्न के पथ पर—

करौं जाइ सोइ जतन बिचारी,
जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी।
जप-तप कछु न होइ तेहि काला,
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।

उस स्वयंवर में पुरुष-सौन्दर्य की प्रतियोगिता थी। पुरुष का बाह्य सौन्दर्य ही उस विवाह का आधार था। 'मुनि' ने 'पुरुष' के बाह्य सौन्दर्य को अस्त-व्यस्त कर दिया था। पुरुष-सौन्दर्य की प्राप्ति एक समस्या थी। मिली कुरूपता। वह कुरूपता अन्तर-व्याप्त पुरुष-मुनि संघर्ष की जटिलता का परिणाम थी। पुरुष सौन्दर्य की प्राप्ति में यदि नारद सफल हो जाते तो नारी और पुरुष का जीवन दाम्पत्य बन जाता। दाम्पत्य जीवन प्रवृत्ति-पथ है। नारद उस परमदृष्टा की कोटि में नहीं थे जो यथार्थ के विष को अमृत बना सके। किन्तु शिवाजी इस विष को अमृत बनाने की शक्ति से सम्पन्न थे।

शिवः अर्द्धाङ्ग सिद्धान्त के प्रतीक—अर्द्धनारीश्वर बिना नारी (सती) के जिन्हें वैराग्य हो गया है; नारद की भाँति काम विजय नहीं, काम दहन के कर्ता काम-दहन से वे ही नहीं समस्त विश्व शीतलता का अनुभव करता है। यह 'काम' की स्थूलता की समाप्ति है। सूक्ष्मता व्यक्तिगत सुख से अधिक जातीय (संकुचित अर्थ में नहीं) अमरता और सुख को अपनाती है। संतति विस्तार ही जातीय कल्याण और अमरता दे सकता है। तारकासुर का बध नहीं हो सकता यदि शिव के अंशों से निर्मित पुत्र उसे न मारे—

सब सन कहा बुझाइ बिधि, दनुज निधन तब होइ।
संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ॥

भारतीय शास्त्र में दाम्पत्य की सफलता ही हितकर संतति को जन्म देना है।

लोक में, बाँझ होना पाप है। यद्यपि इस दोष में मानवीय योग नहीं है। प्राकृतिक तत्व ही इस दोष के उत्पादक हैं, तथापि निपुत्री का मुँह देखना तक नर्क के द्वार में प्रविष्ट होने के बराबर है। इस विषय पर अत्यन्त रोचक लोक-साहित्य प्रत्येक जनपद में मिलता है। इस प्रकार नारी और पुरुष का सम्बन्ध विरक्त-हित-रत पुत्र के उत्पन्न करने से योगियों के लिए भी स्पृहणीय बन सकता है। —

[४]

शास्त्र और सदाचार से समन्वित नारी विषयक विचार-धाराओं का निरूपण मानस के नारी-दर्शन का एक अंग है। नारी-चित्रण उस दर्शन का दूसरा और अधिक आकर्षक रूप है। नारी के चरित्र चित्रण में तुलसी ने लोक नायक की सी न्याय-दृष्टि रखी है। वहाँ नारी का व्यक्तित्व भी उभरा हुआ है। चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत है। "'''सीता कौशल्यादि की महिमा का वर्णन तुलसी ने केवल राम के नाते से ही किया है। इन पात्रों की महिमा मूलतः राम की ही महिमा है।" + आगे विद्वान् आलोचक लिखते हैं, "इन पात्रों के व्यक्तित्व भी अपने आप में कोई विशेष प्रबल नहीं हैं।" तीसरी प्रतियुक्ति यह है, " मान लीजिए तुलसी ने सीता कौशल्यादि का महिमा-गान किया भी है, फिर भी तो यह व्यक्तियों का ही महिमा गान हुआ, नारी जाति की तो उन्होंने सदा निन्दा ही की है। ×" इन सब प्रत्युक्तियों के विषय में यहाँ कुछ न कह कर तुलसी के नारी चित्रों की रचना पर संक्षिप्त दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा।

+ विचार और विश्लेषण, पृ० ४७

× वही, पृ० ४८

सीता: इष्ट को युग्म के रूप में मानना उस काल की एक प्रबल परम्परा थी। अद्वैत में युग्म-इष्ट का स्थान नहीं था। फलतः साधक के साथ भी नारी का कोई विधान नहीं था। 'सियाराम मय सब जगजानी' में जगजननी और आदि पुरुष के युग्म को इष्ट के रूप में घोषित किया गया है। पितृ प्रधान विचार-धारा में मातृत्व को इस प्रकार स्थान मिला। 'सीता' आदि शक्ति और जगजननी के रूप में वदित हुईं—

> आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया,
> सो अवतरेउ मोरि यह माया।

आदि शक्ति के व्यक्तित्व का स्थान ब्रह्म के साथ बना।

अवतरित रूप में वे जनक की पुत्री हैं: भूमि की पुत्री हैं: कृषि यज्ञ से उत्पन्न श्री स्वरूपा हैं।* सीता का विवाह धनुष यज्ञ के रूप में है। धनुष-यज्ञ पिता की स्वीकृति का मूर्तिमान रूप है। पिता के दो कर्तव्य बालिका के प्रति हैं। एक तो बालिका की आचारगत सुरक्षा तथा उसके लिए योग्य वर की खोज। धनुष यज्ञ वीरता की परीक्षा के लिए था। उस शक्ति का परीक्षण हो जाने पर जनक (पिता) को सन्तोष होगा कि उसकी पुत्री को योग्य वर मिल सका। अत. जनक घोषणा करते हैं—

> सोइ पुरारि कोदण्ड कठोरा,
> राज समाज आजु जोइ तोरा।
> त्रिभुवन जय समेत वैदेही,
> बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही॥

दो दृष्टिकोण हैं. केवल पिता की सम्मति स्वीकृति से कन्या का विवाह सम्पन्न हो जाना और उसकी स्वीकृति न लेना। दूसरा यह कि, कन्या अपने मन से ही वरण करे, पिता हस्तक्षेप न करे। तुलसी मध्य-मार्ग को अपनाते हैं। लोक की मनोभूमि में संघर्ष समन्वय बन जाता है। समन्वय और मध्य-मार्ग में कोई अन्तर नहीं। सीता जी की स्वीकृति की व्यंजना भी हुई है।

* इस विषय में द्वितीय अध्याय में विस्तृत विचार हो चुका है।

केवल पिता की स्वीकृति से ही विवाह नहीं कराया गया है। सीता की कामना में ही उसकी स्वीकृति मिली हुई है—

मोर मनोरथ जानहु नीके,
बसहु सदा उरपुर सबही के।

और उस मनोकामना की पूर्ति का आश्वासन मिलता है—

पूजिहि मन-कामना तुम्हारी।

इस प्रकार मन अपने समस्त वैभव को अपने भावी जीवन-साथी पर अर्पित कर चुका था। यह समर्पण निराधार नहीं। इसका आधार नारद-वचन हैं। इसी आधार पर "उपजी प्रीति पुनीत।"

यहाँ राम और सीता के व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न रहा गए। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। राम सीता की ओर आकर्षित होने में काम से प्रभावित हैं। राम अपने कुल की परम्परागत मर्यादा से विज्ञ हैं। 'सपनेहु जेहिं परनारि न हेरी।' फिर भी समस्त मर्यादा काम के प्रभाव से विकल हो उठती है—

मानहु मदन दुंदुभी दीनी,
मनसा विश्व विजय कहं कीनी।

सीता राम के रूप से प्रभावित तो होती है, पर नारी सुलभ लज्जा नहीं छूट जाती। यह लज्जा समय-समय पर सीता की भावनाओं की अभिव्यक्ति को अवरुद्ध करती रही। धनुष यज्ञ में—

गुरु जन लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि,
लागि विलोकन सखिन्हतन रघुबीरहिं उर आनि।

राम के स्वरूप से सीता प्रभावित है। पर विवाह शक्ति के परीक्षण पर निर्भर है। सौन्दर्य सीता के सम्मुख है, शक्ति अव्यक्त। सीता को शक्ति प्रतियोगिता में राम के सफल होने में पूर्ण विश्वास नहीं। पिता की स्वीकृति का आधार शक्ति है। यह एक विषम संघर्ष था। पिता के प्रण के प्रति सीता का अन्तर्मन विद्रोही हो उठता है। उसका विद्रोही मन समस्त सभा की बुद्धिहीनता को देखकर क्षुब्ध हो उठता है—

नीके निरखि नयन भरि सोभा,
पितु पनु सुमिरि बहुरि मन छोभा।
अहह तात .दारुनि हठ ठानी,
समुझत नहिं कछु लाभु न हानी।
सचिव सभय सिख देइ न कोई,
बुध समाज बड़ अनुचित होई।

× × × ×

सकल सभा की मतिभइ भोरी।

यह एक क्रान्ति है जो जनक जैसे दृष्टा को लाभ-हानि न जानने वाला, मंत्रियों को भय से सत्य का न कहने वाला तथा बुद्धिमानों को अनुचित के प्रति सहिष्णु होने वाला कहती है। लज्जा उस अन्तर्क्रान्ति को अभिव्यक्त नहीं होने देती—

गिरा अलिन मुख पंकज रोकी।
प्रगट न लाज निसा अवलोकी।

इस प्रकार नारी को क्रान्ति की उग्र रूप में अभिव्यक्त होने से रोकने वाले बाह्य तत्व नहीं, आन्तरिक तत्व हैं। रति भाव में प्रसार का भाव अन्तर्हित है। इससे गोपन का भाव प्रकृतितः सम्बद्ध है। यह उस भाव को आवृत रखता है। रति-भाव 'पर' से संबंधित होना चाहता है। यह परत्व का भाव ही भय, संकोच, और गोपन की प्रवृत्ति का सूत्रपात करता है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि रतिभाव सर्वस्व-समर्पण चाहता है। 'अस्तित्व' सर्व-समर्पण में व्याप्त अपने नाश से रक्षा के लिए सचेष्ट होता है। किन्तु जब 'परत्व' विश्वास से अभिमंडित हो जाता है, तब स्वरक्षा की मूल प्रायः प्रवृत्ति गुरुजनों की ओट लेकर लज्जा बन जाती है। संघर्ष यह बनता है : सीता का मन सर्वस्व समर्पण की भूमिका बना चुका । पर गुरुजनों ने समर्पण के लिए एक पद्धति निश्चित करदी। उस पद्धति से सीता का संघर्ष है। इस प्रकार तुलसी ने सीता के द्वैध व्यक्तित्व का चित्रण करके नारी के

संघर्ष को अभिव्यक्ति दी है। धनुष टूटने पर भी मन तो प्रसन्न है पर शरीर पर संकोच छाया रहा—

तन संकोचु मन परम उछाहू,
गूढ़ प्रेम लखि परइ न काऊ।

मन की क्रान्ति तो शान्त हुई। उसकी समर्पण-योजना घटना-क्रम का यथार्थ बन गई। पर अब शरीर के समर्पण का अवसर था। मन की लज्जा शरीर का संकोच बन जाता है। पर 'गूढ़ प्रेम' के प्रवाह में शरीर-गत संकोच कोई अर्थ नहीं रखता। यदि यह घटना क्रम न रहता तो नारी की क्रान्ति क्या रूप धरती, सीता की स्वीकृति और जनक की स्वीकृति का क्या संघर्ष रहता, यह अव्यक्त ही रहा।

विवाह की स्वीकृति प्रजाजन, परिजन आदि को भी होनी चाहिए। लोक स्वीकृति बहुधा पिता की स्वीकृति के साथ रहती है। पर कभी कभी वह कन्या के पक्ष में हो जाती है। जनकपुर का प्रत्येक नर और प्रत्येक नारी मन से यह कामना कर रहे थे कि राम और सीता का विवाह हो जाय। इस प्रकार तीनों का समन्वय हो गया।

ऋग्वेद के सूर्या के विवाह में कन्या, पिता और प्रजाजन की स्वीकृति के तत्व आए हैं। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के दो मंत्र द्रष्टव्य हैं—

१—हे अश्विन, तुम्हारे सूर्या के विवाह संबंधी प्रस्ताव पर सब देवताओं ने अनुमति दी है।*

२—उस समय मन से पति को चाहती हुई सूर्या को (उसके पिता) सविता ने (सोम को) दिया।*

---

* यदश्विना पृच्छमानावयात त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः,
विश्वेदेवा अनु तद्वाम जानन् पुत्रः पितरावनृणीतः पूषा
(ऋ० १०-८५-१४)

* सूर्यां यत्पत्ये शंसंती मनसा सविता ददात्। (ऋ० १०-८५, ९)

सूर्य की भाँति सीता भी राम को मन से चाहती है। समस्त देवों समान समस्त नर-नारी सीता-राम-विवाह से सहमत हैं। सविता की भाँति जनक भी अपनी अनुमति देते हैं। इन तीनों वर्गों का सहमत हो जाना लोक की दृष्टि से कल्याणकर है।

दाम्पत्य जीवन के आदर्शों के अनुकूल सीता का व्यक्तित्व उभरता है। पति और पत्नी लोक और शास्त्र दोनों दृष्टियों से एक हो जाते हैं। उनमें विच्छेद सम्भव नहीं। वन की कठिनाइयों में सीता सुखी है, पर राम-रहित होकर सुखी नहीं हो सकती थी—

राम-संग सिय रहति सुखारी।
पुर-परिजन गृह सुरति बिसारी।

राम अपनी मर्यादा के कारण वन में हैं और सीता अपने आदर्श के कारण। सीता की यह पति परायणता जनक (पिता) के संतोष का भी कारण बनती है :—

तापस बेष जनक सिय देखी।
भयउ प्रेम परितोष बिसेषी।

यहाँ सीता पतिव्रत धर्म के आदर्श का प्रतिनिधित्व करती दीखती हैं। अनुसूया के अनुसार—

सुनि सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।
तोहि प्रान प्रिय राम·································।

सीता की महानता राम के कारण नहीं, पतिव्रत के कारण है। सीता का शृंगार स्वयं राम अपने हाथ से करते हैं। उस शृंगार योजना में आदर का भाव है। आदर इसी आदर्श-पालन के कारण है। राम ने एक दिन वन में सीता का इस प्रकार शृंगार किया :—

एक बार चुनि कुसुम सुहाए,
निज कर भूषन राम बनाए।
सीतहि पहिराए प्रभु सादर,
बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥

इस प्रकार पतिव्रत धर्म के आदर्श से अभिमण्डित सीता पति-गृह में आईं। वहाँ दशरथ ने आदर्श साम और श्वसुर के कर्तव्य का निरूपण किया.—

वधू लरिकिनी पर घर आईं।
राखेहु नयन पलक की नाईं॥

और सासों ने ऐसा ही किया :—

सुन्दर बधुन्ह सासु लै सोईं।
फनिकन्ह जनु सिरमनि उरगोई।

सीता के प्रति इसी प्रेम की अभिव्यक्ति कौशल्या के वनगमन के समय की। उसी प्रेम की अभिव्यक्ति में सीता के बाल्यकाल की कोमल-परिस्थितियाँ उभरीं :—

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।

इस प्रकार के कथनों से सीता के व्यक्तित्व को 'गुड़िया नुमा' मान लेना न्याय नहीं है। इनमें सास का प्रेम और सीता के प्रति कौशल्या का दृष्टिकोण अत्युक्ति के सहारे व्यक्त हुआ है। इतने सब कथनों के होते हुए भी सीता का वन-गमन ही उनको 'गुड़िया' नहीं रहने देता। इसके अतिरिक्त एक आदर्श गृहिणी के रूप में वे सबकी सेवा व्यवस्था में तत्पर रहती हैं :—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी,
विपुल सदा से व विधि गुनी।
निज कर गृह परि चरजा करई,
रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥

अग्नि-परीक्षा वह अवसर है जब सीता के व्यक्तित्व की शक्ति की प्रच्छन्न रेखाएँ उभरने लगती हैं। सीता की शक्ति सत्य की शक्ति थी। सत्य और पतिव्रत पर्याप्त हैं। राम के व्यक्तित्व में यहाँ कोई आकर्षण नहीं दीखता : वे लोक भीरु के रूप में चित्रित किये गये हैं। सीता का अपवाद लोक की वस्तु थी। लोक राम के व्यक्तित्व को आवृत कर लेता है। यही लोकापवाद राम के शब्दों में दुर्वाद बन कर व्यक्त होता है:—

तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानी सबै लागीं करै बिषाद॥

यातुधानियों ने सीता के सत्य की अटलता देखी थी। एक ओर रावण का समस्त बल-वैभव था : दूसरी ओर सत्य की शक्ति। सत्य की शक्ति की विजय जिन राक्षसियों ने देखी थी उन्हें विषाद होना स्वाभाविक था। किन्तु सीता? न भय, न विपद् और न क्षोभ। अपने सत्य पर दृढ़ विश्वास रख कर वे अग्नि में प्रविष्ट हो जाती हैं :—

पावक प्रबल देखि बैदेही।
हृदय हरष नहिं भय कछु तेही॥
जौं मन बच क्रम मम उर माहीं।
तजि रघुबीर-आन गति नाहीं॥
तौ कृसानु सबकै गति जाना।
मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना॥

इस प्रकार नारी का लांछन, अनृत, भय, आदि समस्त अवगुण जल गये। सीता वस्तुतः पतिव्रत धर्म का आदर्श हैं। पतिव्रत धर्म सत्य पर आधारित है। विवाह के समय इसी सत्य की घोषणा की जाती है। ऋग्वेद में 'सूर्या' के विवाह के समय सत्य के सम्बन्ध में कहा गया : 'सत्य के द्वारा पृथ्वी स्थिर है। उसी की शक्ति से सूर्य आकाश को सम्हाले रहता है। प्रकृति के अटल, सत्य नियम ही आदित्य को सम्हाले हुए हैं। उसी के सहारे आकाश में चन्द्रमा स्थित है।'* यह सूर्या सूक्त का पहला मंत्र है। वस्तुतः सत्य ही दाम्पत्य जीवन का आधार है। सत्य ही दो हृदयों के प्रंथन का मूल है। इस आदर्श को सीता के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी शक्ति मानना चाहिए।

तब मातृत्व की साधना आती है। विवाह के समय ही मंत्रद्रष्टा ने सूर्या को आशीर्वाद दिया था : वीरों को जन्म देने वाली हो।† वीरगर्भा होना माता का

* ऋ० १०. ८५. १.
† ऋ० १०. ८५. ४४।

सबसे बड़ा आदर्श है। वीर पुत्रों में माता की सत्य-शक्ति प्रतिच्छायित होती है। पिता और माता के सत्य-सम्बन्ध और संकल्प के परिणाम स्वरूप ही वीर संतति हो सकती है। सीता इस अर्थ में आदर्श माता भी बनी :—

दुइ सुत सुन्दर सीता जाए,
लवकुश वेद पुरानन गाए।
दोउ विजई, विनई गुन मन्दिर,
हरिप्रतिबिंब मनहुँ अति सुन्दर।

यह सीता के व्यक्तित्व का परिचय है। यद्यपि यह व्यक्तिगत चित्रण है पर समस्त नारी जाति के लिए आदर्श चरित्र बन जाता है। निस्संदेह सीता का व्यक्तित्व स्वतंत्र, सबल और आदर्श है।

सती : सीता का व्यक्तित्व आदर्श के तत्वों से ही निर्मित है। यथार्थ की झलक है, पर मन्द। सती के चित्रण में यथार्थ के तत्व मुख्य हैं : आदर्श की व्यंजना मात्र है। सती अपने पति को ही सर्वस्व मानती है। राम को नारी-विरह में व्याकुल भी वह देखती है और शिवजी को प्रणाम करते हुए पाती है। यहीं से संशय-ग्रन्थि बनने लगती है। यह संशय इतना दृढ़ हो जाता है कि शिवजी के समझाने पर भी दूर नहीं होता—

मोरेहु कहे न संसय जाहीं।
विधि विपरीत भलाई नाहीं।

यहाँ नारी की तर्क शक्ति अन्ध विश्वास करने से उसे रोकती है। वह स्वयं परीक्षा लेती है। सीता का रूप धारण करके बैठती है। पर राम का अन्तर्यामी रूप समस्त योजना से अवगत हो जाता है। सर्व व्यापी रूप के दर्शन भी हुए—

जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना।
सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना॥

इस प्रकार राम के परब्रह्मत्व का परिचय सती को मिल गया।' तब यथार्थ नारी की दृष्टि से उसमें भय, और अनृत उत्पन्न होते हैं। भय ने अनृत के लिए प्रेरणा दी। उसने शिवजी से दुराव किया :—

कछु न परीछा लीन्ह गुसाईं।
कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं॥

यह नारी का यथार्थ के धरातल पर पतन है। पर तुलसी ने नारी रक्षा की : शिवजी उस माया को प्रणाम करते हैं जिसकी प्रेरणा से सती मिथ्या भाषण किया। इस प्रकार दोष सती का नहीं रह जाता, राम की मा का ठहरता है।

राम के चरित्र में लोक-भय का समावेश करके सीता के उज्ज्वल चरि को स्पष्ट किया गया था : यहाँ शिवजी भी मर्यादा-भीरु चित्रित किए ग हैं। भक्ति की मर्यादा के भंग होने के भय से वे सती के लिए दंड का विधा सोचते हैं :—

जौं अब करहुँ सती सन प्रीती।
मिटइ भगति पथ होइ अनीती।

नारी के लिए सबसे बड़ा दंड परित्याग है। शिवजी पत्नी रूप में उसका परित्याग कर देते हैं : 'एहिं तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।' यह परित्याग शरी मात्र का है। सती के मन की पवित्रता पर सन्देह नहीं किया जा सकता मर्यादा के भय से प्रभावित शिव के सम्मुख सती का व्यक्तित्व उभर उठता है।

कवि ने शिव के चरित्र में एक और लोच दे दिया है। शिव दंड क विधान तो निश्चित कर लेते हैं, पर सती के सम्मुख उसे स्पष्ट नहीं करते। दंड आरंभ हो जाता है, पर दंडित को बताया नहीं जाता। यह शिव के चरित्र को सती की अपेक्षा कुछ नीचा गिराना है। सती को शंका होती है : वह बार-बार पूछती है : पर शिव उसे बताते नहीं हैं :—

जदपि सती पूछा बहु भाँती,
तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती।

अब शिवजी ने समाधि लगाली। सती को द्विविधा में जलते हुए छोड़ा। पति के द्वारा परित्यक्त नारी के लिए मरण का मार्ग ही अवशिष्ट रह जाता है। सीता ने अग्नि परीक्षा के समय अपने सत्य की दुहाई दी थी। यहाँ सती अपने सत्य को ललकारती है। यदि मुझे शिव से सत्य प्रेम है तो मेरा यह पति परित्यक्त शरीर समाप्त हो जाय—

जो मेरे सिवचरन सनेहू,
मन क्रम वचन सत्य व्रत एहू।
तौ सवदरसी सुनिअ प्रभु, करउ सो वेगि उपाइ,
होइ मरन जेहिं बिनहिं श्रम, दुसह बिपत्ति बिहाइ।

समाधि खुलने पर परित्याग का द्वंद्व व्यक्त होता है—

जाइ संभु पद बंदनु कीन्हा,
सनमुख संकर आसन दीन्हा।

अब पतिगृह में रहने की सम्भावना समाप्त हुई। किसी स्थिति में परित्यक्त नारी अपने पति के साथ रह सकती है। वह अपने पिता के घर आती है। शरीर के त्याग के लिए उचित अवसर वहाँ आया। उसका अपमान भी हुआ। शिवजी को यज्ञ-भाग न मिलने से उनका भी अपमान हो रहा था। अपमान सहने से मृत्यु श्रेष्ठ है। अतः मरण का कारण उदात्त रूप से सामने आया। फिर शिव के अपमान करने वाले दक्ष के अंशों से निर्मित शरीर के धारण करने में कोई अर्थ नहीं रह गया—

दच्छ शुक्र सम्भव यह देही।

और योगाग्नि में अपने शरीर को जला दिया—

असकहि जोग अगिनि तनु जारा,
भयउ सकल मख हाहा कारा।

पर मरते समय भी शिव सती के अन्तस्तल में स्थित थे। वस्तुतः सती के शरीर का परित्याग हुआ था। उसकी आत्मा के प्रति शिव को कोई ग्लानि नहीं थी। अतः शिव-प्रेम की साधना चलती रहे, ऐसी उसकी अन्तिम कामना थी,—

सती मरत हरि सन बरु मागा।
जनम जनम सिव पद-अनुरागा।

- इस प्रकार नारी की साधना का स्तर ऊँचा हो जाता है। सती के व्यक्तित्व की यह ऊँचाई न 'राम के नाते' से है और न शिव की उच्चता के कारण। सती का व्यक्तित्व नितांत स्वतंत्र है।

पार्वती : सती ही पार्वती के रूप में अवतरित हुई :—

तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई।
जनमीं पारवती तनु पाई॥

पार्वती सती का विकसित रूप है। सती के इस नवीन शरीर को शिव की प्राप्ति के लिए साधना करनी थी। नारद के रूप में देव और ऋषियों की स्वीकृति मिल गई। पिता और माता की मिलित स्वीकृति पार्वती को समझाने में व्यक्त हो जाती है। पार्वती की स्वीकृति इस प्रकार प्रकट हुई :—

सुनहु मातु मैं दीख अस सपन सुनावहुँ तोहि।
सुन्दर गौर सुविप्रवर अस उपदेसेउ मोहि।

करइ जाइ तपु सैल कुमारी।
नारद कहा सो सत्य विचारी।

शिव साधना से ही प्राप्त हो सकते थे। तपस्या पर पुरुष का ही एकाधिकार नहीं, स्त्री भी उस मार्ग पर चल कर इष्ट की सिद्धि कर सकती है। पार्वती तप में निरत हुई :—

उर धरि उमा प्रानपति चरना।
जाइ विपिन लागीं तपु करना॥

तप भी साधारण नहीं, अत्यन्त उग्र था। सहस्रों वर्ष तक तपस्या चलती रही। इस तपस्या से प्रकृति का सिंहासन हिल उठा, एक वाणी सुनाई पड़ी :—

भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराज कुमारि।
परिहरि दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि।

जिन राम के कारण सती का परित्याग हुआ था, वे ही राम अब शिव को पार्वती से विवाह की प्रेरणा देते हैं। शिव ने पार्वती के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए सप्त-ऋषियों को भेजा। उन्होंने शिवजी के संबंध में कहा :—

तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा।

किन्तु नारी एक बार जिस पथ का अनुसरण कर लेती है, फिर उस पर अटल रहती है। पार्वती ने उत्तर दिया :—

हठ न छूट छूटै बरु देहा।

विवाह के साथ पुत्र जन्म का और एक कारण जुड़ा। उनके पुत्र के द्वारा ही तारकासुर का वध हो सकता था। अतः देवों ने काम को भेजा, जो शिव जी के मन में क्षोभ उत्पन्न कर सके। पर काम पर शिव जी की विजय हुई। फिर एक बार सप्त ऋषियों ने पार्वती की थाह ली—

कहा हमार न सुनेहु तब नारद कें उपदेसु।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ कामु महेसु॥

पर पार्वती अपने निश्चय पर दृढ़ रहीं। विवाह सम्पन्न हुआ। पुत्र का जन्म हुआ। 'षट वदन' ने तारकासुर का वध किया। इस प्रकार पार्वती वीर-गर्भा हुईं।

किन्तु पार्वती की व्यक्तिगत साधना तो उस गूढ़ ज्ञान की प्राप्ति के लिए थी, जिसके धनी शिव थे और जिसके अभाव में सती को इतना कष्ट सहना पड़ा था। सती के संशय का आधार ही इस आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव था। शिव जी ने जब पार्वती को पूर्ण रूपेण पत्नी के रूप में गृहण किया और पत्नी के रूप में उनका आदर किया—

जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा।
बाम भागु आसनु हर दीन्हा॥

तब वही पुरानी प्रश्नावली व्यक्त हुई :—

जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

सती के जीवन की घटना को याद करके उनके हृदय में भय भी था : क्योंकि, 'पूरब जनम कथा चित आई।' अतः शिव से प्रार्थना करती है :—

अग्य जानि रिस उर जनि धरहू।
जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू॥

फिर पार्वती के मस्तिष्क में आया कि नारी तो तत्त्व-ज्ञान की अधिकारिणी नहीं है—

जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।

तब समस्या का हल क्या है ? पार्वती ने कहा : एक तो मैं तुम्हारी दासी हूँ। दूसरे आर्त हूँ। इसलिए आप मुझे वह ज्ञान बताइये।

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं।
आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

इस प्रकार पार्वती ने शिव जी को प्रेरणा दी कि वे उस ज्ञान को अवश्य व्यक्त करें जिसके कहने-सुनने से सबका कल्याण होता है। यह धरातल प्रस्तुत हो जाना चाहिए जहाँ अधिकार-अनधिकार, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष का भेद भाव नष्ट हो जाय और सर्व-कल्याण की दृष्टि प्रमुख हो जाय। शिव जी ने इसी भूमिका को समझ कर पार्वती से कहा—

तदपि असंका कीन्हिउ सोई।
कहत सुनत सब कर हित होई।

तुलसी की सबसे बड़ी देन इस धरातल को प्रस्तुत कर देना ही है। उनका काव्य भी 'सब कर हित होई' के सिद्धान्त से अनुप्राणित है। उनका भक्ति-दर्शन भी इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। पार्वती तथा अन्य स्त्रियों को इसी भक्ति-दर्शन-ज्ञान का अधिकारी ठहराया गया है। इसी भक्ति को लेकर शबरी जैसी अधम नारियाँ भी मुक्त हुईं।

पार्वती का व्यक्तित्व सीता से भी अधिक उभरा है। बाल रूप में उपयुक्त पति के लिए साधिका के रूप में, विवाहित जीवन में पतिव्रत में दृढ़ तथा वीर-माता के रूप में पार्वती पूज्य हो गईं।

यह नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व है जो पूज्य है, आदर्श है, अनुकरणीय है :—

जय जय जय गिरिराज किसोरी।
जय महेस मुख चन्द्र चकोरी॥

जय गज बदन षड़ानन माता।
जगत जननि दामिनि दुतिगाता॥

अन्त में हम कह सकते हैं कि तुलसी ने नारी के चरित्र-चित्रण में उसके साथ पूर्ण न्याय किया है। वस्तुपरकता के प्रभाव से चाहे शास्त्र और लोक की अनुज्ञा से नारी के संबंध में प्रचलित उक्तियों का उपयोग तुलसी ने कर लिया हो, पर उनकी प्रतिभा ने नारी के चित्रण में उसके साथ पूर्ण न्याय दृष्टि रखी है।

कैकेयी : यह तो रहा उच्च आदर्श वाली नारियों के चरित्र की बात। कैकेयी के चरित्र-चित्रण में तुलसी ने न्याय की पूर्ण दृष्टि रखी है। सबसे पहले तो देवों के षड्यंत्र की भूमिका है : वे विघ्न होने की कामना करते हैं :—

बिधन मनावहिं देव कुचाली।

कैकेयी का प्रेम राम तथा अन्य पुत्रों पर इतना था कि उस पर देव-प्रेरित शारदा का भी वश नहीं चला। मंथरा को वह 'अजसपिटारी' बना सकी। मंथरा के फुसलाने पर कैकेयी का आदर्श छटपटाने लगा। वह आदर्श इस प्रकार चीखने लगा :—

प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरे।
तिनके तिलक छोभु कस तोरे॥

पर मंथरा ने नारी के यथार्थ हृदय का स्पर्श किया। प्रेम की प्रतियोगिता में नारी अपने उग्रतम रूप में रहती है। सौतिया डाह इसी का परिणाम है। मंथरा ने सौत के अस्तित्व की ओर उसका ध्यान खींचा :—

जब तुम्हारि चह सवति उखारी।
रूँधेउ करि उपाउ बर बारी॥

फिर उसके मातृत्व का स्पर्श किया। उसके पुत्र के विरुद्ध यह षड्यंत्र है कि भरत को ननसाल भेज दिया गया है :—

पठए भरत भूप ननि अउरे।
राम मातु मत जानव रउरे॥

इस समस्त भूमिका के साथ एक नारी को मंथरा के कथनों पर सहज रूप से विश्वास हो जाना स्वाभाविक था। पर तुलसी ने कैकेयी की यहाँ भी रक्षा की : उसको भावी (विधि-विधान) से प्रभावित चित्रित किया गया है :—

भावी वस प्रतीति उर आई।

और सौतिया डाह अपने प्रबलतम रूप में कैकेयी के मन में समा जाता है :—

नैहर जनमु भरब बरु जाई।
जिअत न करति सवति सेवकाई॥

जब एक बार कैकेयी अपना कर्म-पथ निश्चित कर चुकी तब वह विचलित नहीं हो सकती थी। इस प्रकार तुलसी ने अधम पात्रों के प्रति भी पूर्ण न्याय किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष के चरित्र चित्रण में चाहे कुछ शिथिलता कवि दिखा दे, पर नारी के चित्रण में वह अत्यन्त सावधान और सतर्क रहता है।

राक्षस नारियों तक का चित्रण भव्य है। मन्दोदरी और तारा की भव्यता राम के संबंध के कारण भी हो सकती है। पर उनकी दूरदर्शिता और नीतिपरायणता भी उपेक्षा की वस्तु नहीं है। इनके अतिरिक्त लंकिनी का चरित्र भी उच्च है। पुरुष पतित होकर राक्षस बन सकता है, पर नारी राक्षसी नहीं हो सकती। जलंधर ने समस्त देवों को पराजित कर दिया था। किन्तु उसके पास ऐसा कौनसा बल था जिसके कारण वह देवताओं से भी अवध्य था ? तुलसी ने उसका बल उसकी नारी का सतीत्व बताया है :—

परम सती असुराधिप नारी।
तेहिं बल ताहि न जितहिं पुरारी।

तब देवताओं ने उसका सतीत्व छलपूर्वक नष्ट किया :—

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥

राक्षस नारी में भी सतीत्व का बल हो सकता है। वह भी पतिव्रता हो सकती है।

'मानस' में नारी के लगभग समस्त वर्गों को प्रतिनिधित्व मिला है। गार्गी की परम्परा में अनुसूया दीखती है। अधम नारियों का प्रतिनिधित्व शबरी करती है। मन्द मति मंथरा है। यथार्थ नारी कैकेयी है। दिव्य आदर्श से युक्त सीता, पार्वती और सती हैं। राक्षस नारियाँ भी हैं। ग्राम वधूटियों की छटा भी अनुपम है। और यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वर्ग की नारी का चित्रण तुलसी ने न्यायपूर्वक किया है और सबके व्यक्तित्व मुखरित और स्वतंत्र हैं।

[६]

एक लोक नायक के रूप में तुलसी ने नारी समस्या का समाधान भी दिया है। भगवान् बुद्ध ने अपने दर्शन में ऊँच-नीच और नारी-पुरुष के भेद को मिटाया था। अतः वे लोकनायक बने। तुलसी के भक्ति-पथ में भी यह भेद-भाव शेष नहीं रह जाता। जब शबरी कहती है—

अधम ते अधम अधम अतिनारी,
तिन्ह महँ मैं मति मंद अघारी।

तब राम उत्तर देते हैं—

जाति पाँति कुल-धर्म बड़ाई,
धन बल परिजन गुन चतुराई।
भगति हीन नर सोहइ कैसा,
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।

और 'मानउँ एक भगति करनाता' कह कर नारी को भक्ति-पथ का अनुसरण करने के लिए अधिकारिणी माना। राम अपने मुख से नवधा-भक्ति का उपदेश उसे देते हैं। यह भक्ति योगियों के योग और ज्ञानियों के ज्ञान के समान है। इस के आधार से नारी को मोक्ष मिल सकती है—

जोगि बृन्द दुरलभ गति जोई,
तो कहुं आजु सुलभ भइ सोई।

इस प्रकार नारी की ज्ञान, भक्ति और मुक्ति की समस्या को तुलसी ने लोक-धरातल पर सुलझाया। भक्ति एक प्रकार से नारी की ही साधना का परिणाम है। पार्वती की साधना इसी भक्ति के लिए थी।

दूसरा प्रश्न नारी की स्वाधीनता का है। नारी के किसी निगूढ़ कोने में अधीनता के प्रति एक मूक क्रान्ति छिपी हुई है। इस क्रान्ति की कुछ अभिव्यक्ति तुलसी में मिलती है। पार्वती की माता पार्वती की विदाई के समय कहती है—

कत विधि सृजीं नारि जग माहीं,
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।

नारी को जैसे विधाता ने पराधीन रहने के लिए ही उत्पन्न किया था। पराधीन केलिए सुखकहाँ! नारी के मानस की स्वतंत्रता के लिए क्रान्ति की ध्वनि विकसित वर्गों में तर्क के सहारे व्यक्त होती है ; इससे क्रान्ति का नहीं सघर्ष का रूप खड़ा होता है। लोक-मानस में यह ध्वनि भाव से चिपकी रहती है। पुत्री की विदाई जैसे मार्मिक स्थलों पर वह अभिव्यक्त हो जाती है। शास्त्रीय या वर्गीय कवि जन-मन की क्रान्ति के इस रूप की ओर ध्यान नहीं देता। पर तुलसी की दृष्टि इसे भी देख सकी। सीता की माता भी कुछ इसी प्रकार की बात कहती है—

बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी,
कहहिं विरंचि रचीं कत नारी।

इस प्रकार नारी अपनी यथार्थ स्थिति से विज्ञ है। शास्त्र इसी पराधीनता को पतिव्रत बना देता है। कवि ने दाम्पत्य जीवन की मोहक झांकी में पराधीनता की कटुता को समाप्त कर दिया है।

काम के क्षेत्र में पुरुषों और नारियों को तुलसी ने समान रखा है। एक ओर वे नारी को कामान्धता में भ्राता, पिता, पुत्र आदि के विवेक से शून्य होना बताते हैं, तो दूसरी ओर—

नहिं देखहिं कोइ अनुजा-तनुजा।

पुरुष भी कामांधता में बहन और पुत्री के विवेक से शून्य हो जाता है। काम के विस्तार के समय भी यह समानता रखी जाती है—

अबला बिलोकहिं पुरुषमय,
जग पुरुष सब अबलामयं!

इस क्षेत्र में नर को कवि नारी के अधीन पाता है। नारी काम की शक्ति से पुरुष पर शासन करती है—

नारि बिवस नर सकल गुसाँई,
नाचहिं नट-मर्कक की नाँई।

नारी का यदि पतन चित्रित किया गया है—

गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी,
भजहिं नारि पर-पुरुष अभागी।

तो पुरुष का पतन भी इसी प्रकार दिखाया गया है—

कुलवंति निकारहिं नारि सती,
गृह आनहिं चेरि निवेरि गती।

इस प्रकार तुलसी ने पुरुष और नारी संबंधी विचारधाराओं में कहीं भी संतुलन को शिथिल नहीं होने दिया है।

जहाँ तक सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, तुलसी ने वहाँ भी नारी को समान धरातल पर रखा है। जनक पुर में धनुषयज्ञ हो रहा है। वहाँ नारी को भी बैठने का अधिकार था। जनक की आज्ञा से नर और नारी दोनों वर्गों को ससम्मान यथास्थान बैठाया गया—

कहि मृदु वचन बिनीत तिन्ह बैठारे नरनारि,

रामराज्य में चतुरता और शिक्षा की दृष्टि से नर नारी समान थे—

नर अस नारि चतुर सब गुनी।

पुरुष एक नारीव्रत का पालन करते थे और नारी पतिव्रत धर्म का पालन करती थी—

एक नारिव्रत रत सब झारी,
ते मन-बच क्रम पति हितकारी।

इस प्रकार नर और नारी को प्रत्येक क्षेत्र में समान और निष्पक्ष दृष्टि से चित्रित किया गया है। सभी कर्तव्य पालन के द्वारा अपने कल्याण-मार्ग को प्रशस्त कर सकते हैं। यही तुलसी का लोक नायकत्व है।

उपसंहार

[१]

'तुलसी' पर बहुत लिखा गया है। इतना लिखा गया है, जितना सम्भवतः हिन्दी के किसी कवि पर नहीं लिखा गया। लगभग एक सौ छप्पन पुस्तकों का पता लग चुका है जो विविधि विद्वानों द्वारा, समय समय पर, तुलसी की कृतियों के आधार पर लिखी गई हैं। इन पुस्तकों में अधिकांश टीकाएँ हैं। कुछ पुस्तकें तुलसी के काव्यांगों पर प्रकाश डालती हैं। कुछ में तुलसी के ग्रंथों का दार्शनिक परिशीलन किया गया है। किन्तु, इतना कुछ होते हुए भी, लगता है कि तुलसी पर जितना लिखा जाना चाहिए था, उतना नहीं लिखा गया। उनके काव्य का मूल्यांकन पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। उनके सन्देश का महत्व आँकने में अभी कमी है। किसी भी महाकवि के विषय में इस प्रकार का विचार रखना उन्नति और प्रगति का द्योतक है। वस्तुतः 'तुलसी' का अध्ययन करने की वर्तमान प्रणाली कुछ रूढ़ सी हो चली है। तुलसी की दार्शनिकता पर प्रकाश डालने वाले मुख्य स्तम्भ हैं: बाबा रामचरणदास की टीका, श्री रामदास गौड़ की 'मानस की भूमिका' पं० रामचन्द्र शुक्ल के तुलसी विषयक निबन्ध, तथा डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का 'तुलसी दर्शन'। किन्तु इन सभी ग्रंथों में जो दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है उसकी अपनी कुछ रूढ़ सीमाएँ हैं। अध्ययन मे वह प्रगतिशीलता नहीं, जिस प्रगति के साथ बंगालियों ने रवीन्द्र का अध्ययन किया और विश्व कवि बना दिया; जिस जीवट से शेक्सपीयर का अध्ययन किया गया, कि शताब्दियों से उसकी अर्चना हो रही है। वह प्रगति, जीवट और दृष्टिकोण की विशदता तुलसी के अध्ययन में नहीं दृष्टिगत होती। इसका कारण हो सकता है: समीक्षकों में

आत्म-विश्वास की कमी । यह कमी हिन्दी प्रेम का अभाव है । क्यों अब 'तुलसी' फिर से अवतार नहीं लेते ? कारण कुछ हो, पर समीक्षकों का आत्म-विश्वास साहित्य की प्रगति में एक बहुत बड़ा तत्व होता है। आधुनिक विज्ञान कितनी ही नवीन दृष्टियाँ लिए खड़ा है। समाज विधान सामने है; कहता है, साहित्य को मानव, समाज और संस्कृति से अलग करके न देखो, संस्कृति का अध्ययन साहित्य के माध्यम से ही हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीयता के स्वप्न की स्वर्णिम झलक देखनी हो, तो तुलसी, रवीन्द्र, और शेक्सपियर का फिर से अध्ययन करो। देखो, यहाँ कहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता की बिखरी कड़ी होगी। मनोविज्ञान ने एक प्रणाली दी है। लोक-मानस का प्रतिबिम्ब देखना है तो साहित्य-'मानस' में झाँको। आवश्यकता है कि आज इन समस्त नवीन दृष्टियों से साहित्य का परिशीलन हो। 'तुलसी' के अध्ययन में भी इसी विशद व्यापक, और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लेना है।

हाँ तो तुलसी स्वयं अपने आप में एक संस्था थे। इस लोक-नायक के आँखों में 'रामराज्य' का मंगलमय स्वप्न झूल उठा था। उसके निर्देश पर लोक में एक सृजनात्मक हलचल हो उठी थी। युग के साथ रख कर देखने पर दीखता है कि तुलसी लोक में प्रतिच्छायित हैं और लोक तुलसी में। 'तुलसी' मध्यकालीन भारत के सबसे बड़े लोक-नायक थे। क्यों ? "भारतवर्ष का लोक-नायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्यों कि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ आचार-निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्ध देव समन्वय कारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है। और तुलसीदास भी समन्वय कारी थे +" तुलसी का समन्वय लोक मनोभूमि के आधार पर हुआ। गीता का समन्वय दार्शनिक तथा तात्विक समन्वय था। भगवान् बुद्ध ने करुणा की एक कड़ी से पीड़ित जगत को समन्वित किया। तुलसी का समन्वय निराला था। न तो यह तुलसी-समन्वय, गीता की भाँति, दार्शनिक तथा तात्विक धरातल पर हुआ और न इसने बुद्ध की भाँति, उच्च दार्शनिक धाराओं से विमुख हो लोक समन्वय की चेष्टा की। 'तुलसी' ने 'लोक' को दृष्टि में रखा, किन्तु उच्च दार्शनिक धाराओं की भी उपेक्षा नहीं की। लगभग समस्त प्रमुख भारतीय

दर्शन स्रोत तुलसी के एक इंगित पर लोकोन्मुख हो गये। इस समन्वय का बाहरी ढाँचा कुछ विचित्र ही है। पहले पहल एक 'मानसरोवर' दीखती है। वहाँ—

'मेधा महिगत सो जल पावत'

उस 'अगाध हृदय में, इतना शीतल, सुखद, मधुर और लोक-मंगलकारी जल कहाँ से आया ?

'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू, वेद पुरान उदधि घन साधू।
बरषहिं राम सुजस बर बारी, मधुर मनोहर मंगल कारी॥

इस प्रकार का जल—

'मेधा महिगत सोजल पावन, सकिलि स्रवन मग चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना, सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥

इस प्रकार 'मानस' राम-यश के जल से तरंगित हो उठा। वेद-पुराणों रूपी बादलों ने उस जल की वर्षा की थी। यह समन्वय दर्शनों का समन्वय नहीं, लोक और दर्शन का समन्वय है। इस समन्वित जल को प्राप्त करने के लिए चार घाट हैं। किसी भी घाट से उतरिये, आप पहुँचेंगे 'मानस' के समन्वय तक ही। घाट कौन-कौन से हैं—

सुठि सुन्दर संवादवर विरचेउ बुद्धि विचारि,
तेहि इहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि।

इन चार 'संवादों' की योजना बहुत ही सजीव है। प्रत्येक वर्ग के मनुष्य आकर किसी भी घाट से उतर कर 'राम-सीय जस सलिल सुधासम' प्राप्त कर सकते हैं। याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद घाट कर्मकांड का घाट माना गया है। शिव पार्वती संवाद ज्ञान-घाट है ! भुसुंडि गरुड़-संवाद भक्ति घाट का प्रतीक है। इस घाट पर भक्ति का प्रतिपादन है। चौथा घाट गोस्वामी जी का है। इसे दीनता घाट कहते हैं। इस प्रकार विविध मार्गों से उसी समन्वित जल तक पहुंचा जा सकता है। इन चारों घाटों में से प्रथम दो तो समाज के विशिष्ट वर्ग के लिए हैं। अन्तिम दो, साधारण जनता के लिए हैं। तुलसी के

+ हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १०३

समन्वय की ऐसी-कुछ योजना है कि इस मानस पर आकर किसी को निराश नहीं लौटना पड़ता लोक और वेद में कोई मौलिक अन्तर नहीं। चाहे इस संसार में मनुष्यों ने वर्ग-भेद के अनुसार उनमें भेद उत्पन्न कर दिया हो 'राम' के सामने दोनों ही एक हैं—

लोकहुँ वेद सुसाहिब रीती,
विनय सुनत पहिचानत प्रीती।

'राम' भगवान हैं। जनता को कबीर ने 'अलख' को दिखाने का प्रयत्न किया किन्तु वे असफल रहे। निर्गुण ज्ञान वादियों की सूक्ष्म बातें लोक न समझ सका। लोक, शून्य में आँख फाड़-फाड़ कर देख रहा था कि कहीं भगवान दीख जाँय। किन्तु दृष्टि भगवान की खोज में असफल रही। 'तुलसी' ने भगवान को मानव बना दिया है—

"भगत, भूमि, भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन................................

इस प्रकार राम को 'मनुज' रूप में जनता ने देख लिया। उसकी निराशा आशा में परिणत हो गई। किन्तु राम में ईश्वरत्व और मनुजत्व मिले हुए हैं। मानव के रूप में राम का अवतार अवश्य हुआ है किन्तु उसका ईश्वर रूप भी नहीं भूलना है। अनन्त ने सान्त रूप धारण किया है। 'राम' को मानव रूप में देखकर जनक की राज-सभा में मूर्ख राजा यह भी कहते हैं—

एक बार कालहु किन होऊ, सियहित समर जियब हम सोऊ।

तथा भले राजा राम को पहँचान कर यह भी कहते हैं—

जगत-पिता रघुपतिहिं विचारी,
भरि लोचन छवि लेहु निहारी।

इस मानव तन के माध्यम से जनता के समक्ष तुलसी दास जी परब्रह्म को उतार लाए। जो जनता अविश्वास के सागर में डूब-उतरा रही थी, उसे एक विश्वास का उत्स प्राप्त होगया। जनता ने संतोष की साँस ली। विश्वास जमाने के लिए एक दृढ़ धरातल बना कर तुलसीदास जी ने मानव के मन में आत्मविश्वास के बीज बोए।

[२]

मनुष्य का अपने ऊपर भी विश्वास नहीं था। तुलसी के पूर्व की कुछ शताब्दियों में योग की साधना ने युग के आकाश को आच्छादित कर लिया था। पतंजलि ने योग की परिभाषा दी थी : 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध' इस निरोध की आवश्यकता इसलिए थी कि योगी परम 'पुरुष' को पहँचान सकें। इसमें आसनादि साधनों की आवश्यकता बताई गई थी, किन्तु इनको प्रधानता नहीं दी गई थी। योग सूत्र में बताया गया था, जिस प्रकार बैठने पर स्थिरता मालूम हो और आराम मिले वही आसन है। + किन्तु हठयोगियों ने इन्हीं आसन प्राणायाम आदि को प्रधानता दे दी। ये सभी साधन जनता के लिए दुरूह ही थे। साथ ही इस प्रकार के उपदेश भी जनता में प्रचारित किए गए जिससे जनता का अपने पर से तथा संसार पर से विश्वास उठने लगा था। उसकी वाणी थी—

यह संसार कागद की पुड़िया,
बूँद परे गल जाना है।

और जनता अपने सम्मुख संसार की विचित्र अवस्था देख भी रही थी। चतुर्दिक आडंबर, अत्याचार, दुख, निराशा, दुराचार, और क्या था। ऐसी स्थिति थी—

नृप पाप परायन धर्म नहीं, करि दंड विडंब प्रजा नितहीं,
धनवंत कुलीन मलीन अपी, द्विज चिह्न जनेउ उघार तपी।
× × × ×
कलि बारहिं बार दुकाल परैं, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं।

ऐसी जटिल परिस्थितियों में आवश्यकता इस बात की थी कि लोक के खोये पुरुषार्थ को प्राप्त करने का मार्ग बताया जाय। वस्तुतः मनुष्य भी तुच्छ नहीं है, उसकी शक्ति अपार है। उसी के दुराचारों से यह दशा हो गयी है। और वह चाहे तो इसी संसार को सुखी भी बना सकता है। वह यहीं स्वर्ग उतार सकता है। तुलसी ने 'मानव' का महत्व और मूल्य बताया—

+ 'स्थिर सुखमासनम्' (२।४६ सू०)

'नरतन सम नहिं कवनिउँ देही,
जीव चराचर जाचत जेही।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी,
ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी।

मानव जीवन ही स्वर्ग-अपवर्ग की निसेनी है। यही 'नरक' का रास्ता भ
बन सकता है। इस प्रकार के कथन के थपेड़े पाकर युग का सोया हुआ मानव
जागा होगा। उसके नवोन्मेष में तुलसी के मानस का बहुत बड़ा हाथ है। उस
समय मानव रूप भगवान की यह वाणी कानों में पड़ी—

यद्यपि सब वैकुंठ बखाना,
वेद पुरान विदित जग जाना।
अवध सरिस मोहि प्रियनहिं सोऊ,
यह रहस्य जानहि कोउ कोऊ।

यदि राम को वैकुंठ ही प्रिय होता तो इस 'अवध' में जन्म क्यों ग्रहण
करते। राष्ट्र और जन्मभूमि के प्रति प्रेम की ऐसी दृढ़ भावना उस युग की
वाणियों में नहीं मिलती। तुलसी इसीलिए महान् हैं। कि उन्होंने युग की
निराशा-निशा को आशा-उषा में परिणित कर दिया। जाग्रति का वह निर्घोष
किया जिससे इतने विशाल देश का एक एक तार झनझना उठा। आज उस
अवस्था की कल्पना से ही रोमांच होता है, जो हुई होती 'जौ पै तुलसी न
गावतो'।यह सब धर्म और दर्शन के समन्वित रूप भक्ति मार्ग की योजना तुलसी
ने लोक-कल्याण की दृष्टि से किया।

[३]

अब तुलसी के मर्यादावाद पर कुछ कहना है।

तुलसी से पूर्व देश में, प्रधानतः हिन्दी के क्षेत्र में, मानसिक वृत्तियों की
कुंठा का युग था। 'योगश्चित्त वृत्ति निरोध.' का ऊट पटाँग अर्थ बताकर
समस्त ऐन्द्रिक वासनाओं और इच्छाओं पर रोक लगाई जा रही थी। लोक
का उपचेतन इन कुंठाओं से भर गया : चित्त की चंचल वृत्तियाँ किसी प्रकार
अपनी अभिव्यक्ति के लिए उत्कंठित थीं किन्तु कोई मार्ग नहीं था, जिससे चित्त
की कुंठित इच्छाएँ अपना प्रकाशन कर सकें।

प्रत्येक आने वाला युग अपने से पूर्व के युग के अभावों की पूर्ति करने की चेष्टा करता है। यह समाजमनोविज्ञान का सत्य है कि एक युग की कुंठित इच्छाएँ आगे के युग में अपने प्रकाशन का माध्यम ढूँढ लेती हैं। कबीर आदि के युग में ही अनेक योग-सम्प्रदाय अवपतित होकर व्यभिचार में डूब गये थे; अभिचार, तंत्र और मत्रों की ओट में नग्न वासना-नृत्य होता था। यह अवपतित अवस्था भी कुंठा का ही परिणाम होती है। बंगाल, बिहार आदि पूर्वी प्रदेशों में सम्प्रदायों के ये अवपतित रूप अपना स्थान बना रहे थे। इन सभी सम्प्रदायों को हम कुंठित कामनाओं से पूर्ण अवचेतन-मस्तिष्क का विद्रोह कह सकते हैं।

इस युग के आगे के युग के वैष्णव भक्त कवियों ने इन कुंठित-चित्त वृत्तियों को उदात्तीकृत करने का एक मार्ग निकाला। यदि 'आँखें किसी सुन्दर रूप को देखना ही चाहती हैं, तो कृष्ण-राधा के सौन्दर्य को देखें; कामेच्छा है तो कृष्ण से परकीया प्रेम रखा जा सकता है; कानों की वासना शान्त नहीं होती, तो मुरली का नाद सुने। यह मार्ग न तो चित्त-वृत्तियों की हत्या को लक्ष्य कर रहा था और न इन वृत्तियों का दास होकर पतन-गर्त की ओर बढ़ा जा रहा था। सभी वृत्तियों का उदात्तीकरण करके, उनको भगवान की ओर उन्मुख कर देने की बात थी। साहित्य में इस प्रकार के उदात्तीकरण (Sublimation) के प्रवर्तक जयदेव कहे जा सकते हैं। 'गीत-गोविन्द' में इसी ओर संकेत है। इसी रचना को आदर्श मान कर विद्यापति और चंडीदास का साहित्य आया। चैतन्य महाप्रभु ने इस साहित्य को स्वीकार करके, इन रचनाओं को अपनी रागानुगा भक्ति का आदर्श मान लिया। इस प्रकार समस्त पूर्वी प्रदेशों में इस प्रकार की रचनाओं और परकीया पर आधारित भक्ति का एक सागर सा उमड़ पड़ा। वल्लभाचार्य जी ने व्रज में भी इसी प्रकार चित्त की समस्त वृत्तियों को कृष्णोन्मुख करने का आदेश दिया: भक्तों की वीणा में यह सदेश झंकार की तरह भर उठा। व्रज में ही नहीं, यह झंकार गुजरात तक झंकृत हो उठी, इस प्रकार देश में चित्त-वृत्तियों के उदात्तीकरण (Sublimation) पर आधारित भक्ति सम्प्रदाय यहाँ से वहाँ तक फैल गये। ये भक्त

लोग सम्भवतः यह भूल गये कि 'लोक' का मन फिसल भी जाता है, उनके आदर्श परकीया प्रेम लोक के क्षेत्र में विषैले बीज भी बो सकता है और सम्भवः हुआ भी यही। राधा-कृष्ण साधारण नायक नायिका बन गये। भगवान वेद व्यास ने इन लीलाओं को समाधि भाषा कह कर कुछ अधिकारियों तक सीमित रखा था। अब लोक-भाषाओं का सहारा पाकर परकीया-भाव युक्त राधा-कृष्ण की लीलाओं ने लोक की ओर बढ़ना आरम्भ किया। इसी समय अनजान में वे बीज बो दिए गये जो रीतिकाल में जाकर विष-वृक्ष बन कर फैल गये।

इस परकीया-भाव-युक्त रागानुगा भक्ति में लोक मर्यादा, वेद मर्यादा, कुल मर्यादा—सब का तिरस्कार था। सभी गोस्वामी बालक कृष्ण के अवतार समझे जाने लगे और उनके सभी शिष्य परकीया भाव से उनका अनुसरण करते थे। अतः इन सम्प्रदायों की धारा आगे चल कर कलुषित हो जायगी, ऐसी सम्भावना होने लगी। लोक को अपनी कुंठित चित्त-वृत्तियों का उदात्तीकरण देख कर इतना संतोष नहीं हुआ था, जितना कि लोक-मर्यादाओं को ढ़हते देख कर उसे क्षोभ हुआ।

राधा कृष्ण को आश्रय-अवलंब मान कर यह व्यापार आरम्भ हुआ था। किन्तु इस परकीया-परक, लचीली भावनाओं से पूर्ण साहित्य की लोक-प्रियता इतनी बढ़ी कि अन्य सम्प्रदायों ने भी इस धारा को अपनाना आरम्भ किया। राधा कृष्ण का स्थान सीता-राम, तथा शिवा-शिव लेने लगे। विद्यापति ने इन्हीं लचीली भावनाओं का आरोप शिव-पार्वती पर कर ही दिया था। राम शाखा में भी राधा-कृष्ण के स्थान पर सीता-राम को नायक-नायिका मान कर इसी प्रकार की उद्भावनाएँ की जाने लगीं। जयदेव के गीत गोविन्द के अनुकरण पर, सीता-राम-कथा पर परकीया-भाव का आरोप करने की प्रवृत्ति की परम्परा में निम्न लिखित ग्रंथ देखे जा सकते हैं‡ :—

‡ V. W. Karambelkar, "Three More Imitation's of Gitgovinda"

—Indian Historical Quarterly, June 1949

(२) 'गीत राघव'	...	रचयिता—प्रभाकर।
(२) ,,	...	,, —राम कवि।
(३) ,,	..	,, —हरिशंकर।
(४) संगीत राघव	...	,, —चिन्नबोम्मभू पाल।
(५) संगीत रघुनन्दन	..	,, —विश्वनाथ।

हो सकता है कि इनमें से कुछ ग्रंथ तुलसी के पीछे के हों। किन्तु यहाँ तो यह दिखाना अभिप्रेत है कि राम-सीता को लेकर गीत गोविन्द के अनुकरण पर कुछ रचनाएँ हो रही थीं। सीता-राम गाथा सदा से मर्यादा की रक्षा करती आई है। यह शाखा भी परकीया भाव में अपनी मर्यादाओं को डुबोने लगी थी।

उसी समय तुलसी लोक नायक के रूप में लोक के क्षेत्र में उतर पड़े। राम कथा को विस्मृत करने की प्रेरणा कबीर आदि दे चुके थे। वे जिस 'राम' की बात कहते थे, वे 'राम' राम कथा के नायक राम नहीं थे। तुलसी ने इस धूल में पड़ी हुई, विस्मृत सी राम-कथा को उठाया, उसके मर्यादा-मूलक मूल्यों को निखार कर चमकाया और कुछ नये सजीव मूल्य उसमें जोड़ कर, राम-कथा का भव्य रूप लोक के मन में प्रतिष्ठित किया। 'लोक' ने 'राम' को पाया : राम-कथा के साथ एक अलौकिक इतिहास पाया : और पायी अपनी अनेक लोक मर्यादाओं को जो वासना गर्त की ओर फिसलती हुई चली जा रही थीं। इस प्रकार तुलसी ने लोक नायक की भाँति लौकिक तथा वैदिक मर्यादाओं तथा मूल्यों का समन्वित रूप फिर लोक को दिया। तुलसी ने जिस मृदु रीति से मर्यादाओं की फिर से स्थापना करदी, उसे युग कभी भुला न सकेगा।

[४]

अन्त में तुलसी के एक महान् संदेश पर दो शब्द कह कर लेख समाप्त कर दिया जायगा, पर तुलसी के विषय में जितना कहना है, सम्भवत वह पूरा न हो पायगा

तुलसी ने इस जगत को, अपने युग को अंधकार से आच्छन्न देखा। चतुर्दिक अशिव, असत्य, और असौन्दर्य का अन्धकार छाया हुआ। वह अन्धकार ही घनीभूत होकर राक्षसों की मानो सेना बन गया था, किन्तु प्रकाश की आशा अब भी छिपी थी—एक दिन वही आशा-किरण 'सूर्य-वंश' के सार राम के रूप में अवतरित हुई और अन्धकार को हटा दिया।

रावण : कल्पना कितनी भयंकर थी। वह मायावी से रक्त-कर वसूल करने वाला, आततायी, सुरारि, अत्याचारी, सीता का अपहरण-कर्ता—जितना भी सोचिए उसकी भयंकरता गहन से गहनतर होती जायगी। उस मायावी राक्षस के अन्तर में भी 'तुलसी' को एक प्रकाश की रेखा दीख जाती है। रावण की विचार धारा सीता-हरण से पूर्व देखिए :—

'सुर रजन भंजन महि भारा। जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा॥
तव मैं जाइ बयरु हठि करहूँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥

रावण की बाह्य भयकरता से हृदय और बुद्धि की इस उज्ज्वलता को मिलाइये। इतने विपर्यान्वयों का समन्वय तुलसी ही कर सकते थे। कलाकार की पूर्ण सफलता इसी प्रकार के चित्रों में दीखती है। 'मारीचि' के हृदय-भाव भी अधिक भक्ति-भाव पूर्ण हैं, जब वह 'कपट-मृग' बन कर राम को छलने की दृष्टि से चलता है, तब उसकी अन्तर्धारा की लहरी की कलकल कितनी मधुर है :—

"मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकि हौं, धन्य न मो सम आन।

बार बार फिर-फिर कर देखने की भावना कितनी भक्ति और मधुरिमा से पूर्ण है। उस पर्वताकार, सुरापायी, महिष-भक्षी, कुंभकर्ण को तो विश्वास ही था कि राम परमब्रह्म परमेश्वर है। इसीलिए वह रावण से कहता है—

'श्यामगात सरसीरुह लोचन,
देखौं जाइ ताप-त्रय मोचन।

इस प्रकार राक्षसों में भी भक्ति की रेखा अवश्य है। किन्तु वह भक्ति उनकी असुर-प्रवृत्ति से पराजित है। फिर भी उनका लक्ष्य भी भक्त का सा ही । उनको भी मोक्ष ही मिलेगी, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है। इन राक्षसों के अन्त.करण का संघर्ष तुलसी ने चित्रित करके यह दिखाना चाहा है कि कोई कितना ही पतित, अथवा दुष्टात्मा हो, उसके भीतर एक सत्य-शिव की रेखा खचित रहती है। इन चित्रणों से 'लोक' के मन में अगाध विश्वास और आशा का संचार होता है। इन प्रकाश-रेखाओं को संकलित करके अंधकार को हटाया जा सकता है। कलाकार का लोक के लिए यही महान् संदेश है कि विषमताओं के बीच ही समत्व का आदर्श खड़ा होता है : अंधकार के बीच ही दीपक का प्रकाश होता है। जीवन अंधकार और प्रकाश का सतत संघर्ष है, उसमें प्रकाश को विजयी बनाना है, किसी पापी को सुधारा भी जा सकता है यदि उसके अन्तर में खचित प्रकाश की रेखा को तीव्र कर दिया जाय।